एन०—३२४८६/७८

वास्तविक भारत बना
करके उन्हें पुनर्जीवित
— महात्मा गांधी

व्यक्ति से नहीं, बल्कि
० दीनदयाल उपाध्याय

है, वह वाणीविहीन है
ा है।"
निदेशक एफ० ए० ओ०

-१९८०
९८०

अभियान

संस्थान,
र्थ नगर,
५५

दी० शो०सं०) द्वारा
००५५ में मुद्रित।

मंथन

विशेषांक
१९८०

दीनदयाल शोध संस्थान की पत्रिका

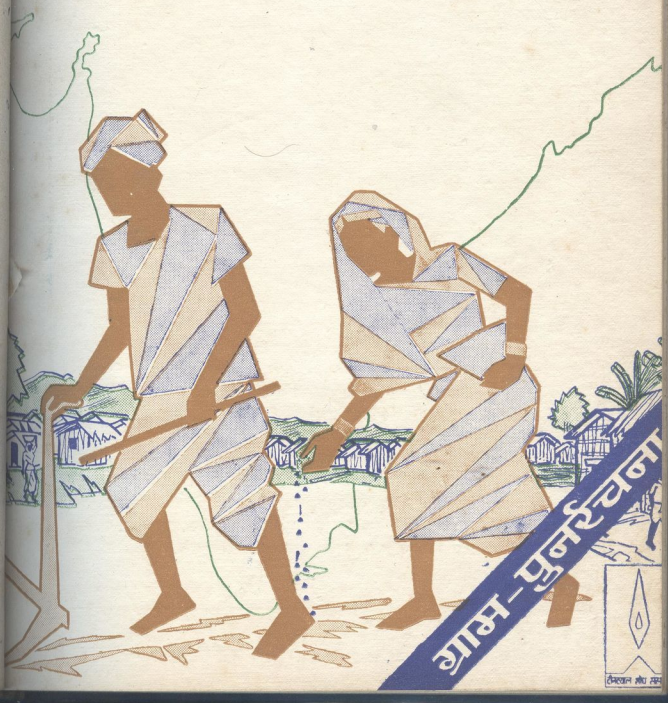

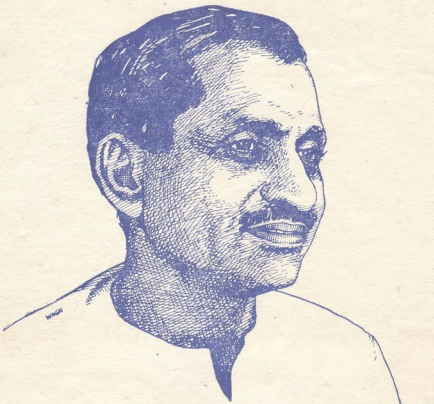

आर्थिक योजनाओं तथा आर्थिक प्रगति का माप समाज के ऊपर की सीढ़ी पर पहुंचे व्यक्ति से नहीं, बल्कि सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा। आज देश में ऐसे करोड़ों मानव हैं, जो मानव के किसी भी अधिकार का उपयोग नहीं कर पाते। वहीं 'मैले-कुचैले अनपढ़, मूर्ख' लोग हमारे नारायण हैं। हमें इनकी पूजा करनी है। यह हमारा सामाजिक एवं मानव धर्म है। जिस दिन इनको पक्के, सुन्दर सभ्य घर बनाकर देंगे, जिस दिन हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा और जीवन दर्शन का ज्ञान देंगे, जिस दिन हम इनके हाथ और पांवों की बिवाइयों को भरेंगे और जिस दिन इनको उद्योगों और धन्धों की शिक्षा देकर इनकी आय को ऊंचा उठा देंगे, उसी दिन हमारा भ्रातृभाव प्रकट होगा। ग्रामों में, जहां समय अचल खड़ा है, जहां माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ हैं, वहां, जब तक हम आशा और पुरुषार्थ का सन्देश नहीं पहुंचा पायेंगे, तब तक हम राष्ट्र के चैतन्य को जागृत नहीं कर सकेंगे। हमारी श्रद्धा का केन्द्र, आराध्य और उपास्य, हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मानदण्ड वह मानव होगा, जो आज शब्दशः "अनिकेत" और "अपरिग्रही" हैं।

दीनदयाल उपाध्याय

स्थान प्रदत्त

मंथन

दीनदयाल शोध संस्थान की पत्रिका

ग्राम-पुनर्रचना
विशेषांक
१९८०

वर्ष ३ निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः (श्रीमद्भागवत ८-६-२३) अंक २

प्रकाशक :
दीनदयाल शोध संस्थान

अध्यक्ष :
नाना देशमुख

सचिव :
डा. जे. के. जैन

निदेशक :
पी. परमेश्वरन्

मुख्याधिष्ठाता :
आनन्द आदीश

प्रकाशन-प्रबन्धक :
डा. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल

कार्यालय :
७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर
नई दिल्ली-११००५५
दूरभाष : ५२६७३५
५२६७९२

शुल्क

एक प्रति	५.०० रु.
वार्षिक (भारत, पाकिस्तान, श्री लंका, बंगला-देश तथा बर्मा)	२०.०० रु.
वार्षिक (एशिया. अफ्रीका, यूरोप-हवाई डाक से)	£ ७.००
वार्षिक (अमेरिका, कनाडा, लैटिन अमेरिका-हवाई डाक से)	$ १३.००
विशेषांक प्रति	२०.०० रु.

सम्पादकीय परामर्शदातृ-मंडल
प्रो. वी. एम. दाण्डेकर
डा. आर. आर. दिवाकर
डा. एल. एम. सिघवी
डा. बी. पी. वर्मा
डा. टी. एम. पी. महादेवन्
डा. शिशिर कुमार घोष
श्री जैनेन्द्र कुमार
प्रो. खलील अहमद निजामी
डा. डी. पी. सिंघल
श्री डी. बी. ठेंगड़ी
प्रो. के. आर. श्रीनिवास आयंगर
डा. एस. भगवन्तम्
श्री यादव राव

सम्पादक
देवेन्द्र स्वरूप (हिन्दी)
पी. परमेश्वरन् (अंग्रेजी)

विशेषांक का सम्पादक मंडल
देवेन्द्र स्वरूप
महावीरदत्त गिरि
रजत शर्मा

मुख पृष्ठ सज्जा :
सूरजनारायण लाल

मुद्रक :
भारत मुद्रणालय
के-२० नवीन शहादरा,
दिल्ली-११००३२

मुखपृष्ठ मुद्रण :
कैक्स्टन प्रेस, नई दिल्ली-५५

इस अंक में

नाना देशमुख — यह विशेषांक क्यों ?

खण्ड – १
सभ्यता का संकट और सुनहरे भविष्य की खोज

महात्मा गांधी — १० गांधी ने भविष्य देख लिया था
राबर्ट एल० हेलब्रानर — ११ मानव का भविष्य क्या है ?
ई० एफ० शुमाखर — १५ शहरीकरण: क्यों और किधर ?
एम० वी० कामथ — १८ ऊर्जा का विकराल संकट
ई० एफ० शुमाखर — २३ तकनॉलॉजी ही व्यवस्था की जननी है
भरतन् कुमारप्पा — २५ पूंजीवाद, समाजवाद या ग्रामवाद
दत्तोपंत ठेंगड़ी — २९ भारतीय तकनॉलॉजी की आवश्यकता
विलियम इर्विन थाम्पसन — ३५ उज्जवल भविष्य की खोज

खण्ड - २
भारत में ग्राम पुनर्रचना

विवेकानन्द ने कहा था — ४४
संकलित — ४५ प्राचीन भारत में ग्राम
श्री अरविन्द — ४७ गांव और राष्ट्र
रवीन्द्र नाथ ठाकुर — ५१ ग्राम-पुनर्रचना के मेरे प्रयोग
दस्तावेज — ५५ गांधी-नेहरू पत्र व्यवहार
मा० स० गोलवलकर — ६१ समाज-रचना की आधार शिला : पंचायत
जयप्रकाश नारायण — ६३ राष्ट्र-निर्माण का मूल आधार : गांव
दीनदयाल उपाध्याय — ६९ विचारधारा, प्रौद्योगिकी और विकेन्द्रीकरण
एस० वी० पटवर्द्धन — ७१ ग्राम-विकास आयोजना के मूल तत्व
पी० परमेश्वरन् — ७५ एक नवीन "एकात्म-सभ्यता" की खोज

खण्ड - ३
ग्राम–पुनर्रचना : समस्याएं व निदान

सरदार पटेल — ८० स्वराज्य का आदर्श गांव
लक्ष्मीनारायण लाल — ८१ आज का (हमारा ?) गांव

दीनदयाल उपाध्याय	८५	कृषि-विकास, बिना मशीनीकरण के
युवेश चंद्र शर्मा	८६	उपयुक्त तकनॉलॉजी : क्या और क्यों ?
एल० सी० जैन	६५	ग्रामोभिमुख टैक्नॉलॉजी : नीति एवं परिणाम
जे० के० जैन	६६	जनसंख्या-नियोजन और ग्राम-पुनर्रचना
प्रबाल मैत्र	१०५	ग्राम-पंचायत : राजनीति की दलदल में
सुनील मान	१०६	ग्रामीण छात्र-युवा की मानसिकता
प्रभुदयाल अग्निहोत्री	१११	ग्रामोन्मुखी शिक्षा-योजना
राजेन्द्र प्रसाद	११५	देहात का शहरीकरण या शहर का देहातीकरण ?

खण्ड - ४
ग्राम पुनर्रचना किन हाथों में ?

डा० राजेन्द्र प्रसाद	१२२	राष्ट्रपति का आह्वान
राम लुभाया पटनी	१२३	सरकार की ग्राम विकास योजनाएं ग्राम विकास में बहुस्तरीय आयोजना
के० बी० सुन्दरन्	१३१	प्रयास और क्रमावस्थाएं
बैंकमैन	१४३	ग्राम विकास में व्यावसायिक बैंकों की भूमिका
के० के० मुखर्जी	१४६	ग्राम विकास में स्वयंसेवी संगठन
सुतपा मुखर्जी	१५५	ग्राम विकास में महिलाओं का सहभाग
बंकर राय	१५६	हमारे बुद्धिजीवी और गांव का यथार्थ

खण्ड - ५
ग्राम पुनर्रचना : कुछ प्रयोग, कुछ अनुभव

महात्मा गांधी	१६६	आदर्श ग्राम के लिए गांधी जी की टिप
तरुण विजय	१६७	दीनदयालपुरम् : सागरतीरे आकार ले रहा एक स्वप्न
स्वामी गौतमानन्द	१७३	ग्राम विकास में रामकृष्ण मिशन : अरुणाचल में सेवा कार्य
शिवशंकर चक्रवर्ती	१७५	पश्चिमी बंगाल का नरेन्द्रपुर प्रकल्प
क्रिस्टोफर सी० बेनिंगर	१७६	रत्नागिरि प्रयोग : एक अध्ययन
लक्ष्मण टी० जोशी	१८३	जहां मानव आत्मसृजन में लीन है
देवदत्त	१६३	ग्राम भारती, सिमुलतला (बिहार)
बी० रुद्रमूर्ति	२०६	मफत लाल कम्पनियां समग्र ग्रामीण विकास के पथ पर

पी० डी० सप्रे	२१३	वनवासी कल्याण आश्रम : जन्म तथा विकास
बाला साहब देशपांडे	२१५	वनवासी हमारे भाई हैं
अरुण गांधी	२१६	हरिजन उत्थान—सफलता की एक सच्ची कथा
यादव राव	२२३	दीनदयाल शोध संस्थान का गोण्डा (उ० प्र०) प्रकल्प

खण्ड - ६

रचना-पथ पर युवा-चरण

श्री गुरु जी	२४०	आह्वान
संकलित	२४१	गांधी जी की वसीयतः युवा पीढ़ी के नाम
पी० सी० महापात्र	२४३	भारतीय युवा और ग्राम-पुनर्रचना
संकलित	२४५	राष्ट्रीय सेवा योजना की भूमिका
रजत शर्मा	२४७	ग्रामोत्थान हेतु छात्र-अभियान
मंथन	२५१	विकास के लिये संघर्ष : बोधगया का संदर्भ
धीरेन मजूमदार	२५५	जब मैं ग्राम सेवा के पथ पर आया

यह विशेषांक क्यों ?

"मन्थन" का ग्राम पुनर्रचना विशेषांक आपके हाथों में है। प्रश्न उठ सकता है कि यह अंक निकालने की आवश्यकता क्यों पड़ी? ग्राम-पुनर्रचना का विषय कोई नया नहीं है। स्वाधीनता संघर्ष के दिनों में भी अनेक मनीषियों की दृष्टि ग्रामों की दुर्दशा पर गयी थी। दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त आदि ने ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय ग्रामों के शोषण के बारे में काफी खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की थी। भारतीय राजनीति में गांधी जी के प्रवेश के पूर्व बंगभंग व स्वदेशी आन्दोलनों के दिनों में ग्रामों में जाकर बसने व काम करने का विचार अनेक युवकों के मन में उठा था। द० अफ्रीका में रहते हुए ही १९०८ में गांधी जी ने "हिन्द स्वराज्य" नामक छोटी सी पुस्तिका में पाश्चात्य औद्योगिक व शहरी सभ्यता के दोषों और दुष्परिणामों पर दृष्टि केन्द्रित की थी। उन्होंने ग्राम्य जीवन को ही मानव सुख और शान्ति का एकमात्र मार्ग बताया था। १९१५ में भारत आगमन के पश्चात् उन्होंने स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए भी ग्राम पुनर्रचना के कार्य को वरीयता प्रदान की। प्रत्येक कांग्रेसी कार्यकर्त्ता के लिए रचनात्मक कार्य में सम्मिलित होना अनिवार्य बनाया और ग्राम पुनर्रचना ही रचनात्मक कार्यक्रम की धुरी थी। एक समग्र दृष्टि को लेकर गांधी जी ने भारत की आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक व राजनीतिक पुनर्रचना का केन्द्र बिन्दु ग्राम्य जीवन को बनाया। गांधी जी से प्रेरणा लेकर जे० सी० कुमारप्पा, भरतन् कुमारप्पा आदि विद्वानों ने ग्राम-पुनर्रचना के महत्व का प्रतिपादन करने के लिए विपुल

साहित्य का सृजन किया, जिसमें "ग्रामवाद" को पाश्चात्य औद्योगिकवाद व समाजवाद आदि विचारधाराओं के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया। वस्तुतः गांधी जी को ही "गांव की ओर वापस लौट चलो" आन्दोलन का प्रवर्तक कहा जा सकता है।

गांधी जी ने आदर्श गांव का एक कल्पना-चित्र प्रस्तुत किया। उनकी एक ही आकांक्षा रही कि इस कल्पना चित्र को साकार रूप देने वाले आदर्श गांव का कम से कम एक नमूना तो खड़ा करके दिखाया जाय। अपनी कल्पना को साकार करने के हेतु उन्होंने अपने आश्रम के लिए वर्धा जिले में सेगांव जैसे एक छोटे से गांव को चुना। अपने जीवन काल में ग्रामोद्योग परिषद जैसी अनेक संस्थाओं को खड़ा किया। गाँधी जी के जीवन से अनुप्राणित होकर अनेक तेजस्वी कार्यकर्त्ताओं ने ग्राम-पुनर्रचना को ही अपना जीवन-व्रत बना लिया। ग्राम पुनर्रचना की दिशा में गांधी जी की प्रेरणा से प्रारंभ हुए इस प्रयास को अब साठ से अधिक वर्ष पूरे हो रहे हैं। धीरेन्द्र भाई जैसे कई कार्यकर्त्ता अपना सम्पूर्ण जीवन इस कार्य में खपाकर काल-कवलित हो गये।

आगे चलकर लोकनायक जयप्रकाश भी प्रत्यक्ष राजनीति से संन्यास लेकर ग्राम पुनर्रचना के कार्य में जुट गये। बिहार के मुशहरी प्रखण्ड को उन्होंने अपनी प्रयोगशाला के रूप में चुना। समग्र क्रान्ति आंदोलन के द्वारा भी उन्होंने ग्रामों के सर्वांगीण विकास की समस्या पर युवा-पीढ़ी की दृष्टि को केन्द्रित करने का प्रयास किया।

गांधी जी के नाम से जुड़ी हुई अनेक संस्थाएं आज भी ग्राम पुनर्रचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं। किन्तु इन प्रयासों के फलस्वरूप गांधी जी की कल्पना के आदर्श ग्राम का एक भी नमूना क्या कहीं खड़ा हो पाया? यदि नहीं, तो क्यों नहीं हुआ? क्या गांधी जी के चिन्तन में ही कहीं कोई कमी रह गयी थी? क्या आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का उनका मूल्यांकन गलत था? क्या यह सभ्यता ही मनुष्य की प्रगति की सही व स्वाभाविक दिशा है? उससे विपरीत दिशा में चलने का प्रयत्न अव्यावहारिक है, व्यर्थ है?'

किन्तु जब हम पश्चिम के अति विकसित देशों में विद्यमान सभ्यता के संकट व उसके बारे में चल रही वर्तमान बहस पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि गांधी जी ने इस शताब्दी के प्रारंभ में ही इस सभ्यता के जिन दोषों व दुष्परिणामों की ओर संकेत किया था, वही आज पश्चिम के श्रेष्ठ विचारकों व समाजशास्त्रियों के लिए चिन्ता व चर्चा का मुख्य विषय बन गये हैं। शहरीकरण, ऊर्जा संकट, प्रदूषण, प्राकृतिक साधनों का द्रुत गति से क्षय, मशीनीकरण, उपभोग के नित नये व असीमित साधनों के बाहुल्य के बावजद जीवन में रिक्तता, एवं सुख

और शान्ति का अभाव—यही सब विषय हैं जो आज पश्चिम के मन मस्तिष्क पर छाये हुए हैं। इसी चिन्ता में से गुमाखर, ई० जे० मिशान, गैलवेथ जैसे विचारक पैदा हो रहे हैं। अनेक वैज्ञानिक व बुद्धिजीवी शहरी सभ्यता से भागकर प्रकृति से जुड़ी हुई एक सरल सहज जीवन रचना की खोज में लग गये हैं। इस बहस और इन प्रयासों को देखकर यह विश्वास पैदा होता है कि गाँधी जी का चिन्तन और प्रयोग सही दिशा में थे। वे सचमुच अपने समय से बहुत आगे देख रहे थे।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि भारत आदर्श गांव का कोई नमूना अब तक खड़ा क्यों नहीं कर पाया? इस समय भी देश में सरकारी व अर्ध सरकारी प्रेरणा से सहस्रों संस्थाएं ग्राम पुनर्रचना के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। अरबों-करोड़ों रुपयों की देशी-विदेशी धन-राशि ग्राम पुनर्रचना के नाम पर खर्च होती है। भारतीय ग्रामों की समस्याओं व उनके हल के बारे में सहस्रों पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं। किन्तु इस सबका परिणाम क्या है? इन प्रयासों की उपलब्धि क्या है? इनके अनुभव क्या हैं?

इन अनेक प्रयासों में दीनदयाल शोध संस्थान भी कुछ समय से सम्मिलित हो गया है। प्रखर देशभक्त और मौलिक विचारक दीनदयाल जी की पावन स्मृति में स्थापित इस संस्थान की समस्त गतिविधियों का एक ही लक्ष्य रहा है कि उदात्त किन्तु अमूर्त भारतीय जीवन मूल्यों को व्यक्तिगत और सामूहिक आचरण में साकार रूप देने वाली सर्वांगीण जीवन रचना की बौद्धिक एवं व्यावहारिक धरातल पर खोज की जाय। हमारा यह विश्वास बना है कि केवल बौद्धिक चर्चा ही स्वयं में पर्याप्त नहीं है, उसे प्रत्यक्ष आचरण व प्रयोगों का आधार प्राप्त होना आवश्यक है। इसीलिए शोध संस्थान ने वर्ष १९७८ में उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े हुए जिले गोण्डा को अपनी प्रयोग भूमि के रूप में चुना। किन्तु अभी यह प्रयोग शैशवावस्था में है। यह सत्य है कि सिंचाई आदि के क्षेत्र में वहाँ कुछ लक्ष्यों को प्राप्त ही नहीं, तो पार भी कर लिया गया है। किन्तु यह तो आरम्भ मात्र है, बहुत कुछ करना बाकी है। इस क्षेत्र में हम बहुत नये हैं। बहुत पहले से इस क्षेत्र में लगे हुए कार्यकर्त्ताओं एवं उनके प्रयोगों से हमें बहुत कुछ सीखना है। इसीलिए इच्छा उत्पन्न हुई कि "मन्थन" के एक विशेषांक के माध्यम से ग्राम-पुनर्रचना की वैचारिक पृष्ठभूमि को समझने के साथ साथ हम इस कार्य में लगे हुए अन्य प्रयासों के अनुभवों का भी संचय करें। इन्हीं दो उद्देश्यों को सामने रखकर इस विशेषांक की संयोजना की गई। हमारे निमन्त्रण पर अनेक संस्थाओं ने अपने अनुभव हमें भेजे जो बहुत समृद्ध व मूल्यवान हैं। किन्तु विशेषांक की समस्त सामग्री एकत्र हो जाने पर पता लगा कि यह विषय बहुत बड़ा है और इस विशेषांक के सीमित कलेवर में इस सब सामग्री को समा पाना असंभव है। अतः इस विशेषांक में ग्राम-पुनर्रचना की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने वाली सामग्री का ही केवल समावेश किया जा सका है। ग्राम-पुनर्रचना के लिए होने वाले प्रयासों का एक विहंगावलोकन भर ही यहां प्रस्तुत है।

दो-चार चुने हुये प्रयोगों को उनके पीछे विद्यमान दृष्टि व प्रेरणाओं को स्पष्ट करने के हेतु यहाँ दिया जा सका है। विभिन्न संस्थाओं के जो अनुभव हमारे पास आये हैं उन्हें शीघ्र ही हम पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास करेंगे। ग्राम पुनर्रचना की वैचारिक पृष्ठ-भूमि को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही जो सामग्री दी गयी है उसका भी कुछ अंश इधर-उधर से संकलित किया गया है। समयाभाव के कारण मौलिक लेखों का जुटाना संभव नहीं हो सका। किन्तु इस विशेषांक को इस दिशा में हमारे प्रयास का आरंभ मात्र ही मानना चाहिए। यह विशेषांक इस बात की घोषणा है कि "मन्थन" राष्ट्रीय पुनर्रचना के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने के साथ-साथ व्यावहारिक प्रयोगों को भी उतना ही महत्व देगा। अन्त में मैं उन सभी लेखक बन्धुओं एवं प्रकाशनों के प्रति आभार प्रगट करना अपना कर्तव्य समझता हूं, जिन्होंने इस विशेषांक को समृद्ध बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया है। उनके योगदान के बावजूद इस अंक में जो बहुत सी कमियाँ रह गई हैं उनके प्रति हम सजग हैं और स्वयं को उनके लिए उत्तरदायी मानते हैं।

नानादेशमुख

को स्पष्ट करने के
पास आये हैं उन्हें
ही वैचारिक पृष्ठ-
ी कुछ अंश इधर-
का जुटाना संभव
आरंभ मात्र ही
राष्ट्रीय पुनर्रचना
को भी उतना ही
ति आभार प्रगट
में अपना अमूल्य
कमियाँ रह गई हैं
हैं।

शमुजे

सभ्यता का संकट

और

सुनहरे भविष्य की खोज

गांधी ने भविष्य देख लिया था

"आधुनिक सभ्यता केवल नाम के लिए सभ्यता है। इसकी छाया में यूरोप के राष्ट्रों का दिनों-दिन पतन व सर्वनाश हो रहा है···आज यूरोप-वासी सौ वर्ष पहले की अपेक्षा कहीं बढ़िया मकानों में रहते हैं। इसे सभ्यता का लक्षण कहा जाता है। शरीर सुख की वृद्धि को ही सब कुछ मान लिया गया है...

"पहले यूरोप के लोग मामूली हल की मदद से मेहनत करके जमीन जोतते थे। उसकी जगह आज भापयंत्रों से हल चलाकर एक आदमी बहुत सारी जमीन जोत सकता है और बहुत धन जमा कर सकता है। यह सभ्यता की निशानी मानी जाती है। पहले बहुत थोड़े लोग किताबें लिखते थे और वे अनमोल मानी जाती थीं, आज हर कोई लिखता है और छपवाता है और लोगों के मन भरमाता है। पहले लोग बैलगाड़ी से रोज बारह कोस की मंजिल तय करते थे, आज रेलगाड़ी से चार सौ कोस की मंजिल तय करते हैं। इसे सभ्यता की चोटी माना जाता है। सभ्यता जिस रफ्तार से आगे बढ़ रही है, उसे देखते हुए यह आशा की जाती है कि लोग हवाई जहाज से सफर करेंगे और कुछ ही घंटों में दुनिया के किसी भी भाग में जा पहुचेंगे, लोगों को हाथ-पैर हिलाने की जरूरत नहीं रहेगी। एक बटन दबाया कि आदमी के सामने पहनने की पोशाक हाजिर हो जायेगी, दूसरा बटन दबाया कि उसको अखबार मिल जायेंगे, तीसरा दबाया कि मोटर कार सामने आ जायेगी। हर बार नये-नये व्यंजन खाने को मिलेंगे। हाथ-पैर का काम ही नहीं पड़ेगा। सारा काम मशीन से ही किया जायेगा।

"यह सभ्यता न नीति को मानती है न धर्म को। यह सभ्यता धर्मविहीन है। यूरोप के लोगों पर इसका जादू ऐसा चढ़ गया है कि वे इसके पीछे दीवाने से हो गए हैं। यह सभ्यता ऐसी है कि हम अगर धीरज रखकर बैठे रहेंगे तो इस सभ्यता की लपेट में आये हुए लोग खुद की जलायी हुई आग में जल मरेंगे। पैगम्बर मुहम्मद की सीख के अनुसार यह शैतानी सभ्यता है। हिन्दु धर्म इसे निरा "कलियुग" कहता है..."

'हिन्द स्वराज्य'
(सन् १९०८ में प्रकाशित)

मानव का भविष्य क्या है?

□ राबर्ट एल० हेलब्रानर



"क्या मानव जाति की सभ्यता की यात्रा जारी रह सकेगी?"

इस प्रश्न के उत्तर में यहां प्रस्तुत है एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री का निराशापूर्ण विश्लेषण। वे हमारा ध्यान उन खतरों की ओर आकृष्ट कर रहे हैं, जो असीमित औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप प्राकृतिक पर्यावरण व सामाजिक व्यवस्था—दोनों के सामने मुंह बाये खड़े हैं। उनका प्रश्न है कि क्या अल्पतम आर्थिक विकास की अप्रिय अवधारणा को आरोपित करने के लिए लोकतांत्रिक समाजों को भी अधिनायकवाद के रास्ते को अपनाना ही होगा? साथ ही वे उत्तर भी देते हैं कि यदि समय रहते वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था का सरलीकरण नहीं किया गया और परम्परागत सामुदायिक जीवन मूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित नहीं किया गया तो यह स्थिति उत्पन्न होना अनिवार्य है।

राबर्ट हेलब्रानर न्यूयार्क स्थित 'न्यूयार्क स्कूल फार सोशल रिसर्च' में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं। उनकी कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशित रचनाएं हैं : 'वर्ल्डली फिलासफर्स' (अर्थशास्त्र विचारकों के बारे में) और 'दि ग्रेट एसैंट' (आर्थिक विकास के विषय पर)। उनकी नवीनतम कृति 'ऐन इन्क्वायरी इन्टू ह्यूमेन प्रास्पेक्ट' (प्रकाशक: डब्ल्यू० डब्ल्यू० नार्टन) के कुछ अंश यहां दिए जा रहे हैं।

"क्या मानव के लिए अब कोई आशा शेष है?" किसी अन्य युग में यह प्रश्न सामने आते ही मनुष्य की अन्तिम मुक्ति अथवा नरक यात्रा का विचार मन में उठता। किन्तु आज इस प्रश्न के पीछे पृथ्वी तल पर मानव जीवन के अस्तित्व के बारे में एक गंभीर चिंता विद्यमान है। इस जीवन का रूप आज की और उन कुछेक भावी पीढ़ियों के लिए क्या होगा, जिन तक भविष्य के बारे में हमारी कल्पना दौड़ लगा सकती है? हमारी चेतना पर आज यह जो श्मशान भाव छाया हुआ है उसके लिए, मेरे विचार से, तीन कारण हो सकते हैं अथवा उसका तीन स्तरों पर स्पष्टीकरण खोजा जा सकता है।

इनमें से प्रथम को मैं सामयिक कारण कहूंगा। पिछले दस बारह वर्षों में अनेक ऐसी घटनाएं घटी हैं जिन्होंने मानव के भविष्य के प्रति हमारे विश्वास को हिला दिया है और हमारे मन-मस्तिष्कों को अनिष्ट की आशंकाओं से भर दिया है। इन घटनाओं में वियतनाम युद्ध से लेकर जातीय दंगों, विमान अपहरणों व अमानुषिक हत्याओं को गिनाया जा सकता है। ऐसी घटनाओं ने आधुनिक जीवन की बाहरी चमक-दमक के पीछे विद्यमान बर्बरता के भयावह चेहरे को उसके नग्न रूप में हमारे सामने खड़ा कर दिया है।

हमारे वर्तमान निराशावाद का दूसरा कारण यह हो सकता है कि परिस्थितियों का प्रवाह हमारे अन्दर मनोभावनात्मक परिवर्तन उत्पन्न कर रहा है। अब हम सामाजिक घटनाओं की भावी दिशा के बारे में कोई निश्चित भविष्यवाणी करने की स्थिति में नहीं रह गए हैं। कुछ दिनों पहले तक यह स्थिति

कापीराइट (सी) १९७४—डब्ल्यू०, डब्ल्यू० नार्टन एंड कंपनी।

थी कि सामाजिक समस्याओं की चर्चा करने का अर्थ होता था तर्कयुक्त चिंतन का व्यावहारिक प्रयोग—तब अर्थशास्त्री अर्थव्यवस्था में विद्यमान "मोहक समस्वरता" पर गंभीर चर्चा किया करते थे, तब यह अपेक्षा की जा सकती थी कि विदेशों से प्राप्त वित्तीय सहायता, तकनीकी परामर्श एवं युवा स्वयंसेवकों के सहयोग के बल पर "विकास के एक दशक" के भीतर करोड़ों मनुष्यों को अभावजन्य कष्टों से छुटकारा दिलाया जा सकेगा, तब यह विश्वास होता था कि "विकास" की प्रक्रिया में से ऐसी स्थितियां पैदा हो सकेंगी जिनमें ऐसी अनेक समस्यायें, जिन्हें पहले असाध्य माना जाता था, सामाजिक अशांति पैदा करने की अपनी ताकत खो बैठेंगी।

भविष्य के बारे में विश्वास और नियंत्रण का यह भाव अब समाप्त हो चुका है, या तेजी से समाप्त हो रहा है। अब हम यह अहसास करने लगे हैं कि सामाजिक परिवर्तन लाने की दिशा में तर्कयुक्त चिंतन एक सीमा से आगे नहीं जा सकता और वह सीमा हमारी अपेक्षा से कहीं अधिक संकुचित है।

इस अहसास का एक पहलू यह है कि अब हमारे मनों पर यह भय सवार हो गया है कि हम आर्थिक विकास के प्रवाह को अधिक लम्बे समय तक नहीं बनाये रख सकेंगे। तेल के वर्तमान संकट ने "आर्थिक सर्वनाश" की चर्चा को जन्म दे दिया है। सम्भवतः, यह अभाव अल्पकालिक है और यदि सर्वनाश आया भी तो वह समुचित योजना न कर पाने की हमारी अक्षमता का ही परिणाम होगा। किन्तु फिर भी, ऊर्जा-संकट ने हमें एक ऐसी संभावना की खोज करने के लिए विवश कर दिया है, जिसकी इसके पूर्व कभी कल्पना नहीं की जा सकती थी और वह है—औद्योगिक उत्पादन की हदबंदी। इस संभावना ने हमारे सामने यह कष्टदायक प्रश्न खड़ा कर दिया है कि यदि आर्थिक विस्तार पूर्णतया रुक गया तो घटनाचक्र की भावी दिशा पर हमारा नियंत्रण कहां रह जायेगा?

किन्तु इस संभावना से भी अधिक चिंताजनक वह स्थिति है, जिसका साक्षात्कार अभी कुछ ही समय से किया जाने लगा है। इस खोज से लोग स्तम्भित रह गए हैं कि आर्थिक विकास के साथ कुछ ऐसे परिणाम भी जुड़े हुए हैं, जिनका समाज-जीवन पर कुल मिलाकर जो प्रभाव पड़ता है वह "विकास" के द्वारा प्राप्त होने वाले सर्वमान्य लाभों की तुलना में कहीं अधिक हानिकारक है। विगत कुछ वर्षों में हम हवा और पानी की शुद्धता में कमी के प्रति एवं मानव-निर्मित प्राकृतिक असंतुलन के कारण होने वाली विपदाओं के प्रति अधिकाधिक जागरूक हुए हैं।

संभवतः इन सामयिक एवं भावनात्मक तत्वों का संयोग हमारे युग की वर्तमान निराशापूर्ण मनःस्थिति का स्पष्टीकरण देने के लिए पर्याप्त होना चाहिए। किन्तु, एक तीसरा कारण भी हमारी चेतना में सुगबुगा रहा है। और, वह है सभ्यता की व्याधि।

कुछ समय से उन लोगों के मन में, जो विकास को ही सब समस्याओं का अचूक हल मानने के प्रति शंकालु थे, यह प्रश्न उठने लगा है कि क्या कारण है कि हमारे समकालीन लोग, जो अपने दादा परदादाओं अथवा उनसे भी पहले के पूर्वजों की तुलना में तीन या पांच गुना धनवान दिखायी देते हैं, उन पूर्वजों की अपेक्षा तीन, पांच या दस गुना सुखी अथवा संतुष्ट क्यों नहीं हैं? वे मानवीय दृष्टि से अधिक विकसित क्यों नहीं दिखायी देते? औद्योगिक सभ्यता के जिन मूल्यों ने हमें विगत दो शताब्दियों में न केवल भौतिक समृद्धि प्रदान की है अपितु हमारे जीवन को उमंग व गति भी प्रदान की है, वे मूल्य अब अपनी सार्थकता को खोते जा रहे हैं।

अब तक यह स्पष्ट हो चुका होगा कि यदि मैं यह प्रश्न उठा रहा हूं कि "क्या मानव के लिए कोई आशा शेष है?" तो यह शब्दाडम्बर मात्र नहीं है, कोई ऐसा काल्पनिक भूत नहीं है, जिसे मैं आगे चल कर अधिक गंभीर चर्चा के द्वारा अस्तित्वहीन सिद्ध करना चाहता हूं। मेरा विश्वास है कि आज मनुष्य अपने सामने बहुत ही पीड़ादायक, कठिन, यहां तक कि निराशाजनक भविष्य को खड़ा देख रहा है। उसके भविष्य के प्रति यदि कोई आशा कहीं विद्यमान

है तो वह बहुत धुंधली है।

अच्छा हो कि अब हम उन भावी संभावनाओं का आकलन कर लें जो हमारे सामने खड़ी हैं। अब हम एक ऐसे चरण में प्रवेश कर रहे हैं जब जनसंख्या वृद्धि, सर्वसंहारकारी शस्त्रों के अस्तित्व और प्राकृतिक साधनों के उत्तरोत्तर क्षय के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव लम्बे समय तक खतरनाक बिन्दु तक बढ़ते रहेंगे। यदि जनसंख्या का संतुलन स्थापित नहीं होता और राष्ट्रों के बीच समृद्धि के वितरण को कोई समतायुक्त आधार प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक इन तनावों के खतरनाक बिन्दु से नीचे उतरने का कोई कारण नजर नहीं आता।

क्या ऐसी न्यायसंगत व्यवस्था कभी उत्पन्न हो सकेगी? कम से कम आगामी कई पीढ़ियों में तो उसका उत्पन्न होना बहुत संदेहास्पद है। समता की दिशा में आगे बढ़ने के लिए संसाधनों का बड़े पैमाने पर आदान-प्रदान करने का अर्थ होगा कि राष्ट्रों की आमदनी का अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर बड़े उदार भाव से पुर्नवितरण किया जाय। किन्तु ऐसी उदारता के दर्शन तो विकसित राष्ट्रों के अपने घर में भी नहीं हो रहे। पिछड़े हुए देशों में उत्पादन की जो खपत बढ़ती जा रही है उसे पूरा करने के लिए आवश्यक संसाधनों को जुटाने के हेतु ही ऊर्जा का विशालकाय पैमाने पर प्रयोग अनिवार्य हो जायेगा। इतनी मात्रा में ऊर्जा का उत्पादन कर सकने वाली तकनॉलॉजी का अस्तित्व अभी कहां है? और यदि ऐसी तकनॉलॉजी का हमने कभी इस्तेमाल किया तो बहुत संभव है कि वायुमंडल में मनुष्य निर्मित ताप का आधिक्य हो जाने के कारण जलवायु में स्थायी रूप से कोई भारी व स्थायी परिवर्तन आ जाय। यदि औद्योगिक विकास की वर्तमान गति को ही बनाये रखा जाय और जागतिक निर्धनता को दूर करने के लिए औद्योगीकरण की गति को तेज न किया जाय तो भी मानव जाति केवल तीन-चार पीढ़ियों में ही जलवायु परिवर्तन के अति खतरनाक चरण में प्रवेश करने की स्थिति में पहुंच जायेगी।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विकास की गति का विश्वव्यापी औसत ४ प्रतिशत माना जाता है। यदि यही औसत बना रहे तो भी प्रति अठारह वर्ष में ऊर्जा के उपयोग की मात्रा दुगनी होती जायेगी। उस स्थिति में हम विकास के वर्तमान रास्ते पर लगभग १५० वर्ष तक बढ़ते रह सकते हैं, क्योंकि तब तक वायुमण्डल बहुत गर्म हो जायेगा अर्थात् तापमान लगभग ३ डिग्री ऊँचा पहुंच जायेगा। किन्तु उस बिन्दु पर पहुँचते-पहुँचते विकास की चक्रवर्ति दर से लगातार वृद्धि में से उत्पन्न भयंकर गुणनशील परिणाम हमें अचानक दबोच लेंगे। यदि विकास की यह चक्रवर्ती वृद्धि एक दो पीढ़ियों तक और बनी रही तो हम विनाश के गाल में समा जायेंगे।

अतः स्पष्ट है कि औद्योगिक विकास पर तुरन्त पूर्ण विराम लगाना होगा अन्यथा एक या दो पीढ़ियों तक विकास के इस मार्ग पर बढ़ते रहने का परिणाम न केवल मानव बल्कि प्राणिमात्र के विनाश में हो सकता है। इस भयावह अन्त को केवल इस सीमा तक टाला जा सकता है कि ताप के बेकार बिखराव को कुछ मात्रा में कम किया जा सके अथवा ऐसी तकनॉलॉजियों का ही इस्तेमाल किया जाय जिनसे वायुमंडल में ताप की अधिक वृद्धि न हो, उदाहरणार्थ—सौर ऊर्जा ट्रान्सफार्मर। इस सम्भावना को दूर करने का एक उपाय यह भी हो सकता है कि उत्पादन की दिशा को ताप उत्पन्न करने वाले भौतिक उत्पादनों से हटाकर ऐसी "सेवाओं" के उत्पादन की ओर मोड़ दिया जाए, जिनसे तापमान में नगण्य सी वृद्धि होती हो।

इन्हीं सब कारणों से औद्योगीकरण की रफ्तार को धीमी करने के बारे में किसी समय-तालिका का निर्धारण कठिन हो जाता है। किन्तु चाहे जो कल्पना करें इस निष्कर्ष पर पहुंचना निर्विवाद है कि औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को, जो आज पूंजीवाद और पाश्चात्य समाजवाद दोनों के आर्थिक और सामाजिक जीवन का समान रूप से केन्द्र बिन्दु बन गई है, एक या दो पाढ़ियों के भीतर धीमा पड़ना ही होगा और बाद में शायद पीछे की ओर हटना होगा। हो सकता है कि हम विकास को टिकाये रखने में

असफल हो जायें अथवा उसे सहन न कर पायें किन्तु इतना निश्चित है कि औद्योगिक प्रसार का लम्बा युग अब अपने अन्तिम चरण में पहुँच चुका है। एक नये युग का आरम्भ अवश्यम्भावी है जिसमें कुल उत्पादन की मात्रा लगभग स्थिर होगी और यदि जनसंख्या बढ़ती रही अथवा राष्ट्रों के बीच समता-युक्त वितरण सम्भव न हो सका तो प्रतिव्यक्ति भौतिक उत्पादन कम होता जायेगा। समय हमारे हाथ से लगभग निकल चुका है। यदि मानव की सामूहिक नियति एक भयंकर प्रसव पीड़ा में से गुजरने का पूर्वाभास दे रही है तो निष्क्रिय बैठे रहने को कदाचित क्षमा नहीं किया जा सकता।

अन्ततोगत्वा कैसा समाज उभरकर सामने आयेगा? मेरी धारणा है कि समस्या के दूरगामी हल के लिए हमें घातक तकनीकों, अप्राकृतिक जीवन पद्धति और औद्योगिक सभ्यता की खतरनाक मनोवृत्ति को तिलांजलि देना होगा। औद्योगिकोत्तर समाज के इस कायाकल्प के फलस्वरूप जो चित्र उभरेगा उसकी कल्पना हम आज उसी प्रकार करने में असमर्थ रहेंगे, जिस प्रकार एक हजार वर्ष पूर्व का कोई कल्पनाशील दिमाग सभ्यता के आज के चित्र की कल्पना नहीं कर पाया होगा।

फिर भी, मेरे विचार से, औद्योगिकोत्तर समाज की कुछ विशेषताओं की कल्पना तो की ही जा सकती है। उत्पादन और उपभोग के प्रति कृपणता के बजाय उदारता की दृष्टि विकसित होगी। संसाधनों को खत्म करने वाली तापों को उत्पन्न करने वाली उत्पादन विधियों को सामाजिक विजय के बजाय एक अनिवार्य बुराई मानना होगा। भावी आर्थिक जीवन में इन विधियों का स्थान कम से कम करना होगा। इस सबका अर्थ है कि उत्पादन की प्रणाली का बड़े क्रान्तिकारी ढंग से पुनर्गठन करना होगा। उस पुनर्गठन का रूप क्या होगा? इस बारे में कोई निश्चित भविष्यवाणा आज कर पाना कठिन है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह पुनर्गठन भीमकाय कारखाने, विशाल आफिस और सम्भवतः दैत्याकार नगरों की समाप्ति का उद्घोष होगा।

ऐसी क्रान्तिकारी पुनर्रचना के लिये कौन से मूल्य, कौन सा चिन्तन अनुकूल बैठेगा, यह भी आज बताना शायद कठिन होगा। किन्तु यह सम्भव है कि "विज्ञान" की "प्रकृति", जिसका औद्योगीकरण की व्यावहारिक प्रक्रिया से बहुत गहरा सम्बन्ध है, की भूमिका लगभग समाप्त हो जायेगी। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि हमारे औद्योगिक समाज के साथ गहरायी तक जुड़ी हुई वर्तमान "कर्म-चेतना" का भावी औद्योगिकोत्तर समाज में काफी ह्रास हो जायेगा।

इसलिये, बहुत सम्भव है कि औद्योगिकोत्तर समाज भी उसी दिशा में मुड़ जायेगा जो दिशा औद्योगिक-पूर्व समाजों की थी। अर्थात् वह भी बाह्य जगत में भौतिक उपलब्धियों के पीछे दौड़ने के बजाय आध्यात्मिक साक्षात्कार की साधना में रस लेगा। परम्परा और कर्मकाण्ड जो गैर-औद्योगिक समाजों के लगभग मेरूदण्ड हैं, शायद एक बार फिर जीवन को दिशा एवं शक्ति प्रदान करने की अपनी पुरानी स्थिति को प्राप्त करने की कोशिश करेंगे। मनुष्य व्यक्तिगत रूप में भौतिक सुख की प्राप्ति के हेतु संघर्ष की भावना को त्याग कर शायद संगठित समूह के अंग के रूप में अपनी भूमिका को स्वीकार कर लेगा।

ये भविष्यवाणियां नहीं हैं, केवल अनुमान हैं। किन्तु ये अनुमान बड़े अर्थपूर्ण व उपयोगी हैं। अतः इनका गहरा अध्ययन किया जाना चाहिये। अंधी गली में इस भटकाव में भी कम से कम एक बात ऐसी है जिस पर विश्वास किया जा सकता है। और वह है हमारा यह ज्ञान कि कुछ मानव समाज सहस्राब्दियों तक जीवित रहे हैं और कुछ समाज शायद सहस्राब्दियों तक जीवित रहेंगे। उनके अस्तित्व में जन्म, बुढ़ापे और मृत्यु का स्वरताल गूंजता प्रतीत होता है। इन समाजों ने पर्यावरण की उन खतरनाक सीमाओं की ओर कभी कदम नहीं बढ़ाया अथवा उन खतरनाक सामाजिक तनावों को कभी जन्म नहीं दिया, जिन्हें आज के तथाकथित "विकसित" समाज पैदा कर रहे हैं। इन "आदिम" सभ्यताओं की खोज में शायद हमने भावी मानव के लिये सबसे महत्वपूर्ण सन्देश पा लिया है। □

वह भी इस हद तक कि पाँच लोग सौ लोगों को खिलाने लायक पैदा कर सकें तब अवश्य ९५ प्रतिशत लोग शहर में रह सकते हैं और सिर्फ ५ प्रतिशत को देहात में रहना होगा। अतः आधुनिक शहर में अधिक लोगों का रहना संभव हो इसके लिए कृषि की उत्पादकता में बहुत ही तेजी से वृद्धि करना आवश्यक है।

तेल पर आश्रित शहर

शहर अपने आप में एक भीमकाय मशीन है जिसे हर सांस के लिए ऊर्जा की जरूरत होती है— उसके जीवन में पल-पल के लिए ऊर्जा चाहिए जो तेल से पैदा होती है। ऐसी स्थिति में इन शहरों का अंततः क्या बनेगा? दिनोंदिन ईंधन की बढ़ती कीमतें शहरी जिन्दगी को हर पल अधिक मंहगी और हर क्षण पहले से अधिक बोझिल बना रही हैं। सौर-ऊर्जा और वायु-ऊर्जा तो प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क ऊर्जायें हैं, किन्तु शहरों में इनका उपयोग कौन करता है, वहां तो खर्चीलि ऊर्जा की ही खपत होती है। इसका कारण यह है कि एक छोटे मकान को गरम रखना तो सरल है परन्तु "रॉकफेलर" जैसे विशाल सेन्टर को आप कैसे गरम रख सकते हैं? वास्तव में, सौर-ऊर्जा और वायु-शक्ति दोनों मिलकर भी शहर में लिफ्ट से ऊपर-नीचे आने जाने का काम नहीं करा सकतीं, और अगर लिफ्ट न हों तो क्या रॉकफेलर जैसे सेंटर बन सकेंगे? जरा सोचिए! अगर तीस से पचास मंजिल सीढ़ियाँ चढ़कर जाना पड़े तो? यही है जो मैं कहना चाहता हूं—जीवन का बोझ प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। ऐसा दिखाई देने लगा है कि लोग अब शहर छोड़कर भागना चाहते हैं और शहरों के बाहर कहीं आजीविका की तलाश में हैं।

तकनॉलॉजी किधर ?

मनुष्य की आवास व्यवस्था पर आधुनिक तकनॉलॉजी का क्या प्रभाव पड़ा है? यह भी एक रोचक विषय है जिस पर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है। इतना जरूर हुआ है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और विश्व बैंक ने शहरीकरण के सूचकांक प्रकाशित किए हैं जिससे यह पता चलता है कि विभिन्न देशों में जनसंख्या का कितना प्रतिशत भाग शहरी क्षेत्रों में बसा हुआ है (एक निश्चित संख्या से अधिक)। दिलचस्प बात यह है कि इन सूचकांकों में इस विषय का सबसे रोचक पहलू गायब है। यह समझा ही नहीं गया कि इस मामले में, मूल बात शहरीकरण के ढाँचे और उसकी रचना से संबंधित है न कि उसके आकार से। यह ठीक है कि मानवीय होने के लिए मनुष्य जीवन को शहर की जरूरत होती है, लेकिन उसे रोटी, कपड़ा और ऐसी बहुत चीजें चाहिए जो देहात से मिलती हैं। दोनों ही स्थानों से लोग एक दूसरी जगह आने-जाने के सुविधाजनक मार्गों की आवश्यकता महसूस करते हैं। इसका अर्थ है कि शहरीकरण का ढाँचा ऐसा हो कि प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र के समीप एक शहर हो, इतना निकट कि लोग एक दिन में वहाँ घूमकर शाम तक वापस लौट सकें। कोई और ढाँचा लोगों का मतलब सिद्ध नहीं कर सकेगा।

पिछले लगभग सौ वर्षों के दौरान जो कुछ भी विकास हुआ है वह वास्तव में बिल्कुल विपरीत दिशा में हुआ है: ग्रामीण क्षेत्रों को उपयुक्त शहरों से जोड़ने वाले निकटतम रास्तों से वंचित रखा गया है। आवास व्यवस्था का अत्यधिक तथा पूर्णतः दोषपूर्ण ध्रुवीकरण हुआ है। फ्रांसीसी योजना-निर्माताओं को इस बात के लिए संघर्ष करना पड़ा कि समूचा फ्रांस "रेगिस्तान से घिरे हुए पेरिस" में न सिमट जाए। अमेरिका में जीवन, छोटे और मध्यम आकार के देहाती कस्बों से निकल कर विशालकाय महानगरों की चपेट में आ रहा है। यहाँ तक कि वहाँ के लोगों ने महानगर का नामकरण ही "दैत्य-नगर" (मेगलोपोलिस) कर दिया है।

बोस्टन से वाशिंगटन तक "बोसवॉश" फैल रहा है; वहां "चिकपिट्स" है एक महानगर जो शिकागों से पिट्सबर्ग तक फैला हुआ है, और वहाँ सांसन है— सेन फ्रांसिस्को से लेकर सान-दियागो तक। यहाँ तक कि ब्रिटेन में जिसे अक्सर भीड़ से बुरी तरह भरा हुआ द्वीप कहा जाता है, आवास की

व्यवस्था अत्यधिक एकांगी है—वहाँ के आधे क्षेत्र में जनसंख्या का अल्पतम अभाव है किन्तु शेष भाग में लोग पागलों की तरह ठूँसे हुए हैं। इस समाजवादी मांग का जिक्र किए बिना भी नहीं रहा जा सकता जो सौ से अधिक साल पहले की गई थी—"खेती को माल बनाने वाले उद्योगों से जोड़ दिया जाए ताकि देश की जनसंख्या के अधिक समान वितरण द्वारा देहात और शहर के अंतर को धीरे-धीरे कम किया जा सके।" (कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र)

इन सौ वर्षों के दौरान इस दिशा में क्या हुआ है? निश्चय ही इसके विपरीत। और इस शताब्दी के अंत तक यानि आने वाले २५ वर्षों में और क्या उम्मीद की जा रही है? ठीक इसके विपरीत। इसे सिर्फ शहरीकरण नहीं कहा जा सकता, जैसा इसका मतलब है वैसा ही भयंकर शब्द भी चाहिए—"दैत्यीकरण (मेगलोपोलिनाइजेशन)। लहरों का एक तूफान सा बढ़ चला है और हमारे सामने ही बिल्कुल स्पष्ट तौर पर राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक और आर्थिक समस्याओं का ऐसा जाल सा बिछ गया है जिसका निदान संभव नहीं दीखता।

विश्व बैंक द्वारा प्रसारित एक दस्तावेज में कहा गया है :—

"विकासशील देशों में शहरी परिस्थितियों में सुधार करने के कार्य में जो भारी निराशा व्याप्त है उसका मूल कारण है शहरों का तेजी से विस्तार और उसी अनुपात में मानवीय व वित्तीय साधनों का प्राप्त न हो पाना।

शहरी प्रशासन इन समस्याओं का सामना करने में स्वयं को बुरी तरह अक्षम पा रहा है।...तो भी ऐसा लगता है कि बीस साल से कम अवधि में शहरी केन्द्रों का क्षेत्रफल व जनसंख्या आज की अपेक्षा तीन गुना से अधिक पहुँच जायेगी।"

दस्तावेज में यह सवाल भी उठाया गया है कि छोटे और मध्यम श्रेणी के शहरों की विकास प्रक्रिया को तेज किए जाने या नये शहरी केन्द्र बनाने की क्या संभावनाएं है? लेकिन उतनी ही तत्परता से इस संभावना से इनकार करने में भी कसर नहीं छोड़ी गई है—"अधिकांश छोटे शहरी केन्द्रों में... मूलतः परिवहन और सेवाओं के ढाँचे का अभाव है... प्रबन्धकीय और व्यावसायिक स्टाफ बड़े शहरों को छोड़ने के इच्छुक नहीं हैं।"

इससे सारी बात सामने आ जाती है—प्रबंधकीय और व्यावसायिक स्टाफ बड़े शहरों को छोड़ने को इच्छुक नहीं हैं। स्पष्ट है कि यह सुझाव तो एक छोटे स्थान पर ऐसी तकनॉलॉजी लागू करने का हुआ जो इस प्रकार से विकसित की गई है कि केवल एक बड़े विशाल स्थान पर ही खरी उतरती है।

छोटे स्थान पर लोगों का इससे सामंजस्य नहीं बैठ सकता, प्रबंधकीय और व्यावसायिक स्टाफ "बड़े शहरों" से आयात करना ही होगा। वस्तुतः कोई आना इसलिए नहीं चाहता कि बड़े शहर छोड़ने का आर्थिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। यह तकनॉलॉजी अनुपयुक्त है जिसका अर्थ है कि सारा प्रकल्प गैर-आर्थिक है।

आखिर यह पिछले सौ वर्षों की दौड़ बड़ी-बड़ी शहरी इकाईयों की ओर ही क्यों है? कुछ उन्मादी शक्तिशाली उद्योगपतियों को छोड़कर कोई उन्हें पसन्द नहीं करता। तो फिर महानगरों का निर्माण क्यों करते हैं? इसका एक ही तैयार उत्तर है : तकनालॉजीकल प्रगति के कारण।

अब हमारा काम तकनॉलॉजी को समाप्त करना नहीं है, बल्कि वहाँ सावधानी बरतना है जहाँ यह अनुचित मोड़ ले रही है। सस्ते दामों पर उपलब्ध खनिज ईंधन के प्रभाव से तकनॉलॉजी ने गलत मोड़ ले लिया है...

[जोनाथन केप ३०, बेडफोर स्क्वेयर, लंदन द्वारा बी. आई. पब्लिकेशंस, नई दिल्ली के सहयोग से १९७९ में प्रकाशित "गुड वर्क" से उद्धृत]

□

ऊर्जा का विकराल संकट

□ एम० वी० कामथ*

इस बात के साफ-साफ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं कि न केवल भारत बल्कि संपूर्ण विश्व निश्चय ही एक विकराल उर्जा संकट की ओर बढ़ रहा है। आश्चर्य है कि अनेक शक्तिशाली राष्ट्रों को इस खतरे के स्वरूप का धुंधला सा आभास भी नहीं हो पा रहा है।

आइये जरा इन तथ्यों पर दृष्टि डालें :

— इस साल हमें पैट्रोल के आयात के लिए ३,००० करोड़ रुपये की राशि का भुगतान करना होगा जो निर्यात से होने वाली हमारी कुल आय का ४० प्रतिशत है।

— १९८०-८१ में हमें ५,००० करोड़ रुपये का पैट्रोल विदेशों से खरीदना पड़ेगा जो कि निर्यात से होने वाली हमारी कुल आय का ६५ प्रतिशत होगा।

— आगामी पांच साल में स्थिति यह पहुंच जायेगी कि निर्यात की हमारी सारी आय तेल देने वाले "ओपेक" राष्ट्रों से केवल तेल खरीदने में खप जाएगी।

— संसार भर में कच्चे तेल का उत्पादन सन् १९९० में चरम सीमा पर पहुंच जायेगा।

— यदि यह मान कर चलें कि उपभोग में वृद्धि की वार्षिक दर २.५ प्रतिशत ही बनी रहेगी तो भी उसके परिणामस्वरूप समस्त तेल स्रोतों से प्राप्त हो सकने वाला तेल भंडार सन् २०१५ से २०२५ के बीच पूर्णतः समाप्त हो जायेगा।

— यदि विकास की परम्परागत दर ७ प्रतिशत मान कर हिसाब लगायें तो सन् २००० से २००५ के दौरान अर्थात् अब से केवल २०-२५ वर्ष के भीतर ही विश्व का तेल भंडार खाली हो जायेगा। और यदि शेखचिल्ली वाला आशावाद लेकर चलें कि उपभोग में कोई वृद्धि नहीं होगी तो भी तेल भंडार की समाप्ति को सन् २०७० के आगे नहीं टाला जा सकेगा।

— यह समाप्ति विभिन्न देशों में अलग-अलग समयों पर होगी। ईरान में १९८५ तक, सऊदी अरब में २०२५ तक और अन्य तेल उत्पादक देशों में इन्हीं सालों के दौरान।

— कनाडा का घरेलू तेल उत्पादन अपने चरम बिन्दु को पार कर चुका है और अब वह घट रहा है।

— अमेरिका के पास करोड़ों बैरल तेल का जो भंडार था उसमें से आधे से अधिक का तो पहले ही उपभोग हो चुका है और १९७० की तेल खपत दर से यह आने वाले दस वर्षों में— अर्थात् १९९० तक, पूर्णतः चुक जाएगा।

— १९०५ तक अमेरिका के तेल-आयात की कीमत प्रति घंटा एक करोड़ डालर हो जाएगी।

— तेल उत्पादक संघ "ओपेक" के सदस्य आज ३.१ करोड़ बैरल कच्चा तेल प्रतिदिन भूमि में से निकाल रहे हैं लेकिन अभी भी विभिन्न देशों की मांग से यह मात्रा २० लाख बैरल कम है।

— आज पेट्रोल की कीमत १४.५४ डालर प्रति बैरल है जो कि बीस डॉलर प्रति बैरल तक पहुंचने की संभावना है। इसका मतलब है कि बड़े औद्योगिक राष्ट्रों को ८० अरब डालर प्रति वर्ष और व्यय करना पड़ेगा।

— विकासशील राष्ट्रों पर सिर्फ पैट्रोल खरीदने के लिए २५० अरब डालर का विदेशी कर्जा लद चुका है।

*सम्पादक, दि इलस्ट्रेटेड वीकली आव इण्डिया', बम्बई।

— अमेरिका में तेल की पैदावार प्रतिदिन लगभग ७,००,००० बैरल की दर से गिर रही है और यह गिरावट जारी है।

परन्तु क्या इन तथ्यों का हमारे लिये कोई मतलब है ? आइये कुछ और तथ्यों पर विचार करें :

— सन् १९७५ में अमेरिका ने जितना ईंधन नष्ट किया वह दुनिया की दो-तिहाई जनसंख्या द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे ईंधन से अधिक है।

— अमेरिका को अपने जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए जितने ईंधन की आवश्यकता है यह उसके दुगने से भी अधिक ईंधन का उपभोग करता है।

— जीविकार्जन के चार दिवसीय सप्ताह के अन्त में अमेरिकी लोग अपने दोस्तों का स्वागत करने व छुट्टियों में मौज-मस्ती करने में जितना तेल फूंक देते हैं वह समूचे महाराष्ट्र राज्य के उद्योगों को चलाने के लिये पर्याप्त से भी अधिक है।

— एक नयी अमेरीकी शस्त्र-प्रणाली बी-१ बमवर्षक को प्रति वर्ष ३० करोड़ से लेकर एक अरब गैलन ईंधन की आवश्यकता रहेगी। जबकि १९७४ में अमेरिका के सब कस्बों और शहरों में सारी बसों ने सिर्फ ३२ करोड़ गैलन ईंधन की खपत की थी।

— अमेरिका में अन्नोत्पादन ऊर्जा पर आधारित होने के कारण आज वहां फसल उगाने, अनाज को तैयार करने, ग्राहक के घर तक पहुंचाने व भोजन को पकाने के कामों पर जितनी ऊर्जा ईंधन के रूप में खप जाती है उतनी ऊर्जा तो उस खाये हुए भोजन में भी नहीं होती।

— एक औसत अमेरीकी खेत में जितनी ऊर्जा खाद के रूप में दी जाती है, लगभग उतनी ही ऊर्जा उस खेत की ट्रेक्टर द्वारा जुताई में खर्च हो जाती है। वस्तुतः मकई उत्पादक प्रति एकड़ खाद के रूप में जितनी ऊर्जा (९,४०,८०० किलो कैलोरीज) खर्च करता है वह गैसोलीन में विद्यमान ऊर्जा (७,९७,००० किलो कैलोरीज) से कहीं ज्यादा होती है।

— अकेले अनावश्यक सीमेंट के निर्माण पर ही हर वर्ष २० अरब किलोवाट घंटे बिजली खर्च होती है, जबकि मोटे तौर पर ३० लाख परिवार प्रत्यक्ष रूप से इतनी ही बिजली की खपत करते हैं।

स्पष्ट है कि उपरोक्त तथ्य केवल औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र—संयुक्त राज्य अमेरिका से सम्बन्धित हैं। जरा कल्पना कीजिए कि विश्व का तेल भंडार खाली हो जाने पर अन्य विकसित राष्ट्रों को कैसी समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। यदि समय रहते शक्ति के वैकल्पिक साधनों की खोज और विकास नहीं किया गया तो जापान जैसे देशों की, जिनके अपने ऊर्जा-स्रोत नहीं है, तो कमर ही टूट जायेगी।

अमेरिका आज भी लगभग एक करोड़ बैरल तेल प्रतिदिन निकाल रहा है, किन्तु यदि इस बात को ध्यान में रखें कि इसकी तेल की मांग १९८५ तक २.०५ करोड़ बैरल प्रतिदिन से बढ़कर २.९७ करोड़ बैरल तक पहुंच जायेगी तो स्पष्ट होगा कि अमेरिका भी भारी मुसीबत में पड़ जायेगा। यदि अरब देश राजनीतिक कारणों से या मात्र आर्थिक कारणों से यह निश्चय कर लें कि अमेरिका को तेल नहीं देंगे तब क्या होगा ? अमेरीकी शासकीय विभाग के ऊर्जा विशेषज्ञ जैम्स ई. एल्केन्स का कहना है कि "मैं नहीं जानता, शायद कोई नहीं जानता।"

उनके अनुसार केवल तीन रास्ते हैं (१) तेल की आपूर्ति की इस अचानक रोक को स्वीकार कर लें जिसका मतलब है अमेरिका की सारी अर्थव्यवस्था का पूर्ण विनाश (२) अरबों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दें और (३) अरबों के आगे घुटने टेक दें—उनकी मांगे मान लें। एल्केन्स कहते हैं "तीनों ही उपाय नितांत असह्य हैं, अमेरिका इनमें से एक को भी नहीं अपना सकता।"

उनकी दुर्दशा

यदि अमेरिका के सामने यह असमंजस है तो अन्य विकसित देशों की हालत तो निश्चय ही और भी खराब है—विशेषकर जहां उद्योगों को ईंधन के लिये पूरी तरह तेल पर निर्भर रहना पड़ता है और इस प्रकार व्यापार और वाणिज्य भी उसी पर टिके हैं। यूरोप का तेलसे सम्बन्ध कटते ही उसका जीवन-स्तर नीचे गिर जायेगा और अंततः इसकी राज-नैतिक शक्ति भी खत्म हो जाएगी। शहरों में लिफ्टों का चढ़ना-उतरना रुक जायेगा, सड़कों पर कारें नहीं दौड़ेंगी, बड़े उद्योगों में चक्के जाम हो जायेंगे। दुनिया पुनः उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल अर्थात् लगभग १८५० में पहुंच जायेगी, जब जलाये जाने वाले ईंधन में ६० प्रतिशत लकड़ी होती थी और बाकी १० प्रतिशत की पूर्ति कोयला करता था।

पश्चिम की आदत खराब हो चुकी है। वहां कृषि उत्पादन ऊर्जा से उत्तरोत्तर बंध गया है, भोजन को पकाने और उसे ठंडा रखने, घरेलू शीत-यन्त्रों को चलाने और उस भोजन को खरीदने के लिये मोटरकार द्वारा दुकान जाने आदि कामों पर जो ऊर्जा खर्च होती है वह भोजन पर खर्च होने वाली कुल ऊर्जा का ३० प्रतिशत व कृषि पर होने वाले ऊर्जा व्यय से साढ़े-तीन गुना पड़ती है। भोजन पर कुल जितनी बिजली खर्च होती है उसका आधे से ज्यादा भाग घरों में भोजन के रख-रखाव पर खर्च होता है। पिछले कुछ सालों के दौरान खाद्य-संबंधी विद्युत उपकरणों की बिक्री में भारी वृद्धि हुई है। यहां तक कि इनमें ढक्कन खोलने की मशीनें भी विद्युत चालित हैं। खाद्य-पदार्थ तैयार करने वाले उद्योगों के चारों ओर एक विशाल संगठन-तन्त्र खड़ा हो रहा है जो अमेरिका में तीन-चौथाई से अधिक परिशोधित तथा पकापकाया और पचा-पचाया खाना लोगों तक पहुंचा रहा है। ऊर्जा भंडार के ह्रास की समस्या का सामना करने के लिये पाश्चात्य जगत तेजी से अन्य ऊर्जा स्रोतों को तलाश रहा है परन्तु अभी तक कोई सफलता उसके हाथ नहीं लगी है। हां, अणु-शक्ति इसका एक हल हो सकता है। किन्तु अणु-शक्ति पर भी किस हद तक निर्भर किया जा सकता है? क्या अणु-शक्ति तेल का विकल्प बन सकती है—जैसे कारें चलाने के लिये? इस बात को साफ तौर पर समझ लिया जाना चाहिए—अणु शक्ति पर चाहे जिस कीमत पर निर्भर नहीं किया जा सकता। कम से कम इस समय तो इसकी बहुत अधिक कीमत अदा करनी पड़ रही है।

एक समय में विशेषज्ञों का कहना था कि सन् २००० तक संयुक्त राज्य के पास १,००० आणविक संयत्र होंगे। किन्तु अब आशा की जा रही है कि उस समय तक केवल दो सौ प्लांट चालू हो सकेंगे, और वह भी इस भय के कारण कि शायद उस समय तेल की एक बूंद भी उपलब्ध न हो।

असल में आज अमेरिका में केवल ७२ आणविक प्लांट चालू हैं। पिछले पांच से ज्यादा वर्षों में उपयोगिता की वस्तुओं के कारण आणविक प्लांटों के तीस से अधिक अनुबंध रद्द किये जा चुके हैं। रिएक्टरों की सालाना मांग जो कि १९७३ में ३६ की चरम सीमा पर पहुंच गई थी १९७४ में घटकर २७ हो गई और १९७५ में सिमट कर सिर्फ ४ रह गई। आखिर क्यों?

हम सब जानते हैं कि अप्रैल १९७९ में अमेरिका में पैनसिल्वेनिया के हैरिसबर्ग के निकट स्थित "थ्री माइल आइलैंड पावर प्लांट" का क्या हुआ। वह ध्वस्त हो गया और रेडियो धर्मी तत्व बीस-बीस मील दूर तक के क्षेत्र में बिखर गये। अनुमानतः ५०,००० से ६०,००० लोगों को शहर छोड़कर भागना पड़ा। यह प्लांट बहुस्तरीय बचाव-प्रणाली से लैस था जिसमें खराबी होते ही सुरक्षा का प्रबंध सुनियोजित था। लेकिन ये सब उपकरण वक्त पर जवाब दे गये।

ये घटनायें भी ध्यान रखने लायक हैं:

जनवरी १९६१: सरकार के "इदाहो फाल्स परीक्षण स्थल" पर प्रायोगिक अवस्था में एक रिएक्टर में विस्फोट हो जाने से तीन तकनीशियन मारे गए।

१९७० में इस खरीद पर पूर्ण विराम लग गया और और निजी कंपनियों ने माल का संग्रह शुरू कर दिया। यदि अपेक्षित रफ्तार से अणुशक्ति पर निर्भरता बढ़ती गई तो आगामी दो दशकों में व्यावसायिक रिएक्टरों में इतना अधिक प्लुटोनियम उत्पादित किया जायेगा जितना इस समय विश्व भर के समस्त अणुबमों में विद्यमान है। यदि आणविक बम की सामग्री को इधर से उधर ले जाने में एक प्रतिशत की भी हानि होती हो तो सन् २००० तक होने वाली कुल हानि में वे चार लाख अणुबम तैयार हो सकते हैं। यदि अणुशक्ति हमारी ऊर्जा समस्या का हल नहीं है तो फिर उसका उत्तर क्या होगा?

तेल का अंधाधुंध इस्तेमाल

अगर वैज्ञानिक और तकनालॉजिस्ट लोग कोई बेहतर हल ढूंढ निकाल पाने में सफल नहीं होते तो यह निश्चित है कि विभिन्न देशों के ऊर्जा बजटों में पैट्रोलियम के पश्चात कोयले का स्थान सर्वोपरि रहेगा। लेकिन यदि विकसित राष्ट्र कोयले का भी तेल की तरह आदतन अधाधुंध इस्तेमाल करेंगे तो विश्व के सामने इतना विकराल संकट खड़ा हो जाए गा जिसकी आज कल्पनाभी नहीं की जा सकती।

जब कोई भी जीवाश्म (फासिल) ईंधन जलाया जाता है तो उसमें से कार्बन डाई आक्साइड पैदा होती है जो उष्मा के वायुमंडल में जाने के मार्ग को अवरूद्ध कर देती है और इससे तापक्रम में वृद्धि होगी।ब्रिटेन की प्रतिष्ठित विज्ञान-पत्रिका "नेचर" के जनवरी १९७८ के अंक में प्रकाशित एक लेख में इस प्रक्रिया, जिसे—"कार्बन डाई आक्साइड ग्रीन हाउस इफैक्ट" कहा जाता है, के हाल के परिणामों का वर्णन इन शब्दों में किया है—

"यदि कार्बन डाई आक्साइड ग्रीनहाउस इफैक्ट" ऊँचे अक्षान्तरों पर पहुँच कर फैल गया, जो कि अब संभव लगने लगा है, तो खनिज ईंधन के अनवरत उपभोग का पहला भयानक परिणाम संभवतः यह होगा कि पश्चिमी एन्टार्कटिक (दक्षिण ध्रुव) प्रदेश की बर्फ पिघल कर बह निकलेगी। समुद्र के जल-स्तर में पांच मीटर तक की वृद्धि होगी। और समुद्र तटवर्ती नगरों में भारी उथल-पुथल होने और फ्लोरिडा और नीदरलैंड जैसे निचले प्रदेशों का पानी में डूबना सुनिश्चित है।"

यह ठीक है कि ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत भी है। उदाहरण के लिए—सौर-ऊष्मा। आज भी साइप्रस के १०,००० घरों में, अमेरिका के ३०,००० घरों में, २,५०,००० इज्रायली घरों में और इन सबसे बढ़कर २० लाख जापानी घरों में पानी गर्म करने के लिए सौर ऊष्मा चालित ताप यन्त्रों का प्रयोग हो रहा है। उत्तरी आस्ट्रेलिया के दूरस्थ क्षेत्रों में नये भवनों में ऐसे सौर जल-ऊष्मण यंत्रों का रखना कानूनन अनिवार्य कर दिया गया है।

१९१६ में डेनमार्क में १३०० से अधिक पवन चालित जैनरेटर काम कर रहे थे। १९४० तक अमेरिका में इनकी संख्या ६० लाख हो गई थी। विद्युतीकरण कार्यक्रम से पहले ग्रामीण अमेरिका के एक बड़े भाग में बिजली प्राप्ति का एक मात्र साधन पवन-चालित टरबाइन ही थे। विश्व मौसम-विज्ञान संगठन का अनुमान है कि २ करोड़ मेगावाट वायु-शक्ति को व्यावसायिक धरातल पर उपलब्ध किया जा सकता है। तुलना के लिए, आज विद्युत उत्पादन की विश्व की क्षमता केवल १५ लाख मेगावाट के लगभग है। आवश्यकता इस बात की है कि ऊर्जा-उत्पादन की समस्त प्रणालियों के प्रति अन्वेषण दृष्टि अपनायी जाए। ऐसी कुछ प्रणालियाँ ये हैं : कोयला-गैसीकरण, कोयला-द्रवीकरण, भू-तापीय ऊर्जा, गोबरादि से तैयार ऊर्जा (Biomass-conversion),ईंधन-सैल (fuel-cells) तेल-शिला (oil-shale), डामर-रेत (tar-sands), हाइड्रोजन गैस और एक सीमा तक लकड़ी।

दक्षिणी कोरिया में ३०,००० से अधिक लघु गोबर-गैस प्लांट हैं। चीन का दावा है कि वहाँ २० लाख गोबर गैस प्लांट काम कर रहे हैं। अमेरिका में मैसाचुसेट्स में बारह कस्बों से एकत्रित कूड़े-करकट को जलाकर कम से कम ७३,००० गैलन तेल की हर रोज बचत होती है। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है और इसका अनुकरण दुनिया भर में अन्य शहरों के द्वारा किया जा सकता है। □

('दि इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया' से साभार)

डा और नीदरलैंड जैसे
डूबना सुनिश्चित है।"
वैकल्पिक स्रोत भी है।
क्मा। आज भी साइप्रस
रिका के ३०,००० घरों
घरों में और इन सबसे
रों में पानी गर्म करने
ताप यन्त्रों का प्रयोग
या के दूरस्थ क्षेत्रों में
ऊष्मण यंत्रों का रखना
गया है।

३०० से अधिक पवन
रहे थे। १९४० तक
लाख हो गई थी।
पहले ग्रामीण
में बिजली प्राप्ति
लत टरबाइन ही थे।
का अनुमान है कि २
व्यावसायिक धरातल
है। तुलना के लिए,
व की क्षमता केवल
है। आवश्यकता इस
की समस्त प्रणालियों
यी जाए। ऐसी कुछ
रण, कोयला-द्रवी-
दि से तैयार ऊर्जा
न-सैल (fuel-cells)
रेत (tar-sands),
तक लकड़ी।

० से अधिक लघु
वावा है कि वहाँ २०
रहे हैं। अमेरिका
से एकत्रित कूड़े-
त ७३,००० गैलन
। यह कोई छोटी
करण दुनिया भर
ा सकता है। □

डयां से साभार)

"तकनॉलॉजी ही व्यवस्था की जननी है"

लोग मुझसे कहते हैं : आपको अपनी मध्यम तकनॉलॉजी को आगे बढ़ाने के पूर्व सारी व्यवस्था में परिवर्तन लाना होगा, पूंजीवाद और नफावाद को खत्म करना होगा, बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भंग करना होगा, सब तरह की नौकरशाहियों को समाप्त करना होगा और शिक्षा में सुधार करना होगा। इसके जवाब में मैं केवल इतना कहना चाहूंगा : व्यवस्था में परिवर्तन का इससे बेहतर रास्ता मैं नहीं जानता कि दुनिया को नई तरह की एक ऐसी तकनॉलॉजी दे दूं, जिससे छोटे लोग भी उत्पादक बनकर अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र बन सकें।

कम लोग इस बात से इनकार करते हैं कि तकनॉलॉजी में परिवर्तन के परिणाम राजनीतिक भी होते हैं, लेकिन साथ ही बहुत कम लोग इस बात का अहसास कर पा रहे हैं कि व्यापक अर्थों में वर्तमान व्यवस्था स्वयं भी तकनॉलॉजी की ही उपज है और उस व्यवस्था में तब तक कोई महत्वपूर्ण बदल नहीं किया जा सकता जब तक कि तकनॉलॉजी में परिवर्तन न लाया जाये। मुझे उस उदासीनता पर घोर आश्चर्य होता है जिसके कारण लोग, यहां तक कि अपने आपको समाजवादी या मार्क्सवादी कहने वाले लोग भी तकनॉलॉजी को बिना किसी आलोचना के स्वीकार कर लेते हैं मानो कि तकनॉलॉजी प्रकृति के विधान का एक अनिवार्य अंग हो। इस भोलेपन के उदाहरण के रूप में ईरान के प्रधानमंत्री का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने हाल ही में (१२ जनवरी १९७६ को पाइंट इंटरनेशनल के साथ) एक भेंट में कहा बताते हैं :

"पश्चिम के कई ऐसे पहलू हैं जिनसे हम ईरान का औद्योगीकरण करते समय विशेष तौर पर दूर रहना चाहेंगे। हम पश्चिम से केवल तकनॉलॉजी लेना चाहते हैं, उसकी विचारधारा नहीं। हम अपनी भूमि पर उनकी विचारधारा का पौधा लगाने से बचना चाहते हैं।" इस कथन का निहितार्थ यह हुआ कि आप तकनॉलॉजी के साथ आने वाली विचारधारा का रोपण किये बिना ही तकनॉलॉजी का रोपण कर सकते हैं, अर्थात् तकनॉलॉजी विचारधारा की दृष्टि से नपुंसक होती है और यह भी कि आप तैयार माल को प्राप्त करना चाहते हैं बिना उस कच्चे माल के जो उस माल की जड़ है, जिसके कारण ही उस माल का निर्माण सम्भव हो सका। क्या यह ऐसा कहने के समान नहीं है कि "मैं अंडों का आयात तो करना चाहता हूं, किन्तु उन अंडों को सेकर मैं चूजे नहीं, बल्कि चूहे या कंगारू प्राप्त करना चाहता हूं"?

लोग अभी भी कहते हैं : असली समस्या तकनॉलॉजी नहीं, व्यवस्था है। संभव है कि किसी व्यवस्था-विशेष ने इस तकनॉलॉजी को जन्म दिया हो। लेकिन अब हमें साफ दिखायी दे रहा है कि जिस व्यवस्था में हम जी रहे हैं वह तकनॉलॉजी की अपरिहार्य उपज है। जब मैं उन समाजों में तुलना करता हूं जो अलग-अलग व्यवस्थाओं में काम करते प्रतीत होते हैं, तो अधिकांश तथ्यों से यही सिद्ध होता है कि जिन-जिन समाजों में एक जैसी तकनॉलॉजी प्रचलित है वहां के लोग लगभग एक जैसा आचरण करते हैं और वे दिन प्रतिदिन एक सांचे में ढलते जा रहे हैं। दफ्तर या फैक्टरी में जो काम एक जगह विवेक शून्य है, वह हर व्यवस्था के अन्तर्गत उतना ही बेवकूफाना माना जाता है।

इसलिए मेरा सुझाव है कि जो लोग एक बेहतर समाज की रचना करना चाहते हैं, एक बेहतर व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं, उन्हें अपने प्रयत्नों को केवल बाहरी ढांचे जैसे — कानून, नियम, सन्धिपत्रों, कर-प्रणाली, समाज-कल्याण, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, इत्यादि में सुधार करने तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये। बेहतर समाज बनाने के लिये इन प्रयासों का परिणाम वैसा ही होगा जैसा कि बिना तली वाले बर्तन में पैसा डालने का होता है। यदि आधार को नहीं बदला गया, जो कि तकनॉलॉजी है, तो वास्तविक ढांचे में सही मायनों में बदल आना संभव नहीं लगता।

ई. एफ. शुमाखर

"गुडबर्क" (पृष्ठ ४३) से उद्धृत

company
r story



ctronic Business Machines



S.G. Iron Castings

turn of the century,
was just a small cloth
icturing company.
nat time, it has reached
crores in annual sales.
is today one of the
nty industrial
in India.
mpany enjoys a clear
ip in many of its varied
s. Its performance in
verse fields is a measure
pability to hold its own
the world's best.

d. DCM

पूंजीवाद, समाजवाद या ग्रामवाद ?

□ डा० भरतन कुमारप्पा

स्वर्गीय डा० भरतन कमारप्पा का जन्म सन् १८९६ में एक रूढ़िवादी ईसाई परिवार में तमिलनाडु के मदुराई नामक स्थान पर हुआ; शिक्षा-दीक्षा मद्रास, हर्ट फोर्ड एडिनबरा और लन्दन में हुई; मद्रास क्रिश्चियन कालेज में दर्शन के प्रोफेसर रहे। बड़े भाई जे० सी० कुमारप्पा की तरह ये भी गांधी जी के संपर्क में आये; दोनों भाइयों ने महात्मा जी के नेतृत्व में स्वतंत्रता-आंदोलन और ग्राम-पुनर्रचना के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया। डा० भरतन कुमारप्पा लगभग दस वर्षों तक 'आल इंडिया विलेज इंडस्ट्रीज एसोसियेशन" के महामंत्री रहे; समाज आयोग (Social Commission) के सदस्य के रूप में इन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का प्रतिनिधित्व किया; स्वदेशी और ग्राम आंदोलन पर अनेकों पुस्तकें लिखीं। १९४६ में पहली बार प्रकाशित उनकी पुस्तक "केपिटलिज्म, सोशलिज्म और विलेजिज्म" के कुछ अंश यहां दिये गये हैं।

व्यक्ति के आत्म विकास अथवा मानव कल्याण के लक्ष्य को सामने रख कर हमें ऐसे सिद्धान्तों का निर्धारण करना है, जिनके आधार पर हम अपनी अर्थ-व्यवस्था का ढांचा खड़ा कर सकें। इस व्यवस्था से हमें और कुछ मिले चाहे न मिले, किन्तु उसके बारे में यह कहने की स्थिति नहीं आनी चाहिये कि वह मानव कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं करती अथवा वह दीनतम व्यक्ति का उद्धार नहीं कर पायी। यह व्यवस्था न केवल उस व्यक्ति का, अपितु उसके पड़ोसियों का भी विकास करने में सक्षम होनी चाहिये। ताकि उस स्थिति में व्यक्ति और समाज, जिसका कि यह अंग है, दोनों एक दूसरे के विकास में से पोषण-रस प्राप्त कर सकें। एक ओर व्यक्ति समूह के कल्याण के लिये अपने व्यक्तित्व को मिटाकर आत्म साक्षात्कार का सन्तोष प्राप्त कर सके तो दूसरी ओर समूह भी क्षुद्रतम सदस्य के कल्याण का प्रयास करते हुए उसी में अपने अस्तित्व की सार्थकता अनुभव कर सके।

यदि किसी समाजवादी का आदर्श यही है, तो फिर ग्रामवाद और कुछ नहीं बल्कि समाजवाद ही है—ऐसा समाजवाद जो विकेन्द्रित है और हिंसा से दूर है, क्योंकि केवल तब ही समाजवादी का यह आदर्श कि "प्रत्येक सब के लिये और सब प्रत्येक के लिये" सत्यसृष्टि में परिणत किया जा सकता है। व्यक्ति का समूह के साथ और समूह का व्यक्ति के साथ पारिवारिक संबंध केवल छोटे-छोटे समूहों में ही विकसित हो सकता है, न कि केन्द्रित विशाल उद्योगों के द्वारा विकसित राष्ट्रव्यापी विशाल नगरों में। अतः ग्रामवाद विकेन्द्रीकरण और अहिंसा के माध्यम से स्थापित समाजवाद से भिन्न कुछ नहीं है।

समाजवाद और पूंजीवाद

पूंजीवाद की समस्या यह रही कि व्यक्ति को स्वार्थों की पूर्ति के लिये खुली छूट दे दी, बिना इस बात की चिंता किये कि औरों का क्या होगा। परिणामस्वरूप इसने स्वार्थपरता, लोभ और सामाजिक अन्याय को जन्म दिया। दूसरी तरफ समाजवाद सबका एक साथ भला करने को उत्सुक तो था लेकिन व्यापक उत्पादन से चिपका रहने के कारण उसने भी अपने प्रयासों के दौरान सामूहिक कल्याण की वेदी पर व्यक्ति की स्वतंत्रता की बली चढ़ा दी। अतः यह कहना अनुचित है कि हम व्यक्ति को समूह से अलग कर के उसका कल्याण कर सकते हैं या समूह का कल्याण व्यक्ति से अलग हो सकता है। इसी कारण ग्रामवाद ने अपना अधिष्ठान इन दो अतिवादों के बीच के रास्ते को बनाया है। और यदि हीगेल का यह दावा सही है कि सत्य न तो "स्थापना" (थीसिस) में निहित है और न "प्रतिस्थापना" (एन्टीथीसिस) में, अपितु उस

समन्वय (सिन्थीसिस) में रहता है जो अपने भीतर "स्थापना" और "प्रतिस्थापना" दोनों के आंशिक सत्यों को समेटे रहता है, तो हम भी यह दावा कर सकते हैं कि हमारे द्वारा प्रस्तुत निदान सही है। समाजवादियों के द्वन्द्वात्मकवाद की भाषा का प्रयोग करें तो हम भी पूंजीवाद (अर्थात् सामाजिक हित की चिन्ता किये बिना अनियंत्रित व्यक्ति स्वातन्त्र्य) रूपी "स्थापना" और समाजवाद (व्यक्ति स्वातन्त्र्य की पूर्ण उपेक्षा करके पूर्ण सामाजिक नियन्त्रण) की 'प्रतिस्थापना' से आगे बढ़कर ग्रामवाद रूपी ऐसे समन्वय की बात कर रहे हैं, जिसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ-साथ सबके कल्याण की आकांक्षा भी विद्यमान है।

शायद यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही, जो अनेक शताब्दियों तक विभिन्न प्रकार के जनसमूहों व संस्थाओं का अनुभव प्राप्त करके परिपक्व बनी हमारी सभ्यता से हमें विरासत में प्राप्त हुआ है, हमें अमर्याद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य प्रदान करने वाले पूंजीवाद के एक चरम छोर व पूंजीवाद का पूर्ण विनाश कर उसकी जगह स्वयं को स्थापित करने के लिये लालायित समाजवाद के दूसरे चरम छोर के बीच झूल रहे अनुभवहीन पश्चिम की जवानी भरी सूखेताओं की राह पर भटकने से बचा सकता है। दूसरी तरफ, ग्रामवाद में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों की अच्छाइयों के साथ न्याय करते हुए दोनों की अच्छाइयों को ग्रहण किया गया है। ग्रामवाद समन्वयात्मक दृष्टि प्रदान करता है और इसलिये हमारी राष्ट्रीय मनीषा की सही अभिव्यक्ति है। इससे भी बड़ी बात यह है कि यह समन्वयात्मक दृष्टि, जो किसी की निन्दा और पूर्ण विनाश करने के बजाय उसका स्वागत करने और संशोधनों के साथ उसे अपनाने का भाव लेकर चलती है, अहिंसा के सिद्धान्त से पूर्णतः सुसंगत है। भारत ने अपनी सीमाओं के भीतर निवास करने वाली अनेक जातियों और उपजातियों के साथ अपने अनुभव में से इस सत्य का साक्षात्कार कर लिया है कि इन सब जातियों और उपजातियों को एक सूत्र में बांधे रखने और उनके बीच आपसी झगड़ों व रक्तपात को टालने का एक ही उपाय है कि उनमें "जियो और जीने दो" की भावना का संचार किया जाए। यह भावना, जो अहिंसा का मूल है, संघर्ष पैदा करने वाले तत्वों को बढ़ावा देने एवं स्थायी बनाने के बजाय उनमें परस्पर सद्भाव व सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती है। इस दृष्टि से ग्रामवाद को अन्य कुछ नहीं, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भारत की अहिंसक अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति ही समझना चाहिए। संघर्ष और हिंसा की एक विषम स्थिति में फंसे हुए और इस निराशापूर्ण स्थिति में से बाहर निकलने के लिए व्याकुल विश्व को आज भारत अपनी समृद्ध परम्परा से प्राप्त इस दृष्टि को ही हल के रूप में प्रदान कर सकता है।

प्राचीन आर्थिक संगठन

जब यह तय करने का सवाल आता है कि ग्रामवाद ने अपने सामने जो आदर्श स्थापित किया है उसे प्राप्त करने का रास्ता क्या हो, तो इस बारे में हम उन सिद्धांतों से मार्ग दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, जो हमारे अपने प्राचीन आर्थिक संगठन की जड़ में विद्यमान थे। हमने देखा है कि उन दिनों व्यक्ति अपने उद्यम को जितना चाहे बढ़ाने को स्वतन्त्र था, किन्तु समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाओं के भीतर रहकर। ऐसा प्रतीत होता है कि न तो निजी उद्यम और न ही सामाजिक नियंत्रण अपने आप में बुरे हैं। निजी उद्यम जब अपनी सीमाओं को लांघ कर दूसरों के अहित में काम करने लगता है तभी इसे बुरा समझा जाता है। इसी प्रकार सामाजिक नियंत्रण भी अपने आप में बुरा नहीं है। किन्तु जब यह नियंत्रण सीमाएं तोड़ कर व्यक्ति की कर्म प्रेरणा पर चोट करने लगता है तभी बुरा बन जाता है। ऐसा होने के कारण हमारा समाधान ऐसा होना चाहिए जिसमें निजी उद्यम और सामाजिक नियंत्रण दोनों के लिए स्थान हो। यदि हम व्यक्ति स्वातन्त्र्य को कायम रखना चाहते हैं जिसे समाजवाद छीन लेता है और साथ ही सामुदायिक हितों की हानि होते भी नहीं देखना चाहते जैसा कि पूंजीवाद में होता है, तो हमें दिखायी देगा कि व्यक्ति को उत्पादन के बारे में अपनी क्षमता के अनुसार सर्वोत्तम ढंग से सोचने और योजना बनाने

की छूट देनी होगी, किन्तु साथ ही समूहगत हित में इस स्वतन्त्रता के उपयोग पर अंकुश भी लगाना होगा। यह दोहरा उद्देश्य हमेशा ध्यान में रखने की जरूरत है और जिस द्विमुखी कार्यक्रम के द्वारा इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है वह है (१) उत्पादन का विकेन्द्रीकरण और (२) स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग।

उत्पादन का विकेन्द्रीकरण

हम पहले ही कह चुके हैं कि दूसरे देशों की अंधी नकल करने से काम नहीं चलेगा। हमारी अर्थरचना हमारे विशिष्ट मानस व हमारे देश की विशिष्ट जीवन पद्धति के अनुरूप होनी चाहिए। जो पौधा किसी खास जलवायु और मिट्टी में खूब फलता-फूलता हो, वह किसी दूसरी जगह ले जाया जाने पर बिलकुल मुरझाकर मर भी सकता है। अतएव आवश्यक है कि उत्पादन के आधुनिक उपायों को केवल इसलिए, क्योंकि वे अन्य देशों में बहुत सफल सिद्ध हुए हैं, अपनाने के पूर्व हमें अपनी विशिष्ट क्षमता और अपने देश में विद्यमान स्थिति का विचार अवश्य करना चाहिए।

हमारा इतिहास बताता है कि एक राष्ट्र के रूप में हमारा मानस व परम्परागत व्यवहार पद्धति का झुकाव विकेन्द्रीकरण की ओर रहा है। हमारी प्राचीन आर्थिक संरचना में, जिसमें ग्राम उत्पादन की अन्तिम इकाई होता था, इस सत्य का दर्शन हमें विशेष रूप से होता है। राजनैतिक धरातल पर भी प्रत्येक गांव पंचायत या ग्राम सभा द्वारा शासित होने के कारण स्व-केन्द्रित होता था। इसी प्रकार हिन्दु जीवन दर्शन भी, जो हमारे देश के अधिकांश लोगों का धर्म है, भक्ति भावना को किसी एक जगह केन्द्रित करने में विश्वास नहीं करता। इसके विपरीत, हिन्दु धर्म इस क्षेत्र में व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार आस्था रखने की पूरी छूट देता है बशर्ते कि उसका आचरण समाज विरोधी न हो। यही कारण है कि हिन्दु धर्म ने कभी भी लोगों को एक निश्चित उपासना पद्धति को स्वीकार करने के लिए विवश नहीं किया जैसा कि ईसाई या इस्लाम जैसे प्रमुख धर्मों में होता है।

इस काअर्थ यह नहीं कि हमारे पास वह संगठन-क्षमता नहीं थी जिसकी केन्द्रीकरण के लिए आवश्यकता पड़ती है। बल्कि हमारी जो भी संगठन-रचना है—उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार, जाति या आत्मनिर्भर ग्राम-अर्थ व्यवस्था—इन सभी का लक्ष्य स्वार्थी या दुष्ट लोगों की गतिविधियों से जन-सामान्य के हितों की रक्षा करना था। इसके विपरीत, व्यापक उत्पादन से साथ जो संगठन तन्त्र जुड़ा होता है वह इस प्रकार का नहीं है। वह लोगों का बड़ी संख्या में एकत्रीकरण करता है, सुरक्षा के लिए नहीं बल्कि आक्रमण के लिए, ताकतवर के लिए कमजोर की रक्षा के लिए नहीं, अपितु शक्तिशाली व अधिक क्षमतावान बनाने के लिए। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि हम कभी अपने में केन्द्रीकरण की क्षमताओं का विकास नहीं कर सकते या पश्चिम कभी भी विकेन्द्रीकरण में सक्षम नहीं हो सकता। आखिरकार मनुष्य का स्वभाव तो दुनिया भर में एक जैसा ही है। केवल अपनी प्राचीन परम्पराओं के कारण ही हमें विकेन्द्रीकरण अपने लिए अधिक उपयुक्त लगता है। हम अपने राष्ट्रीय मानस और सांस्कृतिक अतीत के साथ जुड़े रहकर ही प्रगति के रास्ते पर आगे बढ़ सकते हैं। हम अपने अतीत से नाता नहीं तोड़ सकते क्योंकि वह हमारे वर्तमान का निर्माता है और जो बाद में भविष्य बनकर सामने आयेगा।

उपभोग में स्वदेशी

वस्तुओं का असीमित उत्पादन करके बाद में उन्हें दूसरे लोगों पर थोपना, उनके आर्थिक सन्तुलन को बिगाड़ना व उनके यहां बेरोजगारी पैदा करना, इस प्रवृत्ति को रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि लोगों में स्वदेशी की भावना का प्रसार किया जाये अर्थात् वे वस्तुओं को कहीं और से आयात करने की बजाय उन्हें अपने निकटतम उत्पादक से खरीदना अपना कर्तव्य समझें। इसका मतलब है कि आर्थिक पुनर्रचना का उद्देश्य एक गांव या चार-पांच गांवों के समूह को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आत्मनिर्भर बनाना होना चाहिए, ताकि वहां के निवासियों की सभी मौलिक आव-

श्यकताएं उस समूह के भीतर ही यथेष्ट मात्रा में पूरी हो सकें।

हमारा देश स्वदेशी के सिद्धांत को लागू करने के लिए विशेष रुप से उपयुक्त है, क्योंकि स्वदेशी आर्थिक क्षेत्र में हिन्दुत्व की भावना की अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है।

इसके अलावा हम यह भी देख चुके हैं कि संयुक्त परिवार, जाति एवं ग्राम एकता आदि सामाजिक संस्थाओं ने हमारे अन्दर समूह-निष्ठा व समूह-नियंत्रण का भाव, जो विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था की आधारभूमि है, पहले से भरा हुआ है। पारिवारिक जीवन और पारिवारिक ममत्व की भावना सम्भवतः हमारे देश में पश्चिम, जहां औद्योगीकरण के विकास के कारण ये संस्थाएं शनैः शनैः बिखर रही हैं और उनकी जगह घोर व्यक्तिवाद ले रहा है, की अपेक्षा कहीं ज्यादा मजबूत है। पारिवारिक जीवन स्वदेशी के सिद्धान्त का या अपने निकटतम लोगों के प्रति वफादारी की भावना का, छोटे दायरे में ही क्यों न हो, व्यावहारिक प्रयोग है। अतः व्यापक आर्थिक क्षेत्र में ही स्वदेशी के सिद्धान्त को हमारे लोग सरलता से समझ व लागू कर सकते हैं।

जब उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होगा और इसके बल पर व्यक्ति की आवश्यकताएं निकटतम पड़ौसी द्वारा पूरी की जायेंगी, तो आर्थिक-प्रणाली का आधार ही बदल जायेगा। एक गांव या गांवों का छोटा समूह ही अंततः एक आर्थिक इकाई होगा। □

Our performance in the past is a promise of a brighter future.



We have behind us a history of continuous progress spanning over three decades. From importers to traders, manufacturers and exporters we have had a successfully diversified career, culminating into our pioneering project of making air compressors-the very best that come. Catering to the needs of defence and irrigation, railways and electricity boards; and industries including mines, steel, cement, fertilizer, glass, chemicals, pharmaceuticals, sugar, automobile.

Our past is bright. Our future brighter !

KHOSLA

K. G. KHOSLA COMPRESSORS LIMITED

Regd. Office : 1, Deshbandhu Gupta Road, New Delhi - 110055

Branches : NEW DELHI - BOMBAY - CALCUTTA - MADRAS - BANGALORE - HYDERABAD

भारतीय तकनॉलॉजी की आवश्यकता

□ दत्तोपंत ठेंगड़ी*

हमारे देश के तथाकथित प्रगतिवादी लोग पाश्चात्य सभ्यता की चमक-दमक से अत्यधिक मोहित और प्रभावित हैं। पश्चिम की वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति निश्चय ही प्रभावशाली है। एक विकासशील राष्ट्र होने के नाते, हमारा यह कर्तव्य है कि उनकी भौतिक प्रगति के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करें तथा अनुकरण, परिष्करण, अनुकूलन अथवा अस्वीकृति के हेतु उसकी पूरी छानबीन करें।

लेकिन इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि तकनॉलॉजी का अनुकरण व आयात तब तक संभव नहीं है जब तक उस तकनॉलॉजी को जन्म देने वाले देश अथवा देशों की संस्कृति के कुछ अंश का भी अनुकरण या आयात न किया जाय। विदेशी तकनीकों, कार्य-पद्धति अथवा तकनॉलॉजी को स्वीकार करते समय हमें उन्हें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के अनुकूल बनाने का ध्यान भी रखना होगा। इस बात के जागरूक प्रयास करने होंगे कि जो कुछ विदेशी है उसे परिष्कृत करके अपने देश की मूल संस्कृति का अभिन्न अंग बना लिया जाय।

पश्चिम की संकेंद्रीयता

भारतीयों के विपरीत, पश्चिमी लोगों ने संकेंद्रीयता के भाव का पोषण किया है। केवल इतना ही नहीं, जहां पश्चिम को यह श्रेय जाता है कि उसने ऐसे अनेक वैज्ञानिक और धार्मिक आचार्य पैदा किये हैं जिन्होंने मानव कल्याण के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया, वहीं इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि एक औसत पश्चिम-वासी के पास भावी पीढ़ियों के कल्याण के बारे में सोचने के लिए समय या प्रवृत्ति ही नहीं है। दूरगामी दृष्टि से देख पाने में वह असमर्थ है। बिना इस बात की परवाह किये कि मानव जाति के भविष्य पर इसका क्या दूरगामी परिणाम हो सकता है, वह केवल वही चीज स्वीकार और लागू कर रहा है जो उसके अपने या उसकी पीढ़ी के लिए तत्काल लाभकारी है।

उदाहरण के तौर पर वह अपने प्राकृतिक पर्यावरण का निरन्तर दुरुपयोग कर रहा है। वह विनाशकारी तरीके से प्राकृतिक साधनों का शोषण कर रहा है। निस्सन्देह: इसके कारण पश्चिम पूर्व से आगे बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि डेढ़ शताब्दी से भी कम समय में हम प्रकृति-प्रदत्त विभिन्न ईंधनों के भंडार को पूर्णत: समाप्त कर देंगे। आज वैज्ञानिक बुरी तरह से अणु-शक्ति के प्रयोग की ओर झुक रहे हैं। लेकिन विश्व के पास यूरेनियम और थोरियम के भंडार भी असीमित नहीं हैं। आने वाली पीढ़ी के कल्याण पर इसका क्या प्रभाव होगा ?

माता-प्रकृति

हिन्दुओं ने प्रकृति को हमेशा माता के समान माना है। यहां तक कि जब वे गाय की माता के रूप में पूजा करते हैं और उसका दूध निकालते हैं तो भी इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि बछड़े के लिए पर्याप्त मात्रा में दूध छोड़ दिया जाय और दूध दुहने की प्रक्रिया में रक्तस्राव के कारण गाय की मृत्यु न हो जाय। अपने स्वार्थ साधन के लिए प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल वे भी करते हैं, किन्तु साथ ही इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि आने वाली पीढ़ियों के उपभोग के लिए पर्याप्त मात्रा छोड़ दी जाए और प्रकृति माता का अन्धाधुन्ध दोहन न किया जाये। इससे बहुत से तात्कालिक लाभों से वह भले ही वंचित रहे हों, परन्तु प्रकृति का संतुलन बनाये रखा गया है।

भूमि, जल और वायु मुफ्त होते हुए भी प्रकृति की अमूल्य भेंट हैं। परन्तु पाश्चात्य औद्योगीकरण इन तीनों दिव्य खजानों के साथ हेराफेरी कर रहा है।

---

* भारतीय मजदूर संघ और भारतीय किसान संघ के संस्थापक।

भूमि का विनाश

वैज्ञानिक अब इस बात का अनुभव करने लगे हैं कि रसायनिक कीटनाशकों के अन्धाधुन्ध प्रयोग ने प्रकृति की जीवन-शक्ति का संतुलन बिगाड़ दिया है, रसायनों और अन्य कृत्रिम पदार्थों ने ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के पुनरुत्पादन की प्राकृतिक प्रक्रिया को दोषपूर्ण व अनिश्चित बना दिया है, जबकि इनका उत्पादन पशुओं और पौधों के जीवन के लिए अति आवश्यक है। लंबे समय तक कृत्रिम खादों के अत्यधिक प्रयोग ने उपजाऊ भूमि में किसी भी प्रकार की फसल पैदा करने की क्षमता को समाप्त कर दिया है। अत्यधिक सिंचाई के परिणाम स्वरूप भूमि का लवणीकरण हुआ है और वनोच्छेदन की बढ़ती हुई प्रक्रिया से कुछ तात्कालिक लाभ भले ही हुआ हो, परन्तु उसका दीर्घकालीन परिणाम रेतीले रेगिस्तानों के विस्तार और बड़े पैमाने पर भूमि क्षरण की समस्याओं के रूप में हुआ है।

जल-प्रदूषण

जलस्रोतों के साथ भी खिलवाड़ किया जा रहा है। जापान में औद्योगिक कचरे के कारण नदियों और समुद्र तट का जल खतरनाक सीमा तक बोझिल हो गया है। साइबेरिया का शुद्ध जल कागज और अन्य सोवियत उद्योगों के द्वारा प्रदूषित हुआ है। राइन नदी का जल तो इस कदर संदूषित हुआ है कि उसमें सैकड़ों मील तक न तो मछली और न ही पानी के अन्य जीव जीवित बच सकते हैं। कारखानों से निकले तेल पदार्थों की छः इंच मोटी तह राइन नदी के पानी पर उसके उद्गम से लगाकर कम से कम दो सौ मील तक फैल गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक भी ऐसी नदी या झील का मिलना असंभव हो गया है जो औद्योगिक कचरे या ठोस कूड़े-करकट—जैसे कागज के डिब्बों, गत्ते के आवरणों या अन्य ऐसी बेकार की चीजों के कारण प्रदूषित न हो गया हो। अमेरिका की नदियों में हर रोज कम से कम २,००० टन ठोस कूड़ा-करकट बहाया जा रहा है।

औद्योगीकरण ने औद्योगिक कचरे की विकराल समस्या उत्पन्न कर दी है। बेकार आटोमोबाइल वाहनों के ढांचे, लाखों टन रद्दी, लोहा, इस्तेमाल करके फेंकी हुई शीशे की बोतलें व टीन के ढक्कन आदि के अम्बार लग गये हैं। भस्मीकरण, पुनर्नवीकरण एवं दोबारा इस्तेमाल करने आदि अनेकों उपाय भी इस समस्या का समाधान करने के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए हैं।

वायु प्रदूषण

वायु प्रदूषण ने तो और भी कठिन और खतरनाक समस्या को जन्म दिया है। औद्योगिक केन्द्रों के चारों ओर की वायु में ३००० से भी अधिक नये व विदेशी रसायनिक तत्व पाये गये हैं। सारा वायुमंडल ठोस पदार्थों जैसे राख, रबर के टुकड़ों, एसबसटॉस आदि के अतिरिक्त—कार्बन मोनोक्साइड, और डायोक्साइ, सल्फर डायोक्साइड और विभिन्न प्रकार की नाइट्रोजन आक्साइड आदि गैसों से भरा हुआ है। इन सब से मानवीय स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है जिसके फलस्वरूप दमा, गलशोथ का रोग, फेफड़ों का कैंसर, और वातशोथ जैसी बीमारियां फैल रही हैं।

औद्योगिक केन्द्रों के आसपास के वायुमण्डल में संदूषक पदार्थों के टनों मात्रा में रहने से पौधों और पशुओं के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, यहां तक कि भवन,मशीनों और सड़कों,धुएं और कोहरे का मिश्रण जिसे 'स्मोग' कहा जाता है, मोटरावलम्बी पश्चिम के लिये सरदर्द बनता जा रहा है। जापान जैसा देश भी, जो पश्चिम का अनुकरण करते समय बहुत सावधान रहता है, औद्योगीकरण के दुष्प्रभावों से नहीं बच सका है। टोकियो के कुछ भागों में लोगों को वायु प्रदूषण से बचने के लिये "गैस-मास्क" पहनने को विवश होना पड़ता है।

कितना अन्धानुकरण

श्री मारिस स्ट्रांग ने, जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्टाकहोम में मानवीय पर्यावरण के बारे में सम्मेलन के आयोजन का दायित्व सौंपा गया था, कहा है कि पर्यावरण को केवल दौलतमंद देशों की

समस्याओं से जोड़
पर्यावरण विकासशी
लिए भी उतनी
कथनानुसार, यह
वाली एक मानवीय

क्या हम भी
भी उसी चक्र में भ
की जाती हैं और
जाता है ? पाश्चात्
विकास करने की
पर्यावरण की पूर्ण
समझदार लोग इ
क्या हम भी प्रगति
पहलुओं के प्रति उ
यह प्रश्न इसलिए
क्योंकि हिन्दुओं ने
एक अलग दृष्टि क

इसे पश्चिम के
एक चेतावनी के र

औद्योगीकरण
और वायु के प्रदू
कानून बनाये जाने
सके कि विभिन्न उ
और बड़ी नदिय
व मात्रा क्या है
प्रतिष्ठान की कि
औद्योगिक प्रतिष्ठ
कीमत वसूल करने

इस संदर्भ में
अध्ययन किया
तकनॉलॉजी' (एप्र

पश्चिम को
तकनीकें पसन्द हैं
किया है। साम्य
तकनीक के पक्षध
उद्योगों को प्रोत्स

समस्याओं से जोड़ने की प्रवृत्ति गलत है। क्योंकि पर्यावरण विकासशील देशों अथवा गरीब देशों के लिए भी उतनी ही चिंता का विषय है। उनके कथनानुसार, यह तमाम दुनिया को प्रभावित करने वाली एक मानवीय समस्या है।

क्या हम भी वही रास्ता अपनाएं? क्या हम भी उसी चक्र में भटकते रहें, जहां पहले गलतियां की जाती हैं और फिर उनमें सुधार का प्रयास किया जाता है? पाश्चात्य लोगों ने शीघ्रातिशीघ्र भौतिक विकास करने की अशोभनीय जल्दबाजी के कारण पर्यावरण की पूर्ण उपेक्षा की, और अब उनमें से समझदार लोग इस भूल के लिए पछता रहे हैं। क्या हम भी प्रगतिवाद के नाम पर पर्यावरण के पहलुओं के प्रति उतने ही विस्मरणशील हो जाएं? यह प्रश्न इसलिए और भी सार्थक बन जाता है, क्योंकि हिन्दुओं ने प्रकृति माता को दुहने के प्रति एक अलग दृष्टि को अपनाया है।

इसे पश्चिम के अनुकरण की अंधी दौड़ के विरुद्ध एक चेतावनी के रूप में लिया जाना चाहिये।

औद्योगीकरण की वर्तमान अवस्था में भी जल और वायु के प्रदूषण का नियंत्रण करने के लिए कानून बनाये जाने चाहिए ताकि यह तय किया जा सके कि विभिन्न औद्योगिक नगरों में वायु प्रदूषण और बड़ी नदियों में जल प्रदूषण का प्रकार व मात्रा क्या है, इस प्रदूषण में प्रत्येक औद्योगिक प्रतिष्ठान की कितनी जिम्मेदारी है, और विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानों से प्रदूषण की सामाजिक कीमत वसूल करने का तरीका क्या हो।

इस संदर्भ में एक और विषय का गहरा अध्ययन किया जाना चाहिये। वह है 'उपयुक्त तकनॉलॉजी' (एप्रोप्रियेट टेकनॉलॉजी)।

पश्चिम को बड़े पैमाने पर उत्पादन की तकनीकें पसन्द हैं और उसने उनका विकास भी किया है। साम्यवाद और पूंजीवाद दोनों इसी तकनीक के पथधर हैं। वे अधिक पूंजी वाले, विशाल उद्योगों को प्रोत्साहन देते हैं। कम से कम लोगों के द्वारा अधिक से अधिक उत्पादन, यही पश्चिम की रणनीति है। किन्तु क्या यह भारतीय परंपराओं, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल है?

यह तो सत्य है कि इस समस्या के प्रति हमारा दृष्टिकोण व्यावहारिक होना चाहिये। जो बड़े पैमाने के उद्योग अब तक स्थापित हो चुके हैं, उन्हें अब हम उखाड़ नहीं सकते। भविष्य की योजनाओं में भी जहां-जहां अर्थनीति की आवश्यकताओं की मांग होगी वहां-वहां बड़े पैमाने की उत्पादन की तकनीकों को स्वीकार करना पड़ेगा। किसी भी नयी रचना का विचार करते समय उसमें मशीनीकरण को उसका उचित स्थान दिया ही जाना चाहिए।

छोटे पैमाने के उद्योगों का औचित्य

किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि बड़े पैमाने के उद्योगों का विस्तार ही औद्योगीकरण का एकमात्र प्रकार नहीं है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि अधिक उत्पादन के लिए उद्योगों का विशालकाय होना आवश्यक नहीं है। अधिक उत्पादन की वर्तमान तकनीकों का रोजगार के अवसरों के साथ कोई मेल नहीं है, जबकि इस समय हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है। मशीनीकरण के प्रकार भिन्न हो सकते हैं—मशीनीकरण के रूप अलग-अलग हो सकते हैं। इनमें से कुछ आज के प्रचलित पश्चिमी प्रकार से भिन्न हो सकते हैं। लघु उद्योगों के पक्ष में ये तथ्य भी जाते हैं कि स्वचालित मशीनें, कृत्रिम मिश्र धातुएं, ठप्पा ढालने की विधियां, नाप तौल के लघु यन्त्र एवं ऊर्जा वितरण की नयी विधियों के विकास आदि के बारे में नयी तकनीकी खोजों के कारण लघु उद्योगों द्वारा उत्पादन की तकनीकी असुविधायें अब बहुत कम हो गयी हैं।

एकांगी आयोजन

भारी उद्योग थोप तो दिए गए हैं पर वे शेष अर्थव्यवस्था के साथ समरस नहीं हो पाए हैं, पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन का उपभोक्ता वस्तुओं के

उत्पादन के साथ कोई तालमेल नहीं बैठाया गया है। औद्योगिक क्षेत्र, कृषि क्षेत्र का सहयोगी न होकर उसके समानान्तर चल रहा है। गैर पूंजीकरण व रोजगार के अवसरों में कमी करने जैसी प्रक्रियाएं इस लिए शुरू हुई हैं क्योंकि मनुष्य, कच्चा-माल, धन, मशीन, प्रबन्ध, प्रेरणा और बाजार—इन सात तत्वों का पूर्ण और समग्र रूप में विचार नहीं किया गया। भारतीय परिस्थितियों में विदेशी तकनॉलॉजी के प्रवेश ने न केवल बेरोजगारी की समस्या को और बढ़ा दिया है, अपितु कारखानों की पूरी क्षमता का उपयोग न हो पाने की समस्या भी उत्पन्न की है। इस सबसे औद्योगिक नियोजन की ऐसी तस्वीर उभर कर सामने आती है, जिसमें से उपलब्ध साधनों का पूर्णतम उपयोग करने व राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान नहीं रखा गया है, जो असन्तुलित व एकांगी है।

भारतीय तकनॉलॉजी क्या हो ?

भावी योजना बनाते समय ऐसी विशुद्ध भारतीय तकनॉलॉजी के विकास पर ज्यादा जोर देना होगा जिसमें उत्पादन की प्रक्रिया ऊर्जा-चालित होते हुए भी विकेन्द्रीकरण की दिशा में अग्रसर हो अर्थात् जिसमें फैक्टरी के बजाय घर को उत्पादन का केन्द्र बनाया जाय। इन नई तकनीकों से उत्पादन के हमारे साधनों का कम से कम गैर-पूंजीकरण होना चाहिए। हमारे कारीगरों को परम्परागत तकनीकों से नई तकनीकों की ओर जाने में बहुत कठिनाई नहीं होनी चाहिए। लघु उद्योगों को प्रबन्ध करने की जो भी कार्यकुशलता आज उपलब्ध है, वह नई व्यवस्था के अन्तर्गत बेकार नहीं जानी चाहिए। कम पूंजीवाले व्यक्तियों को भी पूंजी लगाने का अवसर मिलना चाहिए।

नई तकनॉलॉजी हमें आत्मनिर्भर बनाने वाली होनी चाहिए और उसके द्वारा मशीनों, कलपुर्जों, पूंजी, तकनीशियनों इत्यादि चीजों के बारे में हमारी दूसरे देशों पर निर्भरता समाप्त होनी चाहिए। जहां कहीं अनिवार्य हो वहाँ बड़े पैमाने के उद्योग लगाने ही पड़ेंगे। लेकिन प्राथमिकता उत्पादन की विकेन्द्रित प्रक्रिया को देनी होगी, ताकि उससे ग्रामीण और शहरी भारत के बीच की खाई को पाटा जा सके, कृषि और उद्योग के बीच अधिकाधिक समन्वय पैदा हो सके और बड़े व लघु उद्योग एक दूसरे के पूरक बन सकें।

हमारे तकनीशियनों की भूमिका

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारे तकनीशियनों को संसार भर की औद्योगिक तकनॉलॉजी का गहन अध्ययन करते हुए उसे आत्मसात् करना पड़ेगा। उन्हें विदेशी तकनॉलॉजी के वे अंश ढूंढकर लागू करने होंगे जो भारतीय परिस्थितियों के लिए सबसे उपयुक्त हैं। साथ ही उत्पादन की परम्परागत तकनीकों में ऐसे परिवर्तन करने होंगे, जो हमारे कारीगरों के लिए लाभप्रद हों और जिन्हें सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सके। जिनसे बेरोजगारी बढ़ने का जोखिम न हो, उपलब्ध प्रबन्धकीय और तकनीकी कुशलता नष्ट न हो और उत्पादन के वर्तमान साधनों का पूर्णतः गैर-पूंजीकरण हो।

इस कार्य में प्रमुख बाधा हमारे नेताओं की मानसिक गुलामी है। हम ऐसी किसी तकनॉलॉजी को प्रशंसनीय नहीं मानते जिसका आयात न किया गया हो। यही कारण है कि डा० शुमाखर द्वारा प्रस्तुत मध्यवर्ती तकनॉलॉजी विचार को भी अपेक्षित गम्भीरता से नहीं लिया गया। इस ब्रिटिश अर्थशास्त्री का कहना है कि तकनॉलॉजी ऐसी होनी चाहिए जो उपलब्ध पूंजी और श्रम के अधिकतम उपयोग का हमारे देश में विद्यमान पूंजी के अभाव और भारी बेरोजगारी के आर्थिक सत्य के साथ तालमेल बैठा सके। इस तकनॉलॉजी के द्वारा औद्योगिक विकास में लगने वाले प्रत्येक रुपये में रोजगार के अवसर पैदा करने का सामर्थ्य सौ गुना बढ़ना चाहिये, किन्तु साथ ही उत्पादन की प्रति इकाई दर में वृद्धि नहीं होनी चाहिए।

मध्यवर्ती तकनॉलॉजी

डा० शुमाखर के अनुसार मध्यवर्ती तकनॉलॉजी में यह क्षमता होनी चाहिए कि वह रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने के साथ-साथ औद्योगिक कुशलता में तनिक भी कमी न आने दे। इस उद्देश्य की

पूर्ति के लिए इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर शोध करना आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर कहां-कहां यह संभव है कि कुशलता में कोई कमी न आने देते हुए भी उत्पादन यन्त्र के आकार को छोटा किया जा सकता है। तकनॉलॉजी के बल पर यह कहां तक संभव है कि गांवों से शहरों की ओर आने वाले लोगों की संख्या कम की जा सके? क्या इस आधार पर यह संभव है कि छोटे कस्बों और गांवों में नए उद्योगों को स्थापित किया जाये जिनमें स्थानीय पूंजी, स्थानीय श्रम, स्थानीय कच्चा-माल, स्थानीय प्रबन्ध-कुशलता और स्थानीय उद्यम-प्रक्रिया का इस्तेमाल किया जा सके? क्या ऐसे उद्योग आत्मनिर्भर बन सकते हैं, यदि कुशल बाजार-व्यवस्था, समुचित आधारभूत-ढांचा और स्वदेशी की भावना की पुनर्स्थापना का सहारा उन्हें मिले? क्या क्षेत्रानुसार नई योजना बनाना व्यावहारिक एवं उचित होगा? अच्छा तो यह रहेगा कि इस दृष्टि से हम पहले कुछ निश्चित उद्योगों जैसे चमड़ा या चीनी-मिट्टी उद्योग को छांट लें और उनके भविष्य पर मध्यवर्ती तकनॉलॉजी के सम्भावित प्रभावों का जायजा लें। यह अध्ययन के नए रास्ते खोल सकता है, नए विचार सुझा सकता है और हमारी अर्थव्यवस्था की क्षमताओं व आवश्यकताओं के अनुरूप विशुद्ध देशी तकनॉलॉजी के विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। यह सत्य है कि उत्पादन की सभी शाखाओं में प्रति कर्मचारी पूंजी की मात्रा समान नहीं हो सकती, यहां तक कि एक ही उद्योग के भीतर भी पूंजी व श्रम का समान अनुपात निर्धारित करने की दृष्टि से कोई अकेली तकनॉलॉजी सदैव लाभकारी नहीं हो सकती। तकनॉलॉजी के कई स्तर साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। लेकिन हमें भारतीय तकनॉलॉजी के ऐसे विकास और उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग पर जोर देना चाहिए जिससे आय की वृद्धि के साथ-साथ प्रत्येक स्तर पर रोजगार के अवसरों की भी वृद्धि हो सके।

शहरीकरण की दौड़

स्वदेशी तकनॉलॉजी का विकास केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि हमारी संस्कृति का अस्तित्व और विकास भी इस समस्या से गहरा जुड़ा हुआ है। ऐसा नहीं है कि कोई भी संस्कृति अपने वर्तमान सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन से, जोकि मुख्यतया उत्पादन की तकनीकों पर निर्भर करता है, सम्बन्ध विच्छेद करके केवल शून्य में पनप सके। विदेशी तकनॉलॉजी कभी अकेले नहीं आती। वह अपने जन्मदाता देश की संस्कृति को भी अपने साथ लाती है। पश्चिम से आयातित विशाल उत्पादन वाली तकनॉलॉजी के बारे में हमारा अनुभव यही रहा है।

इन तकनीकों का परिणाम पूंजी और श्रम के शहरी क्षेत्रों में केन्द्रीकरण में हुआ है। इसके कारण परम्परागत संयुक्त परिवार प्रणाली और गांव की स्वायत्त जिन्दगी में व्यवधान उत्पन्न हुआ है। तीव्र गति से हो रहे शहरीकरण ने जो समस्याएं पैदा की हैं उनका स्वरूप सांस्कृतिक होने के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक भी है।

भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा और विकास पूर्वकाल में इसीलिए हो पाया क्योंकि तीन विभिन्न स्तरों पर, अर्थात् वंशानुगत परिवार, औद्योगिक या व्यावसायिक परिवार और क्षेत्रीय परिवार के स्तर पर पारिवारिक वातावरण के संरक्षण व संवर्धन का प्रबन्ध किया गया था।

एक बार शहरीकरण की प्रक्रिया शुरू होते ही ग्रामीण क्षेत्रों में वंशानुगत परिवारों का विनाश शुरू हो जाता है और औद्योगिक क्षेत्रों में एक स्वस्थ पारिवारिक इकाई का गठन बहुत कठिन हो जाता है। परिणामस्वरूप वे संस्कार जो पारिवारिक माध्यम से सहज रूप में एक पीढ़ी से दूसरी को मिल जाते थे, अब नए औद्योगिक वातावरण में आगे नहीं पहुंच रहे हैं। पुरानी व्यवस्था तो दूर रही, ऐसी किसी नयी प्रणाली का भी अभी जन्म नहीं हुआ है जो इन उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। परम्परागत, व्यावसायिक या औद्योगिक परिवारों का अस्तित्व पहले ही निरर्थक बन चुका है।

परम्परागत औद्योगिक परिवार

आज न गांव में न ही शहर में कोई औद्योगिक या व्यावसायिक परिवार बाकी बचा है। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारी संस्कृति के अस्तित्व की रक्षा काफी हद तक सामाजिक-आर्थिक ढांचे पर आधारित रही है और व्यावसायिक या औद्योगिक परिवार इस ढांचे का अभिन्न अंग रहे हैं। यहां फिर हमारे सामने पुनः "अजन्मेकल और मृत कल" की समस्या खड़ी हो जाती है। हमारी क्षेत्रीय इकाइयां वे क्षेत्रीय परिवार थे, जिनके अन्तर्गत उस क्षेत्र में बसे हुए सब वंशानुगत परिवार सम्मिलित थे। ये तीनों अंग अपने-अपने स्तर पर स्वायत्तता का उपयोग करते थे। वंशानुगत संयुक्त परिवार को अपने आंतरिक प्रशासन को चलाने के लिए विधि-विधान बनाने की पूरी स्वतन्त्रता थी। प्रत्येक औद्योगिक परिवार के अन्तर्गत वे सब व्यक्ति आते थे जिनका किसी वस्तु या सेवा के उत्पादन, वितरण अथवा विनिमय से सम्बन्ध होता था। आंतरिक प्रबन्ध के लिए औद्योगिक परिवार को पूरी स्वतन्त्रता थी। गांव या परगना स्तर पर भी पारिवारिक जीवन स्वायत्त था। यह सुनिश्चित है कि इन तीनों अंगों का अपना अनुशासन था जो परस्पर विरोधी नहीं था और जो राष्ट्रीय अनुशासन ढांचे के अन्तर्गत था। प्रत्येक अंग को अपने आंतरिक प्रशासन में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी लेकिन अपने से वरिष्ठ अंग के अधिकार क्षेत्र में वह अनुशासन का पालन करता था। इन तीनों इकाइयों को मिला कर ही भारत का सामाजिक-आर्थिक ढांचा बना था। अब तक का हमारा अनुभव हमें बताता है कि विशाल उत्पादन तकनॉलॉजी इन तीनों इकाइयों के अस्तित्व के लिए पोषक नहीं है।

नई तकनीक की आवश्यकता

अतः यह अनिवार्य हो जाता है कि सबसे पहले उत्पादन की ऐसी नई प्रणाली की खोज की जानी चाहिए जो इन सामाजिक अंगों को जीवित रखने में सहायक सिद्ध हो और द्वितीयतः ऐसे नए रास्ते निकाले जायें जिनसे विशाल उत्पादन को अपनाने वाली औद्योगिक क्षेत्रों में इन इकाइयों को पुनरुज्जीवन प्राप्त हो सके। □

यदि आज सर्वस्वत्यागी संन्यासी लोक कल्याण की प्रेरणा से, गांव-गांव घूमें, शिक्षा का प्रसार करें, चांडाल-पर्यन्त सभी लोगों की जीवन दशा सुधारने के विविध प्रयत्नों में जुटें और इसके लिए वे प्रवचनों, मानचित्रों, कैमरों, ग्लोबें आदि आधुनिक दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग करें—तो क्या इससे धीरे-धीरे विकास का सूर्योदय नहीं होगा? यदि पर्वत मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद को स्वयं पर्वत के पास जाना पड़ता है। भारत की दरिद्र जनता इतनी गरीब है कि वह हमारे विद्यालयों और पाठशालाओं तक भी आने में असमर्थ है। हमें शिक्षा को गांव-गांव में हर कुटिया के द्वार तक ले जाना होगा।

—स्वा० विवेकानन्द

उज्ज्वल भविष्य की खोज

□ विलियम इर्विन थाम्पसन*

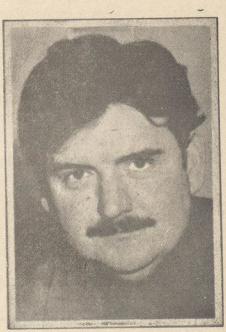

एक रोमानी कल्पना आज के अमरीकी मानस पर छाई हुई है—ऐसे विकेन्द्रित राष्ट्र-जीवन में आस्था जिसका परिणाम हो एक नवीन "औद्योगिक युगोत्तर ग्राम-समाज"। ये 'ग्राम-समाजी" अग्रचिंतक प्रारंभ में तो अत्यन्त अल्पसंख्यक थे परन्तु पिछले कुछ वर्षों में उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। लघु तथा "उपयुक्त" औद्योगिकी पर आधारित प्रायः एक नवीन जीवनशैली को लेकर उन्होंने अनेक प्रायोगिक-समुदायों की स्थापना "धरती पर सहज जीवन" के अनुसंधान प्रकल्पों (पाइलेट-प्रांजेक्ट्स) के रूप में की है। इनमें से एक अत्यन्त सुप्रसिद्ध प्रकल्प "लिंडिसफार्ने" है, जिसका नामकरण योरपीय इतिहास के "अंधेरे युग" में श्रद्धा और ज्ञान की दीप शिखा को प्रज्वलित रखने वाले एक साधु-आश्रम के नाम पर है। लिंडिसफार्ने की स्थापना एक दशक पहले विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए कई प्रमुख अमरीकियों द्वारा की गई थी। इस लेख के रचयिता और इतिहासकार विलियम इर्विन थाम्पसन के नेतृत्व में इस प्रकल्प के संस्थापकों में जीव-शास्त्री जोनस सॉक, मानव-विज्ञान शास्त्री ग्रेगरी बेटेसन, भौतिकशास्त्री फ्रिटजोव काप्रा, अर्थशास्त्री स्व० शूमाखर ('स्माल इज ब्यूटिफुल' के लेखक) और अंतरिक्ष यात्री रसेल श्वेकार्ट सम्मिलित थे। लिंडिसफार्ने के वासी सौर और वानस्पतिक ऊर्जा का उपयोग अपनी बस्ती में करते हैं। वे एक नई "जागतिक संस्कृति" का आविष्कार करने में प्रयत्नशील हैं एक ऐसी जीवन प्रणाली, जो संपूर्ण मानव जाति को एक उज्ज्वल भविष्य के लिये दिशा संकेत प्रदान कर सकती है। अमेरिका में उत्स्फूर्त ऐसे अन्यान्य समुदायों के समान लिंडिसफार्ने भी इस भौतिकवादी युग में आध्यात्मिक मूल्यों के पुनरुत्थान के प्रति समर्पित है।

लिंडिसफार्ने में पूर्णकालिक कार्यकर्ता बनने से पहले विलियम इर्विन थाम्पसन कॉर्नेल विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रवक्ता और मैसाचुसेट्स औद्योगिकी संस्थान में मानविकी विभाग के प्रोफेसर रहे हैं। उन्होंने इस आंदोलन पर और विशेष रूप से लिंडिसफार्ने के संबंध में अनेक पुस्तकें व लेख लिखे हैं। प्रस्तुत लेख "क्वेस्ट" नामक पत्रिका में प्रकाशित लेख का सारांश है।

औद्योगिक युगीन तथा परवर्ती नगरों के उदय की पौराणिक अन्तर्कथा अत्यन्त प्राचीन है, यद्यपि अब उसकी विघटन-प्रक्रिया भी आरंभ हो चुकी है। वस्तुतः मानव संस्कृति के विकास की अनुभूति की यह धारा हमें सीधे मेसोपोटामिया की नागरी-क्रांति तक पहुंचा देती है। प्राचीन "सुमेर" के नगरों के उदय और तत्कालीन सभ्यता के अध्ययन से, इस पूर्ववर्ती समाज की संस्कृति में प्रतिबिंबित देशकाल चित्रण में होने वाला नाटकीय परिवर्तन समझ में आ सकता है।

आखेट तथा संग्रहजीवी समाजों के लोग उस अवस्था में रहते हैं जिसे मानवशास्त्री "ऋतु-चक्र"

* कापीराइट (सी) १९७७ एम्बेसेडर इन्टरनेशनल कल्चरल फाउण्डेशन। क्वेस्ट पत्रिका से विशेष अनुमति द्वारा पुनर्मुद्रित।

(सीजनल राउंड) कहते हैं। कबीलों के गिरोह का प्रकृति के साथ बड़ा नाजुक सामंजस्य होता है। वह काल-प्रवाह के साथ देशांतर-गति करता है। जब सालमन मछलियों की बाढ़ आती है, तो वह नदी के किनारे पहुंच जाता है, और जब जंगली घास बटोरने की ऋतु आती है तो वह उधर चल देता है। वह वार्षिक ऋतु-चक्र के साथ लय मिलाकर देशाटन करता है। यह चक्कर कभी सीधी रेखा का रूप धारण नहीं करता। कबीले एक स्थान पर टिक कर प्रकृति को मानव की आवश्यकतानुसार ढालने का दुष्प्रयत्न नहीं करते।

वनस्पति और पशुओं को घरेलु बनाने, सरिता-प्रवाहों को नियंत्रित करने तथा एक स्थान पर बसने की दृष्टि से समाज की पुनर्व्यवस्था करने का प्रयास करके शहरी मानव ने ऋतुचक्र की परिधि के चारों ओर भ्रमण करने वाले मुक्त जीवन के बदले ऐसे बंधे हुए जीवन को स्वीकार कर लिया है जो एक वर्तुलाकार सीमा के भीतर बन्द है और जिसकी दौड़ परिधि व केन्द्र को जोड़ने वाली त्रिज्या से बंधी हुई है।

केन्द्र और परिधि का द्वन्द्वात्मक तनाव ही सभ्यता-तंत्र का मूलाधार है। केन्द्रपरक बस्ती का पोषण करने वाली ऊर्जा-व्यवस्था की भाषा में कहना हो तो ऊर्जा के साधन परिधि से निःसृत होते हैं, पर उनका नियंत्रण केन्द्र से होता है—ऊर्जा का वह स्रोत चाहे नील या दजला नदी का जल-प्रवाह हो अथवा अलास्का का तेल प्रवाह।

केन्द्र पर बैठे हुए श्रेष्ठि वर्ग का उन समस्त सूचनात्मक रहस्यों पर एकाधिकार होता है, जिनकी सहायता से साधनों का नियन्त्रण, उपयोग और प्रबन्ध सम्भव है। इस श्रेष्ठि वर्ग के पास ही सब जानकारी लिपिबद्ध होती रहती है—वह चाहे पाषाण फलकों पर कीलाक्षरों में उत्कीर्ण किया हुआ मन्दिरों के धान्यागार का लेखा हो अथवा नील प्रभृति सरिताओं द्वारा सिंचित भूमि का क्षेत्रफल बतानेवाली भूसर्वेक्षण ज्यामिति हो। व्यक्तिगत रूप से आत्मसात् न की हुई सूचनाओं का विशाल संचय ही नगरों के अस्तित्व को संभव बनाता है। कबीलों की श्रुत-संस्कृति में ज्ञान लोकजीवन में पूरी तरह घुलमिल जाता है। उनके यहां "तथ्य" नहीं, केवल अनुभूतियां और संस्कार होते हैं। जब हम पाषाण-फलकों पर लिखना आरम्भ करते हैं और लिपिकारों की शृंखला खड़ी करते हैं, तभी हमें "तथ्य" प्राप्त होते हैं कि कितने धान्य-पात्र कितने मन्दिर-कलश आदि-आदि। तब ज्ञान मस्तिष्क और शरीर से वियुक्त होकर संस्थाओं की सम्पत्ति बनने लगता है।

नगर के भूदृश्य में शक्ति का प्रदर्शन होता है। उसके भवन राजाओं की शक्ति के परिचायक हैं तो उसके शिलास्तंभ सेनाओं की विजयों के स्मृति-चिन्ह। नगर कबीली समाज को भंग करके व्यक्तिगत दर्प के उद्रेक को सम्भव बनाता है—यही दर्प, जो मेरी दृष्टि में, अब बेलगाम होकर अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसी संस्कृति और अर्थव्यवस्था को जन्म दे रहा है, जिससे पृथ्वी के विनाश का संकट खड़ा हो गया है।

हम औद्योगिक युगोत्तर संस्कृति को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें—चाहे इसका पोषण करने वाली ऊर्जा-व्यवस्था के, चाहे इसके सूचना-तन्त्रों के, चाहे इसके लोकाचार के— हमें यह स्पष्ट दिखायी देगा कि वह अपने चरम-बिंदु पर पहुंच चुकी है। युगान्त तक पहुंचने की जल्दी के कारण ही इसके ऊर्जा-वलम्बी अधिकांश शहरी केन्द्रों में विशालता और दौड़-भाग का वर्तमान खतरनाक दृश्य खड़ा हो गया है। जिस सम्पूर्ण तन्त्र-पुर ये केन्द्र निर्भर हैं, उसका आत्मनाश होने के पूर्व ये अपना मार्ग बदल पायेंगे, इसकी भी कोई सम्भावना दिखायी नहीं देती।

परा औद्योगिक संस्कृति

परन्तु कुछ छोटी-छोटी सीमा चौकियों में—जैसे वर्मान्ट, न्यूजीलैंड, स्काटलैंड अथवा कनाडा के प्रिंस एडवर्ड द्वीप में—किसी नयी सुगबुगाहट के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। इस सुगबुगाहट में विद्यमान है एक अभिनव संरचना के आद्य-बिम्बों का एक नवीन आशापूर्ण भविष्य के निर्माण का पूर्वाभास। इसे "औद्योगिक

राष्ट्र अपने पृथक् अस्तित्व एवं स्वतन्त्र प्रभुसत्ता को स्थिर रखने के लिए ज्यों-ज्यों अधिकाधिक शस्त्रास्त्रों का निर्माण करेंगे, त्यों-त्यों यही शस्त्रास्त्र उन्हें एक नयी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा जागतिक व्यवस्था में एकत्र आने के लिए विवश कर देंगे।

दूसरी क्रियाशील सामाजिक शक्ति है नगरों के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया। उपग्रहों और इलैक्ट्रानिक माध्यमों से प्रसारित सूचना प्रवाह के वर्तमान दूसरे दौर का अर्थ है नगरों के इतिहास-प्रसिद्ध चिर रिचित स्वरूप का अन्त। केन्द्र और परिधि के बीच का तनाव उस नई संस्कृति के द्वारा मिटाया जा सकता है जो हमें फिर से प्रकृति की गोद में ले जायेगी, न कि उस अवस्था में जिसे कार्ल मार्क्स ने 'देहाती जीवन की मूढ़ता' कहा था। यह संक्रमण 'परा-औद्योगिक ग्राम' की ओर होगा। ग्रीव-मण्डल, महासागर अथवा अतिसंवाहक के समान संस्कृति भी आज एक जटिल परिचक्री विद्युत्-धारा या द्रव-स्फटिक बनती जा रही है। ब्रिटिश दार्शनिक अल्फ्रेड नॉर्थ, व्हाइटहेड ने जिसे 'आकाश की परिग्राही एकता, कहा है, उसमें प्रत्येक बिन्दु प्रत्येक दूसरे बिन्दु से गुंथा हुआ है। और इसलिए सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से एक नन्हा सा समुदाय भी उतना ही महत्वपूर्ण हो सकता है, जितना कि लन्दन या न्यूयार्क जैसे महानगर। पुनरपि केन्द्र सब जगह है, और श्रेष्ठिवर्ग उस पर हावी नहीं है।

वृक्षों से पुनः वार्तालाप

तीसरी क्रियाशील सामाजिक शक्ति है—तकनॉलॉजी का लाघवीकरण। मेरी आस्था है कि मानव की तुलना में यन्त्र के इस आकार परिवर्तन में सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से गम्भीर अर्थ निहित हैं। मशीनें छोटी-छोटी होंगी तो हम वृक्षों का वार्तालाप फिर से सुन सकेंगे। तब संस्कृति और प्रकृति के सम्बन्धों में भी एक नाटकीय परिवर्तन आयेगा। तकनॉलॉजी के लाघवीकरण से हम औद्योगीकरण के दुष्परिणाम को भी बहुत कम कर सकेंगे। धातु निर्मित वस्तुओं से ज्ञान-प्राप्ति की ओर, पूंजी प्रधान विशालताप्रिय अर्थरचना से क्षेत्रीय उत्पादन-प्रधान सामुदायिक अर्थव्यवस्था की ओर, उपभोक्ता जीवन-मूल्यों से आध्यात्मिक मूल्यों की ओर संक्रमण के द्वारा प्रकृति के साथ औद्योगीकरण का वर्तमान असन्तुलन समाप्त हो सकता है और आधुनिक समाज के स्नायविक तनाव और संत्रास ढीले होने लगते हैं। लाघवीकरण से विपरीत प्रक्रिया का अर्थ होगा अंधाधुन्ध विकास, नौकरशाही और यन्त्रावलम्बी मानवों की ऐसी यान्त्रिक संस्कृति जिसमें प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु को आदिमकालीन अविकसित एवं उपेक्षणीय समझा जायेगा।

चौथी सामाजिक शक्ति है—चेतना का अन्तर्मुखीकरण। आधुनिक औद्योगिक जगत के उद्भव का परिणाम हुआ है कि मध्ययुगीन धार्मिक भावना अन्तर्मुखी गति को छोड़कर बहिर्मुखी विस्तारवाद की ओर बह निकली, जिसके प्रतीक हैं अन्तरिक्ष का अनुसन्धान व अन्तरिक्ष उपनिवेशों की स्थापना के प्रयास। इन विस्तारवादियों की धारणा है कि प्रत्येक अगले क्षितिज में पिछले क्षितिज की हमारी सब निराशाओं का हल विद्यमान है। किन्तु हमें इस अंधाधुंध विस्तारवादिता के अन्त का आरम्भ दिखाई दे रहा है।

चेतना का यह अन्तर्मुखीकरण जीवन-मूल्यों में ऐसा परिवर्तन उत्पन्न करता है कि हम सफल जीवन का स्रोत बाह्य जगत के स्थान पर अन्तर्जगत में देखने लगते हैं। और तब समूचा भूमंडल, न कि राष्ट्र-राज्य, हमें प्रतीक रूप से अपना व्यापक परिवेश लगने लगता है। किन्तु इस जागतिक अनुभूति की ओर ले जाने वाला मार्ग परा-औद्योगिक ग्राम से होकर जाता है। इन जागतिक ग्रामवासियों की मूल प्रवृत्ति औद्योगिक एवं उपभोग-प्रधान न होकर आध्यात्मिक है।

यद्यपि परा-औद्योगिक ग्राम इन आद्य-शक्तियों की अभिव्यक्ति है, किन्तु यह विवशता नहीं, स्वेच्छया चयन है। इन चारों सामाजिक शक्तियों में से प्रत्येक की समतुल्य विरोधी शक्ति भी विद्यमान है। यदि हम राष्ट्रों का जागतीकरण नहीं

कर पायेंगे तो आणविक युद्ध अवश्यम्भावी है। यदि हम नगरों का विकेन्द्रीकरण नहीं कर पाये तो हम लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क और कलकत्ता को विनाश के मुंह में झोंक रहे हैं। यदि हम प्राद्यौगिकी का लाघवीकरण नहीं करेंगे तो हम निरंकुश नौकरशाही व वैज्ञानिक श्रेष्ठिवर्ग के पैरों तले मानव का मशीनीकरण होते देखेंगे। और यदि हम संस्कृति के द्वारा अपनी चेतना का अन्तर्मुखीकरण नहीं कर पाये तो विनाशकारी औद्योगिक व आणविक अपशेषों के द्वारा जीवमंडल का प्रदूषण करके अपनी मानसिक विकृति का बाह्य प्रकटीकरण जारी रखेंगे।

इन नवोदित परा-औद्योगिक प्रयोगों की सार्थकता इस बात में है कि वे हमें समय रहते एक दूरदर्शितापूर्ण चयन का अवसर प्रदान करते हैं। परन्तु मेरा विश्वास है कि आने वाले कुछ वर्षों में, घटना-चक्र की दौड़ इस चयन को हमारे अस्तित्व-रक्षण का एकमात्र मार्ग सिद्ध कर देगी।

यदि हम कुछ ऐतिहासिक आंकड़ों पर दृष्टिपात करें तो औद्योगिकोत्तर सभ्यता की अप्राकृतिकता बहुत स्पष्ट हो जायेगी। १८०० ई० में अमेरिका की लगभग १३ प्रतिशत जनसंख्या देहाती क्षेत्रों में रहती थी। १८८० तक भी लगभग दो-तिहाई जनसंख्या देहाती क्षेत्रों में बसी हुई थी। परन्तु १९५० तक ६० प्रतिशत लोग नगरों में आ बसे। देहात से शहर की ओर कितना भारी निष्क्रमण! अब यदि सभ्यता का प्रवाह एक दिशा में मुड़ सकता है, तो दूसरी दिशा में क्यों नहीं मोड़ा जा सकता? मेरा विश्वास है कि सन् २००० ई० तक हमारी आधी जनसंख्या देहाती क्षेत्रों में वापस चली जायेगी। मैं देहात की ओर इस प्रत्यावर्तन में उद्योग-पूर्व कृषि-समाज की वापसी नहीं, वरन् नवीन परा-औद्योगिक सभ्यता का सृजन देखता हूं।

नगरों से निष्क्रमण

१९०० ई० से १९७२ ई० तक अमेरिका की अधिकांश जनसंख्या कृषि और औद्योगिक उत्पादन से हटकर नौकरियों की ओर संक्रमण करती दिखायी दी। भारी मात्रा में तेल की खपत पर टिका हुआ यह संक्रमण ही औद्योगिक युगोत्तर सभ्यता का सार-सर्वस्व है। आज अमेरिका में सर्वाधिक भीड़ अध्यापन-क्षेत्र में है, अतः यह निष्कर्ष समीचीन होगा कि हम फार्म या फैक्टरी की दुनिया में नहीं तो केवल सूचनाओं के संसार में रह रहे हैं।

मैं यह मानकर चलता हूं कि सन् २००० ई० तक सूचनाओं के विकेन्द्रीकरण और औद्योगिकी के लाघवीकरण के कारण लोगों को बड़े नगरों को छोड़कर देहाती क्षेत्रों में बसने की प्रेरणा मिलेगी। मैं यह भी मान रहा हूं कि अच्छे छोटे संयंत्रों की सहायता से ये छोटे-छोटे समुदाय बड़ी फैक्टरियों के बजाय छोटे कारखानों में ही वस्तुओं के उत्पादन व मरम्मत आदि की आवश्यकतायें पूरी करने में समर्थ होंगे। साथ ही मैं यह भी मानकर चल रहा हूं कि जैसे-जैसे मानव नगर छोड़कर प्रकृति की गोद में बसेरा लेगा, वैसे-वैसे वैयक्तिक चेतना का भी पूर्णतः आध्यात्मीकरण होता जायेगा। यदि आप आंकड़ों के चक्कर में फंसने के बजाय थोड़ी कवित्वपूर्ण कल्पना करना चाहें, तो आप परा-औद्योगिकी संस्कृति उसे कह सकते हैं, जिसमें एक-एक पेड़ ही नहीं, तो जीव-मंडल का प्रत्येक जीव-कोश, समाज के अंगभूत अवयवों की संख्या में परिगणित होगा।

छोटे-छोटे जनसमूहों अथवा उपनगरों में, जहाँ गुण-क्रान्ति हो चुकी है, विकास तेजी से होता है। परा-औद्योगिक ग्राम ऐसी ही विकास-इकाई होगी। वह ऐसा क्षेत्र होगा जहाँ चारों आद्यरूपिणी सांस्कृतिक शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति होगी। इसमें मानव इतिहास की चार क्रमिक अर्थव्यवस्थाओं—आखेट और संग्रह, कृषि, उद्योग और जीवन-शिक्षण का पुनरावर्तन भी एक ही इकाई में होगा। हम इतिहास का सिंहावलोकन कर, सभी पुरानी अर्थव्यवस्थाओं का समन्वय करते हुए, नई दिशा में सपिल गति आरंभ कर देंगे।

आखेट और संग्रह की अर्थव्यवस्था बुडसहोल (मैसाचुसेट्स) की न्यू एलकेमी इंस्टीट्यूट के

अनुसंधान में बड़े रोचक ढंग से प्रतिबिंबित हुई है। इन वैज्ञानिकों के शोध प्रयासों को हम किसी एकांतवासी छोटे कबीले जैसे मानव समुदाय के लिए भोजन और ऊर्जा की व्यवस्था करने वाला प्रयोग कह सकते हैं। आखेट और संग्रह की भावी प्रक्रिया में वायु और सौर ऊर्जा का नियंत्रण भी सम्मिलित है। न्यू एलकेमी सभ्यता की व्यूह-रचना नहीं है। यह महानगरों में कुलबुलाती हुई अपार जनसंख्या को भोजन प्रबंध करने को चिन्तित नहीं है, अपितु छोटी-छोटी बस्तियों की दिशा दिखाती है।

पर्यावरणानुकूल उत्कृष्ट उद्यान-कला

परा-औद्योगिकी ग्राम की कृषि-अर्थव्यवस्था जैविक उद्यान-कर्म पर विशेष ध्यान देगी और जीवाश्म-ऊर्जा के प्रयोग के स्थान पर खाद्य-कृषि के स्वाभाविक चक्र का उपयोग करेगी। उद्यान ग्रामों से हलावलम्बी खेतिहर ग्रामों की ओर परिवर्तन ने नारी जाति को खाद्य-उत्पादन में सहभागिनी होने से वंचित कर दिया है। पर पर्यावरण-विज्ञान-सम्मत उत्कृष्ट उद्यान-कला उन्हें फिर से ग्राम्य अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान के लिए समर्थ बनायेगी और इस प्रकार पुरुष और नारी के उस कृत्रिम विभाजन को समाप्त करेगी, जो औद्योगिक समाज की विकृति का एक विशेष लक्षण है।वस्ती की तीसरी अर्थव्यवस्था औद्योगिक होगी और यहीं मेरा समसामयिक संस्कृति के अनेक आलोचकों से मतभेद है। नयी बस्तियाँ उद्योग-विरोधी अथवा लुडवादी (Luddite) नहीं होंगी। प्राद्योगिकी और उद्योग तो रहेंगे, परन्तु वे रूपान्तरित धान्यागारों के साथ जुड़े हुए लघु कारखानों का रूप धारण कर लेंगे। अथवा यों कहें कि गांव स्वयं ही बाइसिकिल, वस्त्र या अन्य कलापूर्ण व टिकाऊ उपकरणों का उत्पादन कर सकेगा। शिल्प-श्रेणी की रहस्यात्मकता में वापस लौटने का अर्थ होगा कि एक समुदाय-विशेष किन्हीं विशिष्ट शिल्पों व उद्योगों पर अपना समूचा ध्यान केन्द्रित करेगा। चाहे जिस उद्योग का चयन किया जाय, उसका क्षितिज उस क्षेत्र के समानुकूल छोटा ही रहेगा और उसका विक्रय-क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय बाजार के बजाय स्थानीय हाट तक ही मर्यादित रहेगा।

जीवन ही विद्यालय

इस बस्ती की चौथी व्यवस्था होगी—जीवन शिक्षण। औद्योगिक-युगोत्तर अर्थव्यवस्था का वैशिष्ट्य है—अनुसन्धान, विकास एवं शिक्षण। समूचा ग्राम ही मननशील एवं शिक्षानुरागी समुदाय होने के कारण वहां के जीवन की मूल प्रेरणा उपभोक्ता शैलियों के पीछे भागने के बजाय चेतना का विकास करना होगी। बस्ती का प्रत्येक निवासी जन्म से मृत्यु पर्यन्त अनुभूतिपरक शैक्षणिक प्रयोग में सहभागी रहेगा। और जीवन के प्रत्येक सोपान पर, सारी बस्ती ही मानो एक ऐसा विद्यालय-प्रांगण होगा जिसमें आबाल-वृद्ध सभी बागवानी, भवन निर्माण व शिल्पों आदि में मिलजुलकर काम करते हुए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञानार्जन करते रहेंगे।

इस प्रकार की शिक्षा-वस्तियाँ भारत के ओरोविले जैसे अधिक परम्परावादी आश्रमों के रूप में पहले से विद्यमान हैं। ऐसे समुदाय का एक विशुद्ध कैल्टिक प्रतिरूप पिंडहार्न (स्काटलैंड) के ल्यूनी हिल कॉलिज में देखा जा सकता है। यहां की विविध कलायें, शिल्प और विस्मयकारी सामुदायिक उद्यान विश्व के सभी भागों से आकर्षित प्रवासियों का मन मोह लेते हैं। खाद्य-पवित्रता के प्रति समर्पित होने के कारण इस कॉलिज में हमें भविष्य मूर्तिमंत होता दिखाई पड़ता है जिसमें सभी सामुदायिक संस्थाएं अपना पोषण करने वाले आधारभूत आर्थिक और पारिवेशिक लघु जगत का अभिन्न अंग होंगी। एक ही बस्ती के भीतर इन चारों परम्परागत अर्थ-व्यवस्थाओं का लघुरूप खड़ा करने का महत्व यह है कि संक्षिप्त संस्करण मानव इतिहास को नये ढंग से देखने का अवसर देता है और इस प्रकार एक नयी सामूहिक चेतना संपूर्ण दृष्टिपथ को आच्छादित कर देती है। जागरूक सांस्कृतिक विकास चेतना के नये सोपानों पर चढ़ता जाता है। चारों व्यवस्थाएं एक साथ सम्पूर्ण धरा पर विद्यमान हैं, और धरित्री विकासवादी दृष्टिकोण से एक अखंड जन-निवेश बन जाती हैं। जब समुदाय इस विश्व-नगरी का एक

अणु-जगत बन जाता है, तो वह स्वयं में ब्रह्मांड के विकास और रूपांतरण की प्रक्रिया की गहरी समझ प्रदान करनेवाला चिन्तन केन्द्र बन जाता है।

भवन आरोपण

चेतना का रूपान्तरण अब स्वयं को सैद्धान्तिक वास्तुकला के क्षेत्र में भी अभिव्यक्त करने लगा है। सामूहिक अवचेतन का व्यक्त रूप ही वास्तुकला है। अतः वास्तुकार स्वयं भी कभी-कभी अपनी कृति की संपूर्ण सांस्कृतिक सार्थकता को नहीं समझ पाता। मेरे जैसे सांस्कृतिक इतिहासकार की दृष्टि से वास्तु-कला के क्षेत्र में जो रोचक बात आज घटित हो रही है वह यह है कि "बौहास इंटरनेशनल" शैली के औद्योगिक-युगोत्तर वास्तु-शिल्प का स्थान अब सहजीवी शिल्प ले रहा है। यह नयी शैली, नयी-नयी निर्माण सामग्री पर विजय का प्रदर्शन नहीं है जैसा कि अल्यूमीनियम या शीशे के साथ हुआ। वरन् यह पर्यावरण के साथ पूर्ण सहयोग का परिचायक है। इसका उदाहरण कनाडा के प्रिंस एडवर्ड द्वीप में सोलसर्च द्वारा रूपांकित 'न्यू एलकेमी आर्क' में देखा जा सकता है। डे चारोढी तथा सीन-बेलेजली-मिलर की "बायोशैल्टर" नामक वास्तु-रचना में, जो अभी तक विचार-जगत तक ही सीमित है, एक ऐसे भवन के निर्माण का प्रयास किया जा रहा है, जिसे समूचे 'पर्यावरण का घरेलुकरण' कहा जा सकेगा। संस्कृति और प्रकृति के बीच का नाता बदल गया है, क्योंकि वास्तुकार का कार्य अब भवन को धरती पर खड़ा कर देना मात्र नहीं रह गया है, बल्कि इसके स्थान पर अब वह मानो प्राचीन भू-शकुन विद्या (ज्योमांसी) अथवा फेंगशुई के समान पूरे एक वर्ष तक भूमि का, ऋतुचक्रानुसार वहां के सूक्ष्म-ऊर्जा प्रवाह का, वनस्पति व जीवजन्तु आदि का अध्ययन करता है और तब कहीं शनैः शनैः भवन का रोपण ठीक उसी प्रकार करता है जैसे कि वह किसी उद्यान का रोपण कर रहा हो।

पृथ्वी—एक अखंड जीव-कोश

उत्तरी जलवायु क्षेत्रों में वास्तुकला का आग्रह लौह-प्राचीरों के द्वारा प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद पर रहा है। परन्तु नयी वास्तुकला में लोहे की दीवारों का स्थान प्रकाश-पारगम्य झिल्ली ने ले लिया है। भवन को एक ऐसी झिल्ली से घेर दिया जाता है जिसके भीतर बादलों जैसा द्रव्य विद्युतरोध करता है और जो प्रकाश को भीतर आने देती है व उष्मा संग्रह करती रहती है। इस झिल्ली के आर-पार, जीवकोश की झिल्ली के समान ही सूचना संप्रेषण हो सकता है। यह ज्ञान-संप्रेषण ही जीव-कोश अथवा निवास स्थान की जीवन्तता का निदर्शक होता है। हमने समूची पृथ्वी को एक जीवकोश के रूप में देखना सीखा है और अब इस जीवन्त चेतना की बट-शिखाएं वास्तुकला में भी प्रतिरोपित होती जा रही हैं।

नवस्थापित लिडिसफार्ने की बस्ती के प्रकल्प में, जिससे मेरा भी घनिष्ठ सम्बन्ध है, हम "उत्पा-दन द्वारा विकास" के रूढ़ चिन्तन से अलग हटकर पुराने और परित्यक्त साधनों का उपयोग करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ग्यारह एकड़ के भूखण्ड में सघन खेती का भरसक प्रयास हमने किया है। न्यूयार्क राज्य के फिशकोफ (लॉग आइलैंड) में हमें एक पुरानी ध्वस्त सराय मिली, जो इतिहास-प्रसिद्ध 'मन्दी' के युग में बनाई गई थी और तभी से ह्रास के पथ पर थी। सराय के जीवनकाल में जिस मैदान का उपयोग गोल्फ के अभ्यास तथा सामिष दावतों के लिए होता था, उसमें अब सब्जी के खेत, फलों के बगीचे, और वालीबाल का क्रीड़ास्थल अवस्थित है। आगे चलकर हम इसमें एक ध्यान-मण्डप, एक पादप-गृह, एक मुर्गी-पालन केन्द्र, एक बकरी बाड़ा और एक शिल्प-शाला बनाने का विचार कर रहे हैं। बगीचे का विस्तार करेंगे, मधुमक्खी पालन प्रारम्भ होगा, और एक छोटा सा नाला लाकर उसमें मत्स्य-पालन भी आरम्भ किया जायेगा। लिडिसफार्ने पूर्ण-विकसित परा-औद्योगिक ग्राम तो नहीं है, परन्तु उस दिशा में एक छोटा पुरवा जैसा पड़ाव अवश्य है।

परा-औद्योगिक समुदायों की संरचना के अनु-प्रयोग भविष्य का अन्तिम विकल्प नहीं है। बस,

आणविक अपशेष और वायु-प्रदूषण उनका सहज ही विनाश कर सकते हैं। वे किसी वस्तु से पलायन नहीं, तो कुछ प्राप्त करने अर्थात् औद्योगिक युगोत्तर सभ्यता का विकल्प ढूंढ़ने की दिशा में निश्चयात्मक कदम हैं। हम मानकर चलते हैं कि अगली शताब्दी का चतुर्थांश उपभोग में गिरावट और इसी प्रकार की समस्याओं से आक्रान्त होगा, जिसमें सामुदायिक प्रयत्नों को मात्र हिप्पी कल्पनाओं से ऊपर उठना होगा। यदि हमारा यह अनुमान गलत निकल गया तो वायु-प्रदूषण और आणविक अपशेष पृथ्वी पर मानव जीवन को आगामी २५००० वर्षों के लिये पूर्णतया नष्ट कर देंगे।

संकट-पलायन अथवा सिद्धता

विकास का अर्थ ही है संकटों को स्वीकार करना। कुछ लोग आणविक शक्ति के प्रयोग की द्यूत-क्रीड़ा को ही सांस्कृतिक विकास का माध्यम बनाने को समुत्सुक हैं तो कुछ अपनी जीवन पद्धति को ही दांव पर लगाने को तैयार हैं। सन् १९८४ तक हम मार्ग के दोराहे पर पहुंच जायेंगे। तब हरेक को दोनों रास्ते साफ दिखायी देने लगेंगे। एक सड़क जायेगी आणविक-शक्ति, खनिज समाप्ति एवं ऐसे निरंकुश शासन की ओर, जो श्रमिकों के पेंशन फंड का जिम्मा लेगा और समाज की क्रांति और विप्लववाद से रक्षा करेगा। दूसरा पथ ले जायेगा धार्मिक जागरण के उस स्तर पर, जहां पहुंचकर महान विश्व-धर्मों ने आज तक मानवता को विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने का इतिहास लिखा है। इस पथ पर हृदय और मस्तिष्क में एक अभिनव परिवर्तन परिलक्षित होगा, प्रकृति और संस्कृति एक स्थायी प्रणय-सूत्र में बंध जायेंगे, और धरती माता की गरिमा को अभिव्यक्त करने वाले एक नये सामुदायिक जीवन का उदय होगा।

ऐसा परा-औद्योगिक ग्राम या चारों वरेण्य अर्थ-व्यवस्थाओं का लघु रूप प्रस्तुत करने वाली बस्ती अभी अस्तित्व में नहीं आई है। फिडहार्न-समुदाय आध्यात्मिक सामूहिक चेतना और बागवानी को लेकर अनुप्रयोग कर रहा है, परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में नहीं। न्यू एल्केमी विज्ञान क्षेत्र में कार्यरत है, परन्तु वह सामुदायिक बस्ती नहीं है। लिंडिसफार्ने दार्शनिक और शैक्षिक पक्षों में लगा है, परन्तु उसके पास न तो फिडहार्न की विशालता और क्षमता है और न न्यू एल्केमी की उपयुक्त प्रौद्योगिकी। परा-औद्योगिकी ग्राम के लिये आज ऐसे समुदाय की आवश्यकता है जिसमें फिडहार्न, न्यू एल्केमी और लिंडिसफार्ने की उपलब्धियों का समन्वय हो।

अर्थशास्त्रीय यथार्थवाद के दृष्टिकोण से इन प्रकल्पों में से अनेक के पास न तो भूमि खरीदने के लिये बंधक-धन है, न निर्माण सामग्री और न समुदाय-श्रमिकों के लिए भोजन। फिर भी वे आगे बढ़ते जा रहे हैं। कार्य आरम्भ करने के लिए बैंक-साधनों के जुटने की प्रतीक्षा करने का अर्थ है बैंक-व्यवस्था की अनिवार्यता को स्वीकार करना। ऐसी प्रतीक्षा उस कर्मशक्ति को नष्ट कर देती है जो साधनों को क्रियाशीलता के विद्युत्-क्षेत्र में चुम्बक के समान खींच लाती है। नये विश्व की नयी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण की दिशा में पहला कदम है, पहला कदम उठाने का दृढ़ संकल्प!

□

सच तो यह है कि हमें गांववाला भारत और शहरों वाला भारत, इन दो में से एक को चुन लेना है। देहात उतने ही पुराने हैं, जितना कि यह भारत पुराना है। शहरों को विदेशी आधिपत्य ने बनाया है।

महात्मा गांधी

हरिजनसेवक २०-१-४०

मंथन

रिमा को अभिव्यक्त
क जीवन का उदय

या चारों वरेण्य अर्थ-
नुत करने वाली बस्ती
है। फिडहार्न-समुदाय
और बागवानी को
रन्तु विज्ञान के क्षेत्र में
त्र में कार्यरत है, परन्तु
लिडिसफार्ने दार्शनिक
, परन्तु उसके पास न
और क्षमता है और न
गिकी। परा-औद्योगिकी
दाय की आवश्यकता है
और लिडिसफार्ने की
।

द के दृष्टिकोण से इन
न तो भूमि खरीदने के
र्माण सामग्री और न
जन। फिर भी वे आगे
म्भ करने के लिए बैंक-
ा करने का अर्थ है बैंक-
स्वीकार करना। ऐसी
नष्ट कर देती है जो
विद्युत्-क्षेत्र में चुम्बक के
ये विश्व की नयी अर्थ-
दशा में पहला कदम है,
संकल्प !

□

ा, इन दो में से एक
राना है। शहरों को

महात्मा गांधी
हरिजनसेवक २०-१-४०

भारत
में
ग्राम-पुनर्रचना

—परिप्रेक्ष्य

विवेकानन्द ने कहा था

तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान पर "नये भारत" का उदय होने दो। उसका उदय हल चलाने वाले किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से हो। बनिये की दूकान से, रोटी बेचनेवाले की भट्टी के पास से वह प्रकट हो। कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले। वह "नया भारत" अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो। ये साधारण लोग सहस्रों वर्षों से अत्याचार सहते आये हैं—बिना कुड़बुड़ाये उन्होंने यह सब सहा है और परिणाम में उन्होंने आश्चर्यकारक धैर्य-शक्ति प्राप्त कर ली है। वे सतत विपत्ति सहते रहे हैं, जिससे उन्हें अविरल जीवन-शक्ति प्राप्त हो गयी है। मुट्ठी भर अन्न से पेट भरकर वे संसार को कंपा सकते हैं। तुम उनको केवल आधी रोटी दे दो, और देखोगे कि सारे संसार का विस्तार उनकी शक्ति के समावेश के लिए पर्याप्त न होगा।। उनमें "रक्तबीज" की अक्षय जीवन-शक्ति भरी है। इसके अतिरिक्त, उनमें पवित्र और नीतियुक्त जीवन से आनेवाला वह आश्चर्यजनक बल है, जो संसार में अन्यत्र नहीं मिलता। ऐसी शांति, ऐसा संतोष, ऐसा प्रेम, चुपचाप सतत कार्य करने की ऐसी शक्ति और कार्य के समय इस प्रकार सिंह-बल प्रकट करना—यह सब तुम्हें अन्यत्र कहाँ मिलेगा? भूतकाल के कंकाल! देखो, तुम्हारे सामने तुम्हारे उत्तराधिकारी खड़े हैं—भावी भारतवर्ष खड़ा है। अपने खजाने की उन पिटारियों को और उन रत्नजड़ित मुद्राओं को उनके बीच जितनी जल्दी हो सके, फेंक दो और तुम हवा में मिल जाओ, फिर कभी दिखायी न दो—केवल अपने कानों को खुला रखो। अपने अदृश्य होते ही तत्काल तुम पुनर्जात भारतवर्ष का वह प्रथम उद्घोष सुनोगे, जिसकी करोड़ों गर्जनाओं से सारे विश्व में यही पुकार गूंजती रहेगी—"वाह गुरु की फतह!"

—स्वामी विवेकानन्द

प्राचीन भारत में ग्राम

ग्राम क्या है ?

भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्द वमनेन वा निवेशयेत् । शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पंचशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोश सीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत् ।

राजा पुराने जनपदों का जीर्णोद्धार या नये जनपदों की स्थापना करके उनमें बाहर से आहूत लोगों अथवा स्वदेशीय सघन बस्तियों से स्थानान्तरित करके लोगों को बसाये । उनमें कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक पांच सौ परिवारों से युक्त एक से दो कोस तक की सीमा वाले गांव बसाये जायें, जिनमें स्वयं श्रम करने वाले कृषकों का आधिक्य हो तथा इन गांवों या इनके निवासियों की एक-दूसरे के द्वारा रक्षा होती हो ।

(कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १)

भवेत्क्रोशात्मकोग्रामो रूप्यकर्ष सहस्रकः । ग्रामार्धकं पल्लि संज्ञं पल्यर्धं कुंभसंज्ञकम् ।।

गांव एक कोस (५००० हाथ) लम्बाई-चौड़ाई का क्षेत्र होता है जिसकी आय एक सहस्र चांदी के कर्ष हों । गांव का आधा पल्लि कहलाता है और पल्लि का आधा कुंभ ।

(शुक्रनीति, अध्याय १, श्लोक १६२)

तथा शूद्रजनप्रायाः सुसमृद्ध कृषीबला । क्षेत्रोपयोग भूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिताः ।।

जहां अधिकांशतः शिल्पी, श्रमिक, कृषक बसते हों, जो कृषि-उपज से समृद्ध हो और जो खेती के उपयुक्त भूमि के मध्य बसा हो, उसकी ग्राम संज्ञा है ।

(मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ४६, श्लोक ४७)

ग्राम से राष्ट्र की ओर

अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुशतग्राम्या द्रोणमुखं, द्विशतग्राम्या खार्वटिकं दशग्रामीसंग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत् ।

आठ सौ गांवों के मध्य एक स्थानीय की स्थापना करनी चाहिए, चार सौ गांवों के मध्य द्रोणमुख की, दो सौ गांवों के मध्य खार्वटिक की तथा दश ग्रामों के समूह के मध्य संग्रहण की स्थापना की जानी चाहिए ।

(कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण-३, अध्याय १)

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ।। (७.११५)

राजा प्रत्येक ग्राम का एक अधिपति (मुखिया) नियुक्त करे, इसी प्रकार दश ग्रामों का एक अधिपति, उससे ऊपर बीस ग्रामों का एक अधिपति, सौ ग्रामों का एक अधिपति तथा सहस्र ग्रामों का एक अधिपति नियुक्त करे ।

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयं । शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् (७.११६) विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयं (७.११७)

गांव में उत्पन्न हुए दोषों के सम्बन्ध में ग्रामिक (ग्राम-मुखिया) स्वयं ही सर्वप्रथम दशग्रामाधिपति के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करे जो यह सूचना बीस ग्रामों के प्रमुख के पास स्वयं प्रस्तुत करे । बीस ग्रामों का प्रमुख स्वयं सौ ग्रामों के प्रमुख के पास और शतग्रामाधिपति स्वयं सहस्रग्रामाधिपति से प्रतिवेदन करे ।

(मनुस्मृति, अध्याय ६)

धनुः शतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्तत । शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ।।

गांव के चारों ओर भूमि की सौ धनुष (चार सौ हाथ) चौड़ी पट्टी चरागाह आदि सार्वजनिक

उपयोग के लिए छोड़ दी जानी चाहिए, जबकि नगर के बाहर इससे तिगुनी पट्टी खाली छोड़ी जानी चाहिए।

(मनुस्मृति, अध्याय ३, श्लोक २३७)

कृषि का महत्व

कच्चित् तुष्टाः कृषीबलाः ।। ७७
कच्चिद् राष्ट्रे तटाकानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका। ७८
कच्चिन्न भक्तंबीजं च कर्षकस्यावसीदति।
प्रत्येकं च शतं वृद्धया ददास्यृणमनृग्रहम ।। ७९
कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ।। ८०

नारद ने युधिष्ठिर से पूछा—

क्या तुम्हारे राज्य में कृषक सन्तुष्ट हैं? क्या तुम्हारे सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र में समुचित दूरियों पर जल से भरे बड़े-बड़े तड़ाग (तालाब) बने हुए हैं जिससे कृषि मात्र वर्षा पर निर्भर न रहे? क्या कृषकों का अन्न और बीज नष्ट होने से बचाया जाता है और क्या तुम उन्हें एक प्रतिशत ब्याज पर अनुग्रह ऋण देते हो?

हे तात! क्या तुम्हारे राज्य में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य के कार्य सज्जन व्यक्तियों द्वारा सुसम्पन्न होते हैं? क्योंकि हे तात! इन तीन वृत्तियों (वार्ता) पर ही जनता का सुख निर्भर है।

(महाभारत, सभापर्व, अध्याय ८, श्लोक ७७-८०)

ग्राम-पंचायत और वृद्धजन

या ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ।।

ग्राम, देश या संघ के लोगों द्वारा सत्य शपथ-पूर्वक सामूहिक निर्णय लेने के बाद जो व्यक्ति लोभ-वश उसका उल्लंघन करे, उसे राष्ट्र से निर्वासित कर देना चाहिए।

(मनुस्मृति अध्याय ८, श्लोक २१६)

क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः ।।

खेतों के सीमा-विवादों को ग्राम के प्रमुख और वृद्ध पुरुष सुलझायें।

(कौटि० अर्थ० अधिकरण ३, अध्याय ४, सूत्र-१६)

बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धेयुरव्यवहार
प्रापणात् देवद्रव्यं च।

बालक की सम्पत्ति की देखभाल और वृद्धि तब तक ग्राम-वृद्ध करें जब तक वह वयस्क नहीं हो जाता। इसी प्रकार देवद्रव्य की देखभाल करना भी ग्राम-वृद्धों का कार्य है।

(कौटि० अर्थ० अधिकरण २, अध्याय १, सूत्र ३२-३३)

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

कुल के हित के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो एक व्यक्ति का हित त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार ग्राम के लिए कुल का, जनपद के लिए ग्राम का और आत्मतत्त्व के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी का त्याग कर देना चाहिए।

—महाभारत

अगर गांव नष्ट हो जाय, तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जायेगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायगा। दुनियां में उसका "मिशन" ही खत्म हो जायगा।

महात्मा गांधी
हरिजन २९-८-३६



गांव और राष्ट्र

□ श्री अरविन्द*

हमने कल लिखा था कि बंगाल के हिन्दुओं को यदि राष्ट्र में स्वाभिमान पूर्वक जीना है और जन्मदात्री धरती मां की गोद से वंचित नहीं होना है, तो उन्हें फिर से गांवों की ओर वापस लौटना होगा। परन्तु इस प्रश्न का एक पक्ष और भी है, जो अतीव महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन ग्राम्य-व्यवस्था स्वावलंबी, स्वकेन्द्रित, स्वायत्त तथा ऐकान्तिक थी। जीवन की ये छोटी-छोटी इकाईयाँ, पूर्णतः आत्मस्थ होकर अपनी रुचियों और गतिविधियों की छोटी सी दुनिया में, सौरमंडल के ग्रहों के समान किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा परस्पर संबद्ध परन्तु अपने आप में सबसे अलग, मस्त रहती थीं। ऐसा यह जीवन था—सुन्दर, सरल, स्वस्थ, समग्र और संपूर्ण—कवि-मनीषियों के लिए आनन्द का केन्द्र-बिन्दु। यदि पूर्ण सादगी, आर्थिक बुराइयों और नैतिक पतन से मुक्ति, संघर्ष-द्वेष और नागरिक जीवन के तुमुल-कोलाहल से छुटकारा—यही सामाजिक संगठन का लक्ष्य हो, तो भारतीय ग्राम्य समाज को इसका सर्वोत्तम मानदंड कहा जा सकता है।

अनेक लोग आज बड़े दुःख से उस अतीत गौरव-गरिमा का स्मरण करते हैं। यही नहीं, अनेक अंग्रेज लोग भी, जो उन्हें नष्ट करने का निमित्त बने, चाहते हैं कि उन्हें पुनरुज्जीवित किया जा सके। राष्ट्र-जीवन में इस ग्राम्य-व्यवस्था ने लोकहित के जिन तत्त्वों का समावेश किया, वे इतने मूल्यवान थे कि सहस्रों वर्ष पूर्व आर्यों के भारत-प्रवेश से लेकर आज तक भी अनेक परिवर्तन और क्रान्तियो की आंधियों के बीच अक्षयवट के समान, वे अपने अस्तित्व को अप्रवातिह रूप से प्रकट किये हुए हैं। इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उस ग्राम्य-व्यवस्था ने राष्ट्र को अमर बनाये रखने में बहुत बड़ा योगदान किया है। सामाजिक कुरीतियों और राजनीतिक बीमारियों ने राष्ट्र-शरीर को चाहे जितना जर्जर किया हो, राष्ट्र-जीवन के इन प्राण-कोषों से सर्वदा स्वस्थता और पवित्रता की वह अजस्र ऊर्जा प्राप्त होती रही, जो प्राणांतक विग्रह से सदा उसकी रक्षा करती रही।

परन्तु जहां इस ग्राम्य-व्यवस्था को हमारे राष्ट्र-जीवन की अमरता का श्रेय प्राप्त है, वहीं इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय एकता के मार्ग में ग्राम्य-संरचना की यह व्यवस्था ही सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हुई है।

प्राचीन भारत यदि एक संगठित राष्ट्रीय इकाई के रूप में विकसित नहीं हो सका तो इसका कारण, जैसा कि योरपीय लेखक आग्रह करते हैं, जाति अथवा सामाजिक भेद नहीं है; क्योंकि जाति और सामाजिक वर्ग तो उन राष्ट्रों में भी रहे हैं, जिनमें निर्विकार राष्ट्रीय एकता संप्राप्त हुई। इसका वास्तविक कारण यह है कि प्राचीन हिन्दू समाज-व्यवस्था ने ग्राम को स्वायत्तशासी रहने दिया, कुलों को स्वायत्तशासी बनने दिया, प्रान्त तथा अन्य जातीय

* 'वन्देमातरम्' साप्ताहिक के ८ मार्च १९०८ के अंक के सम्पादकीय लेख से उद्धृत।

क्षेत्रों को भी स्वायत्तशासी होने दिया। अपनी स्वाव-लंबी स्थिति के कारण ग्राम उन सभी युद्धों और क्रान्तियों से निर्लिप्त बना रहा जिन्होंने उन राजवंशों को उद्ध्वस्त कर डाला जिनके राज्य में यह गांव अवस्थित था। क्षत्रिय-कुल परस्पर युद्ध, विवाह और शांति के खेल में मगन रहे और केवल वे ही ऐसे राजनीतिक तत्त्व रह गये जिनके आधार पर राष्ट्र की संरचना खड़ी की जा सकती थी। परन्तु ये राज-कुल भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व के प्रति इतने आसक्त थे कि कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में, उनके पूर्णतः नष्ट हुए बिना, उनके अवशेषों को बड़े जनपदीय ढांचे में गुंफित नहीं किया जा सका। आगे चलकर उनकी जगह क्षेत्रीय अथवा जातीय वर्गों के आधार पर निर्मित छोटे-छोटे राज्यों ने ले ली।

भारत पर विदेशी जातियों के आक्रमण का संकट उपस्थित होने के पूर्व इन राज्यों को किसी चक्रवर्ती सम्राट के केन्द्रीय शासन की छत्रछाया में लाकर एक राष्ट्रीय इकाई के रूप में गूंथने का प्रयास चल रहा था। अनेक बाधाओं ने इस प्रयास को सफल नहीं होने दिया। फलतः, जनपदीय इकाई ही भारत में राष्ट्र-निर्माण की प्रवृत्ति की सर्वोच्च अभि-व्यक्ति बनकर रह गयी। राष्ट्रीय श्रद्धा के केन्द्री-करण की साधना की पूर्णता में सब बाधाओं से बड़ी बाधा यह रही है कि ग्राम इकाइयों का स्वयंपूर्ण स्वायत्त चरित्र बना रहा, जिसके कारण सामान्य जन, जो किसी भी राष्ट्र का मेरुदंड होते हैं, उन महान संघर्षों में सहभागी नहीं बन सके, जिनमें से राष्ट्र का 'उद्भव' होना चाहिये था।

अन्य देशों में संपूर्ण समाज को,व्यक्ति-व्यक्ति को नागरिक अथवा सैनिक के रूप में, अपने शासकों की विजय-पराजय और सफलता-असफलताओं में सक्रिय भागीदार बनना पड़ा है। परन्तु भारत का जन-समाज अपने छोटे-छोटे गणराज्यों के घरौंदों में ही मस्त रहा। सर्वोच्च शासक के प्रति उसकी इससे अधिक कोई रुचि नहीं रही कि उससे प्राप्त सुरक्षा के बदले उसे कुछ निश्चित कर-भाग दे दिया जाय। यदि भारत एक सुस्पष्ट, सुसंगठित एवं जागरूक राष्ट्रीयता का विकास करने में असफल रहा है तो उसका वास्तविक कारण यह है। यह ध्यातव्य है कि राष्ट्रीयता की धारणा की सर्वाधिक जागरूक अभिव्यक्ति व लगभग पूर्ण सिद्धि जिस भारतीय समाज में हुई वह थे मरहठा लोग, जिन्होंने गांव-गांव की लोक पंचायतों से शक्ति ग्रहण की और उन्हें राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष में सहभागी बनने के लिये प्रेरित किया। यदि मरहठे अपने क्षेत्रीय और जातीय भेदभावों से ऊपर उठ सके होते, तो वे अवश्य ही एक ऐसा सुदृढ़ व स्थायी साम्राज्य निर्माण कर पाते जिसे कोई भी वेलेजली कूटनीति अथवा रण-पराक्रम से नष्ट नहीं कर पाता। इतिहासकारों का मत है कि ब्रिटिश लोगों द्वारा भारत-विजय एक सनक का परिणाम थी। ऐसी ही किसी सनक में आकर उन्होंने हमारे ग्राम्य समाज की उस स्वायत्त-व्यवस्था को भी नष्ट कर डाला, जो राष्ट्रीयता के विकास में सबसे बड़ी बाधा थी, और इस प्रकार अनजाने में ही राष्ट्रीय एकता की ओर उन्मुख इस अदम्य आन्दोलन की आधारभूमि तैयार कर दी, जिसे देखकर आज वे इतने संत्रस्त हैं। प्रान्त एक दूसरे के बहुत निकट लाये जा चुके हैं, ग्राम नष्ट किया जा चुका है। अब यह हमारे ऊपर है कि हम अपनी नियति को प्राप्त कर लें।

आज हम आत्मरक्षा की सहज भावना के वशी-भूत होकर, फिर से गांव की ओर मुड़ रहे हैं और ग्राम-संगठन को फिर से खड़ा करने का कार्यक्रम बना रहे हैं। यह करते समय हमें सचेत रहना होगा कि ग्राम-संगठन इतना शक्तिशाली भी हो सकता है कि पूर्णतः स्वायत्त होकर वह समग्र राष्ट्र-जीवन से निर्लिप्त हो जाये और सुदृढ़ राष्ट्र-गठन की प्रक्रिया में गंभीर बाधा बन जाये।

हमारे एक दो प्रमुख नेताओं ने तो कभी-कभी ऐसे उद्गार भी प्रकट किए हैं कि हमारी मुक्ति का मार्ग सुविशाल राष्ट्र के संगठन में नहीं तो ग्राम्य-संरचना के पुनर्निर्माण में ही है। कभी-कभी स्वराज्य की व्याख्या यह की जाती है कि प्राचीन स्वावलम्बी ग्राम्य-व्यवस्था की ओर वापस लौट चला जाय और सर्वोच्च केन्द्रीय शासन को जैसे चाहे कानून बनाने या कर लगाने के लिये अकेला छोड़ दिया जाय और क्योंकि अत्य-

धिक शक्तिशाली होने
सम्भव नहीं है, अतः उ
हमारे लघुत्तम शक्ति-के
जो तुली हुई है ऐसी स
समझने वाले लोग भी
हमारे समाज-जीवन के
स्वराज्य को प्राप्त करने
पहले उसकी साधना गां
परामर्श पर चलना यदि
बड़ा भयंकर है। अखि
स्वराज्य के महान आद
कोई भी सुझाव हमें स
यह आदर्श कोई परकीय
है, अपितु यह एक जाग
केन्द्राभिसारी प्रक्रिया के
हमारी सहस्राब्दियों ल
प्रेरणा रही है। यह प्रय
का, जिसे श्रीकृष्ण ने
चन्द्रगुप्त, अशोक और

आदर्श भारत
सम्पूर्णतया नीरोग
सके। ये ऐसी चीज
हर मकान के आ
साग-भाजी लगा स
जहां तक हो सके
सब आदमी पानी
वगैरा के लिए ए
गोशाला हो, ऐसी
प्रधान वस्तु हो, औ
भी हो। अपनी
पैदा हों। एक आद

धिक शक्तिशाली होने के कारण उसे नष्ट करना सम्भव नहीं है, अतः उसकी पूर्ण उपेक्षा की जाय। हमारे लघुत्तम शक्ति-केन्द्र को भी नष्ट करने पर जो तुली हुई है ऐसी सरकार की उपेक्षा को व्यर्थ समझने वाले लोग भी आग्रह करते हैं कि ग्राम ही हमारे समाज-जीवन के प्राण हैं, और हमें राष्ट्रीय-स्वराज्य को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा। त्यागकर पहले उसकी साधना गांव में करनी चाहिये। इस परामर्श पर चलना यदि व्यावहारिक हो, तो भी वह बड़ा भयंकर है। अखिल भारतीय एवं राष्ट्रीय स्वराज्य के महान आदर्श से विचलित करने वाला कोई भी सुझाव हमें स्वीकार्य नहीं होना चाहिये। यह आदर्श कोई परकीय या विजातीय कल्पना नहीं है, अपितु यह एक जागरूक प्रयास है उस महान केन्द्राभिसारी प्रक्रिया को पूर्णता पर पहुंचाने का, जो हमारी सहस्राब्दियों लम्बी गौरवपूर्ण यात्रा की मूल प्रेरणा रही है। यह प्रयास है उस महा कार्य की पूर्ति का, जिसे श्रीकृष्ण ने आरम्भ किया था, जिसे चन्द्रगुप्त, अशोक और गुप्तवंशीय नरेशों ने आगे बढ़ाया था, जिसे अकबर ने लगभग चरितार्थ कर दिया था, जिसके लिए शिवाजी जन्मे थे और बाजीराव ने युद्ध किये तथा योजनाएं बनाई थीं।

हमारे गांवों का संगठन एक अनिवार्य कार्य है जिसे हमें तुरन्त हाथ में लेना चाहिये परन्तु हमें उनका संगठन यह सावधानी रखकर करना है कि वे यह अनुभव करते रहें कि वे एक अखंड राष्ट्र के अपूर्ण अंग मात्र हैं और वे हर मोड़ पर प्रथमतः अपने जिले के, फिर प्रान्त के और अंततः संपूर्ण राष्ट्र के सहयोग पर अवलंबित हैं। स्वतंत्र ग्राम या ग्राम-समूह के दिन अब चले गये और उन्हें वापिस ले ने का प्रयत्न नहीं होना चाहिये। राष्ट्र अपनी आकांक्षा की पूर्ति की बाट जोह रहा है और वह समस्त देहाती जनता के ग्राम-जीवन को एक अखंड सुसूत्र शक्तिशाली लोकतंत्री राष्ट्रीयता के अंचल में समेट लेने को आतुर है। प्राचीन काल में जो रूप ग्राम का था वह अब हमें संपूर्ण राष्ट्र का बनाना होगा—स्वावलंबी, आत्मकेन्द्रित, स्वायत्त और चिर स्वातंत्र्य के महान आदर्श से ओत-प्रोत। □

आदर्श भारतीय गांव इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए, जिससे वह सम्पूर्णतया नीरोग हो सके। उसके झोंपड़ों और मकानों में काफी प्रकाश और वायु आ जा सके। ये ऐसी चीजों के बने हों जो पांच मील की सीमा के अन्दर उपलब्ध हो सकती है। हर मकान के आस-पास या आगे-पीछे इतना बड़ा आंगन हो, जिसमें गृहस्थ अपने लिए साग-भाजी लगा सकें और अपने पशुओं को रख सकें। गांव की गलियों और रास्तों पर जहां तक हो सके धूल न हो। अपनी जरूरत के अनुसार गांव में कुएं हों, जिनसे गांव के सब आदमी पानी भर सकें। सबके लिए प्रार्थना-घर या मंदिर हों, सार्वजनिक सभा वगैरा के लिए एक अलग स्थान हो, गांव की अपनी गोचरभूमि हो, सहकारी ढंग की एक गोशाला हो, ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालायें हों जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान वस्तु हो, और गांव के अपने मामलों का निपटारा करने के लिए एक ग्राम-पंचायत भी हो। अपनी जरूरतों के लिए अनाज, साग-भाजी, फल, खादी वगैरा खुद गांव में ही पैदा हों। एक आदर्श गांव की मेरी अपनी यह कल्पना है।

महात्मा गांधी

हरिजनसेवक १६-१-३७

ग्राम-पुनर्रचना के मेरे प्रयोग



□ रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यह मकान खरीदते समय मेरे सामने कोई विशेष योजना नहीं थी। उन दिनों मेरा पूरा ध्यान शान्तिनिकेतन पर केन्द्रित था। भीड़-भाड़ की जिन्दगी से बहुत दूर शान्तिनिकेतन अपने छात्रों को केवल परीक्षा पास करने की सुविधा ही नहीं देता था तो ऐसा भी बहुत कुछ देता था, जो शिक्षा विभाग द्वारा बांधे गये दायरे से बाहर का था।

किन्तु शान्तिनिकेतन के कार्य में निमग्न रहते समय भी मेरे मस्तिष्क में एक दूसरी धारा बहने लगी थी। शिलाइदह और पटीसर गांवों में रहते समय ग्रामीण जीवन से मेरा पहला प्रत्यक्ष सम्पर्क आ चुका था। जमींदारी ही उस समय मेरा धन्धा था। किसान मेरे पास आते अपने सुख-दुख की कहानियां लेकर, उलाहने और याचनायें लेकर। इन्हीं कहानियों, उलाहनों और याचनाओं के माध्यम से मैंने पहली बार गांव के सत्य के दर्शन किये। एक ओर नदी, उद्यान, धान के खेतों और वृक्षाच्छादित कच्ची झोंपड़ियों का बाह्य जगत् था, दूसरी ओर जनता-जनार्दन की यह अन्तर्व्यथा थी। जमींदारी का काम करते-करते मैं उनकी व्यथा-कथा को समझने लगा था।

मैं शहर में जन्मा एक शहरी प्राणी हूं। मेरे पूर्वज कलकत्ता के सबसे प्रारम्भिक निवासियों में से थे। इसलिये मैंने बाल्यकाल में गांव का सम्पर्क कभी नहीं पाया। जमींदारी की देखभाल का काम शुरू करते समय मुझे डर था कि शायद यह काम मन उबाने वाला होगा। हिसाब-किताब रखना, लगान वसूल करना, जमा-ऋण करना—ऐसे कामों का मुझे कोई अभ्यास नहीं था और उनके बारे में मेरे अज्ञान का बोझा मुझ पर सवार था। मैं कल्पना ही नहीं कर सकता था कि आंकड़ों और हिसाब-किताब की दुनिया में फंस कर मैं सहज-स्वभाव मानव रह पाऊंगा।

किन्तु जब मैं काम में घुसा तो उसमें पूरी तरह रम गया। मेरा यह स्वभाव है कि जब कभी कोई उत्तरदायित्व लेता हूं तो उसमें खो जाता हूं और उसे निबाहने का यथासम्भव प्रयास करता हूं। एक बार मुझे अध्यापन कार्य करना पड़ा तो मैं उसमें पूरे हृदय से जुट गया और सचमुच बड़ा रस आया। जमींदारी के काम की गुत्थियों को सुलझाने के प्रयास में जब लगा तो नये तरीकों को खोजने के लिए प्रसिद्ध हो गया। वस्तुतः, पास-पड़ोस के जमींदार लोग इन तरीकों को सीखने के लिए अपने आदमी मेरे पास भेजने लगे।

लेकिन मेरे अपने पुराने कर्मचारी इन परिवर्तनों से आकुल हो उठे। वे हिसाब-किताब इस ढंग से रखते थे कि उसमें से मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ता था। उनका भाव यह था कि जितना वे मुझे समझाना चाहें उससे ज्यादा समझने की मैं कोशिश न करूँ। इसलिए वे कहने लगे कि पुराने तरीकों में बदल लाने में सब गड़बड़झाला हो जायेगा। उन्होंने तर्क यह दिया कि किसी बात को लेकर अगर मुकदमा खड़ा हो गया तो न्यायालय हिसाब-किताब के नये तरीकों को सन्देह की दृष्टि से देखेगा। किन्तु मैं कार्यविधि में आमूल परिवर्तन लाने पर तुला रहा और उसका अंतिम परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक रहा।

काश्तकार प्रायः मुझसे मिलने के लिए आने

mic concept of business,
is broadening the industria
of the nation in the
er of technology and
sional management.
now, when Escorts look
encouragement it has
to its fellow countrymen i
hall scale sector, it only
ns the Company's deter-
belief that a job half done
ay is a job well done.
ed, in whatever Escorts
it remains committed in
uing its role of leadership
ll co-operation with
al needs.
as been a company steered
guiding spirit all
th the years.
spirit of Enterprise.

ESCORTS LIMITED
's symbol of Diversification.
deavour. And of Enterprise.

लगे। सुबह हो या शाम, दोपहर हो या रात, मेरा दरवाजा उनके लिए हर समय खुला रहता। कभी-कभी उनकी फरियादों को सुनने में पूरा दिन इस तरह बीत जाता कि भोजन के समय का भी ध्यान न रहता। किन्तु इस सब काम में बड़ा आनन्द और उत्साह आता। मैंने बचपन से एकाकी जीवन व्यतीत किया था। और अब मुझे ग्राम्य-जीवन का पहला अनुभव मिल रहा था। मैं नयी पगडंडियों के निर्माण की आनन्दानुभूति से भरा हुआ था।

ग्राम-समस्याओं से परिचय

मैं ग्राम्य-जीवन की छोटी से छोटी बात को जानने के लिए उत्सुक था। अपने काम के सिलसिले में मुझे छोटी बड़ी नदियों के रास्ते अथवा कभी पैदल ही लम्बे सफर पार कर गांव-गांव जाना पड़ता था। इस प्रकार मुझे ग्राम्य-जीवन के सभी पक्षों को देखने और ग्रामीण लोगों के दैनिक क्रियाकलापों तथा उनके काम के विभिन्न चक्रों के बारे में अपनी उत्सुकता को सन्तुष्ट करने का अवसर सहज रूप से प्राप्त हो गया। धीरे-धीरे उन लोगों की निर्धनता व दुर्दशा का चित्र मेरी आंखों के सामने नाचने लगा। मैं व्याकुल हो उठा और मन में इच्छा प्रबल हो उठी कि मुझे उनके लिए कुछ करना चाहिए। मुझे यह सोचकर गहरी लज्जा होने लगी कि मैं एक जमींदार हूं, जिसकी एकमात्र प्रेरणा पैसा है और मैं हर समय लगान-वसूली की जोड़-तोड़ में ही खोया रहता हूं। यह अनुभूति होते ही मैंने देहाती समाज में मानसिक जागृति पैदा करने के काम का बीड़ा उठा लिया ताकि वे अपने दायित्वों को स्वयं संभालने की मनःस्थिति प्राप्त कर लें।

मैंने अनुभव किया कि ग्रामवासियों को केवल ऊपरी सहायता देने से कुछ नहीं बनेगा। मेरी समस्या थी कि उनमें जीवन का स्फुलिंग कैसे प्रज्ज्वलित हो। उनकी सहायता करना बहुत ही कठिन कार्य था, क्योंकि उनमें आत्म-सम्मान की भावना लगभग पूरी तरह मर चुकी थी। वे एक ही बात दोहराते रहते कि "हम नीच लोगों को तो केवल चाबुक ही सीधे रास्ते पर ला सकता है।"

एक दिन पड़ोस के एक गांव में आग लग गयी। लोग इतनी बुरी तरह घबड़ा गये कि वे कुछ नहीं कर पाये। तब पास के एक मुस्लिम गांव के लोगों ने आकर उस आग को बुझाने की कोशिश की। किन्तु वहां पानी नहीं था। अब आग को फैलने से रोकने के लिये छप्परों को नीचे घसीटना जरूरी हो गया। किन्तु जिनके घर जल रहे थे, उनकी पिटाई करने के बाद ही उनके छप्परों को नीचे लाना सम्भव हो सका। बाद में वे मेरे पास आये और कहने लगे कि 'हमारा कितना बड़ा सौभाग्य था कि हम बच गये। हमारे छप्पर न गिराये जाते तो क्या हम बच पाते?' वे प्रसन्न थे कि पिटाई से उनका भला हुआ। किन्तु मैं लज्जा से अपने ही भीतर गड़ा जा रहा था।

मैंने योजना बनायी कि गांव के केन्द्र में एक छोटा सा भवन बनाया जाय, जहां दिन भर के काम से निबटकर ग्रामवासी एकत्र हो सकें, समाचार-पत्र पढ़ें और रामायण महाभारत के कथा-प्रसंगों का श्रवण कर सकें। एक प्रकार से यह गांव का मनोरंजन गृह बन जाता। क्योंकि किसी कविता की दुर्बोध पंक्ति को बार-बार दुहराने जैसे उनकी नीरस शामों की सोच-सोचकर मेरी उदासी गहरी होती जा रही थी। किन्तु इस भवन का कोई उपयोग नहीं किया जा सका। मैंने गांव वालों को पढ़ाने के लिये एक शिक्षक नियुक्त किया किन्तु शिष्यगण कोई न कोई बहाना निकाल कर वहां से गायब रहते। इसके विपरीत, एक दूसरे गांव के मुसलमान निवासी मेरे पास आये और बोले कि 'क्या आप हमें शिक्षक दे सकेंगे? हम उसका पूरा खर्चा उठाने को तैयार हैं।' मैं फुरन्त राजी हो गया और उस गांव में विद्यालय की स्थापना हो गयी। शायद वह अभी भी वहां मौजूद है। किन्तु मेरे गांव में कुछ नहीं किया जा सका। वहां के निवासी अपना आत्म-विश्वास पूरी तरह गंवा चुके थे।

आत्म-विश्वास का अभाव

परावलम्बन की आदत हममें अनन्त काल से चली आ रही है। पुराने युगों में एक धनिक व्यक्ति पूरे गांव का आधारस्तम्भ और मार्गदर्शक होता था। स्वास्थ्य, शिक्षा और बाकी सब कुछ का दायित्व

उसी पर होता था। इ
धनवान लोगों पर अप्र
और व उसे स्वीकार
में व्यक्ति को अपनी
उपभोग करने की छूट
मैं इस व्यवस्था का व
किन्तु अब मुझे लग
आम आदमी में आ
ह्रास हुआ है।

मेरी जागीर में न
पानी का अभाव भ
अपने काश्तकारों से
खोद लो तो उन पर
उन्होंने उत्तर दिया '
के तेल में भूनना चाह
तुम हमारी मेहनत
पिलाने का पुण्य लू
स्पष्ट ही, उनका भाव
देवताओं के यहां हिस
तो भारी पुण्यार्जन
जाऊंगा,जबकि बेचारे
थोड़ा सा पानी आये
प्रस्ताव वापस ले लेन

एक उदाहरण औ
के कार्यालय से कुशि
कराया। उस सड़क
से कहा कि इस सड़क
दायित्व है। आप
इसके गड्ढे वगैरा
तो यह है कि उनकी
की दुर्गति होती थ
प्रयोग लायक नहीं
उनका उत्तर क्या थ
केवल इसलिए करें
यहां आने-जाने में क
विचार असह्य था
रसास्वादन अन्य लो
के बजाय तो वे स्वय

उसी पर होता था। इस प्रकार भारतीय समाज में धनवान लोगों पर अप्रत्यक्ष कर लाद दिया जाता था और वे उसे स्वीकार भी कर लेते थे क्योंकि भारत में व्यक्ति को अपनी पूरी धन-सम्पत्ति का मनचाहा उपभोग करने की छूट नहीं है। एक समय था जब मैं इस व्यवस्था का बड़ा गुणगान किया करता था। किन्तु अब मुझे लगता है कि इस प्रथा के कारण ही आम आदमी में आत्म-निर्भरता की क्षमता का ह्रास हुआ है।

मेरी जागीर में नदी बहुत दूर बहती थी और पानी का अभाव भारी समस्या बनी हुई थी। मैंने अपने काश्तकारों से कहा कि यदि तुम लोग कुएं खोद लो तो उन पर चिनाई का काम मैं करा दूंगा। उन्होंने उत्तर दिया "वाह तुम तो मछली को उसी के तेल में भूनना चाहते हो। कुएं तो हम खोदेंगे और तुम हमारी मेहनत के बल पर प्यासों को पानी पिलाने का पुण्य लूट कर स्वर्ग चले जाओगे"। स्पष्ट ही, उनका भाव यह था कि ऐसे सब कार्यों का देवताओं के यहां हिसाब रखा जाता है जिससे मैं तो भारी पुण्यार्जन करके सातवें स्वर्ग में पहुंच जाऊंगा,जबकि बेचारे ग्रामवासियों के हिस्से में केवल थोड़ा सा पानी आयेगा। आखिरकार मुझे अपना प्रस्ताव वापस ले लेना पड़ा।

एक उदाहरण और देता हूं। मैंने अपनी जमींदारी के कार्यालय से कुश्तिया तक एक सड़क का निर्माण कराया। उस सड़क के समीप रहने वाले ग्रामवासियों से कहा कि इस सड़क की देखभाल करना आपका दायित्व है। आप लोग आसानी से एकत्र होकर इसके गड्ढे वगैरा ठीक कर सकते हैं। सच बात तो यह है कि उनकी बैलगाड़ियों के द्वारा ही सड़क की दुर्गति होती थी, जिसके कारण वर्षा में वह प्रयोग लायक नहीं रहती थी। किन्तु जानते हो उनका उत्तर क्या था? "क्या हम सड़क की देखभाल केवल इसलिए करें कि कुश्तिया के भद्रलोगों को यहां आने-जाने में कोई कठिनाई न हो?" उन्हें यह विचार असह्य था कि उनके परिश्रम के फल का रसास्वादन अन्य लोग भी कर सकें। ऐसा होने देने के बजाय तो वे स्वयं चाहे जितनी असुविधा झेलना पसन्द करेंगे।

हमारे गांवों में गरीबों ने बहुत अपमान झेले हैं और धनिकों ने बहुत अन्याय किये हैं। किन्तु साथ ही इन धनिकों को जन-कल्याण के सब कार्यों का बोझा भी ढोना पड़ा है। अन्याय और भिक्षा के इन दो पाटों के बीच फंसे हुए ग्रामवासी सर्वथा स्वाभिमान-शून्य हो गये हैं। वे अपनी वर्तमान दुर्दशा का कारण पूर्वजन्म के पापों को मानते हैं और उनका विश्वास है कि अच्छा जीवन जीने के लिए उन्हें अधिक पुण्यों के साथ अगला जन्म लेना होगा। "करम गति टारे नाहिं टरै" जैसी मान्यताओं ने उन्हें अकर्मण्य बना दिया है।

एक समय था जब धनी लोग जलदान और शिक्षादान को बड़ा पुण्य कार्य मानते थे। उनकी इस सद्भावना के कारण गांवों की गाड़ी अच्छी प्रकार चल रही थी। किन्तु आगे चलकर जब धनी लोग शहरों में जाकर बसने लगे तो पानी मिलना बन्द हो गया, मलेरिया और हैजा आदि बीमारियों का प्रकोप फैलने लगा और एक के बाद दूसरे गांव में खुशहाली के सोते सूखने लगे। आज हमारे ग्रामीण अंचल में जिन्दगी कितनी नीरस और उदास है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

इस स्थिति में से निकलने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझ रहा था। जिन लोगों में शताब्दियों से दुर्बलता घर किये बैठी हो और जो स्वयं-सेवा के महत्त्व को ही न समझते हों, उनका हित-साधन करना कोई आसान काम नहीं है। किन्तु मुझे कहीं न कहीं से तो आरम्भ करना ही था। शास्त्र कहते हैं: "श्रद्धया देयम्"-अर्थात् जो कुछ दो, श्रद्धा के साथ दो। इसी भावना के साथ मैंने अपने कार्य का श्रीगणेश किया। मैं अपने कार्यालय में बैठे-बैठे प्रायः कृषकों को अपने बैलों और हलों के साथ खेतों की ओर जाते हुए देखता था। उनके पास छोटे-छोटे खेत थे और प्रत्येक किसान केवल अपने खेत को ही जोतता था। मेरी दृष्टि में यह शक्ति का भारी अपव्यय था। अतः मैंने इन लोगों को बुलवाया और उनसे कहा, "अपने खेतों को मिलकर क्यों नहीं जोतते? अपने सब साधनों और परिश्रम को एक

जगह इकट्ठा क्यों नहीं कर लेते ? तब तुम ट्रैक्टर का भी प्रयोग कर सकोगे। यदि मिल-जुलकर काम करोगे तो उसमें तुम्हारे खेतों के आकार या उपज का अन्तर भी आड़े नहीं आयेगा। क्योंकि सबके सामूहिक प्रयत्नों से जो लाभ होगा उसका सबके बीच न्यायोचित बंटवारा हो सकेगा। यदि गांव भर के खेतों की उपज को एक जगह एकत्र कर लें तो व्यापारियों से उसका उचित मूल्य वसूल किया जा सकता है।" उन्होंने मेरी बातें ध्यान से सुनीं और बोले कि—'विचार तो अच्छा है पर हम इसे क्रियान्वित कैसे करें ?' यदि मेरे पास इस बारे में कुछ ज्ञान व अनुभव होता तो मैं झट से कह देता—'इसका दायित्व मैं लेता हूं।' लेकिन वे सब मुझे जानते थे। इसलिए स्पष्ट है कि केवल चाहने मात्र से ही किसी का भला नहीं किया जा सकता। अज्ञानपूर्ण सहायता से अधिक खतरनाक कुछ नहीं होता। एक बार कुछ शहरी युवक ग्रामवासियों की सहायता करने हेतु एक गांव गये। इन युवकों को न तो गांव वालों की बोली आती थी और न उनकी मनोदशा का ज्ञान था। अतः क्या आश्चर्य कि गांव वालों ने यह कह कर उनका उपहास उड़ाना आरम्भ कर दिया कि 'यह देखो ! भद्रलोग हमारा उद्धार करने आये हैं !"

पर कुछ न कुछ तो करना ही था। मैंने अपने पुत्र और सन्तोष को कृषि शास्त्र और दुग्ध-उद्योग का ज्ञान प्राप्त करने के लिये विदेश भेजा। ऐसी ही कई दिशाओं में मैंने सोचना और कार्य करना आरम्भ कर दिया।

लगभग इसी समय मैंने यह मकान भी खरीदा। मैंने सोचा कि शिलाइदह में मैंने जो काम शुरू किया था उसे यहां जारी रख सकूंगा। यह मकान जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा था और भुतहा माना जाता था। मुझे उसकी मरम्मत पर काफी धन लगाना पड़ा। फिर कुछ समय के लिए मैं निश्चेष्ट बैठा रहा। एन्ड्रयूज ने कहा, "मकान को बेच डालो।" किन्तु मैंने अपने मन में सोचा "यह मकान मेरे पास आया है तो इसमें कोई न कोई अर्थ अवश्य छिपा होगा। हो सकता है कि मेरे जीवन के दो उद्देश्यों में से किसी एक की पूर्ति यहीं होने वाली हो।" किन्तु वह कब होगा, कैसे होगा इसकी कोई कल्पना तब मुझे नहीं थी। मेरे मित्र एमहर्स्ट ने इस कार्य में मेरी बहुत सहायता की। उनके हाथों में आकर ही यह स्थान एक स्वतंत्र कर्मक्षेत्र का रूप धारण कर गया और लगातार प्रगति करने लगा। इसे शान्तिनिकेतन के साथ नत्थी करना कदापि उचित नहीं होता।

स्वावलम्बन का महत्त्व

एक और कार्य मैं आपको सौंपना चाहता हूं। हमें यह देखना चाहिये कि लोगों के अन्दर कर्मचेतना जाग्रत हो। 'स्वदेशी समाज' को लिखते समय यही विचार मेरे मन में था। उस समय भी मैं यही कहना चाहता था कि हमें समूचे देश का विचार कुछ समय के लिए छोड़कर एक या दो गांवों से ही अपना काम आरम्भ करना चाहिये। यदि हम एक गांव को भी अज्ञान और अकर्मण्यता की जंजीरों से मुक्त कर सकें तो समूचे भारत के लिए आदर्श स्थापित किया जा सकेगा। यही विचार मेरे मन में उस समय था और यही आज भी है। कुछ गावों की इस ढंग से पुनर्रचना हो जाये तो मैं कहूंगा कि यही मेरा भारत है। सच्चे भारत की खोज का यही एकमेव मार्ग है।

आपके कार्य की प्रगति का वृत्त पढ़कर मुझे हर्ष हुआ। किन्तु आपके प्रयासों को अन्तिम सफलता तब प्राप्त होगी जब समष्टिगत कल्याण कार्यों के प्रति अपनी सम्पूर्ण योग्यता को समर्पित करने का भाव प्रत्येक व्यक्ति में दृढ़ हो जायेगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि एक स्थान पर ऐसा हो जाय तो उसे गांव-गांव में फैलते देर नहीं लगेगी।

यहां एक और बात भी मैं आग्रहपूर्वक कहना चाहता हूं। हम अपने कर्म में आनन्द के भाव का भी संचार करें। हमारे ग्राम बिल्कुल निरानन्द हो गये हैं। इस शुष्कता को उनके जीवन में से दूर करना होगा। जनहितकारी कार्यों को जहां तक सम्भव हो उत्सवी रूप प्रदान करना होगा। यदि सड़क निर्माण जैसे किसी जनहितकारी कार्य को आरम्भ करते समय उत्सवों का आयोजन किया जाय, तो उससे इन कार्यों को लोगों की दृष्टि से परम्परागत सामाजिक-धार्मिक कर्त्तव्य का स्वरूप प्राप्त हो जायेगा। □

रे मित्र एमहर्स्ट ने इस कार्य में
ी। उनके हाथों में आकर ही यह
र्मक्षेत्र का रूप धारण कर गया
करने लगा। इसे शान्तिनिकेतन
कदापि उचित नहीं होता।

व

मैं आपको सौंपना चाहता हूं।
ये कि लोगों के अन्दर कर्मचेतना
समाज' को लिखते समय यही
ा। उस समय भी मैं यही कहना
ं समूचे देश का विचार कुछ
र एक या दो गांवों से ही अपना
चाहिये। यदि हम एक गांव
अकर्मण्यता की जंजीरों से मुक्त
भारत के लिए आदर्श स्थापित
ही विचार मेरे मन में उस समय
ी है। कुछ गावों की इस ढंग
ो तो मैं कहूंगा कि यही मेरा
रत की खोज का यही एकमेव

प्रगति का वृत्त पढ़कर मुझे
के प्रयासों को अन्तिम सफलता
समष्टिगत कल्याण कार्यों के
योग्यता को समर्पित करने का
में दृढ़ हो जायेगा। मुझे पूर्ण
क स्थान पर ऐसा हो जाय तो
ी देर नहीं लगेगी।

ात भी मैं आग्रहपूर्वक कहना
ने कर्म में आनन्द के भाव का
रे ग्राम बिल्कुल निरानन्द हो
को उनके जीवन में से दूर
तकारी कार्यों को जहां तक
न प्रदान करना होगा। यदि
किसी जनहितकारी कार्य को
उत्सवों का आयोजन किया
ार्यों को लोगों की दृष्टि से
-धार्मिक कर्त्तव्य का स्वरूप

□

दस्तावेज़

गाँधी-नेहरू पत्र व्यवहार

ग्रामवाद बनाम उद्योगवाद

महात्मा गांधी की ओर से
(मूल हिन्दी में)

५ अक्टूबर, १९४५

चि. जवाहरलाल,

तुमको लिखने का तो कई दिनों से इरादा किया था, लेकिन आज ही उसका अमल कर सकता हूं। अंग्रेजी में लिखूं या हिन्दुस्तानी में, यह भी मेरे सामने सवाल रहा था। आखर में मैंने हिंदुस्तानी में ही लिखने का पसंद किया।

पहली बात तो हमारे बीच में जो बड़ा मतभेद हुआ है, उसकी है। अगर वह भेद सचमुच है तो लोगों को भी जानना चाहिए, क्योंकि उनको अंधेरे में रखने से हमारा स्वराज का काम रुकता है। मैंने कहा है कि "हिंद स्वराज" में जो मैंने लिखा है, उस राज्य-पद्धति पर मैं बिल्कुल कायम हूं। यह सिर्फ कहने की बात नहीं है, लेकिन जो चीज मैंने १९०८ साल में लिखी है उसी चीज का सत्य मैंने अनुभव से आज तक पाया है। आखर में मैं एक ही उसे मानने वाला रह जाऊं, उसका मुझको जरा-सा भी दुःख न होगा, क्योंकि मैं जैसे सत्य पाता हूं, उसका मैं साक्षी बन सकता हूं। "हिंद स्वराज" मेरे सामने नहीं है। अच्छा है कि मैं उसी चित्र को आज अपनी भाषा में खींचूं। पीछे वह चित्र सन् १९०८ जैसा ही है या नहीं, उसकी मुझे दरकार न रहेगी, न तुम्हें रहनी चाहिए। आखर में तो मैंने पहले क्या कहा था, उसे सिद्ध करना नहीं है। आज मैं क्या कहता हूं, वही जानना आवश्यक है। मैं यह मानता हूं कि अगर हिंदुस्तान को सच्ची आजादी पानी है और हिंदुस्तान के मारफत दुनिया को भी, तब आज नहीं तो कल देहातों में ही रहना होगा, झोंपड़ियों में, महलों में नहीं। कई अरब आदमी शहरों में और महलों में सुख से और शांति से कभी रह नहीं सकते, न एक दूसरे का खून करके मायने-हिंसा से, न झूठ-से यानी असत्य से। सिवाय इस जोड़ी के (याने सत्य और अहिंसा) मनुष्य जाति का नाश ही है, उसमें मुझे जरा सा भी शक नहीं है। उस सत्य और अहिंसा का दर्शन हम देहातों की सादगी में ही कर सकते हैं। वह सादगी चर्खा में, और चर्खा में जो चीज भरी है उसी पर निर्भर है। मुझे कोई डर नहीं है कि दुनिया उल्टी ओर ही जा रही दीखती है। यों तो पतंगा जब अपने नाश की ओर जाता है तब सबसे ज्यादा चक्कर खाता है और चक्कर खाते-खाते जल जाता है। हो सकता है कि हिंदोस्तान इस पतंगे के चक्कर में से न बच सके। मेरा फर्ज है कि आखर दम तक उसमें से उसे और उसके मारफत जगत को बचाने की कोशिश करूं। मेरे कहने का निचोड़ यह है कि मनुष्य-जीवन के लिए जितनी जरूरत की चीज है, उस पर निजी काबू रहना ही चाहिए—अगर न रहे तो व्यक्ति बच ही नहीं सकता है। आखर तो जगत व्यक्तियों का ही बना है। बिंदु नहीं है तो समुद्र नहीं है। यह तो मैंने मोटी बात ही कही—कोई नई बात नहीं की।

लेकिन "हिंद स्वराज" में भी मैंने यह बात नहीं की है। आधुनिक शास्त्र की कदर करते हुए पुरानी बात को मैं आधुनिक शास्त्र की निगाह से देखता हूं तो पुरानी बात इस नये लिबास में मुझे बहुत मीठी लगती है। अगर ऐसा समझोगे कि मैं आज की देहातों की बात करता हूं तो मेरी बात नहीं समझोगे। मेरा देहात आज मेरी कल्पना में ही है। आखर में तो हरएक मनुष्य अपनी कल्पना की

दुनिया में ही रहता है। इस काल्पनिक देहात में देहाती जड़ नहीं होगा—शुद्ध चैतन्य होगा। वह गंदगी में, अंधेरे कमरे में जानवर की जिंदगी बसर नहीं करेगा, मरद और औरत दो नां आजादी से रहेंगे और सारे जगत् के साथ मुकाबला करने को तैयार रहेंगे। वहां न हैजा होगा, न मरकी होगी, न चेचक होगी। कोई आलस्य में रह नहीं सकता है, न कोई ऐश-आराम में रहेगा। सबको मेहनत शारीरिक करनी होगी। इतनी चीज होते हुए मैं ऐसी बहुत सी चीज का ख्याल कर सकता हूं जो बड़े पैमाने पर बनेंगी। शायद रेलवे भी होगी, डाक-घर भी होंगे। क्या होगा, क्या नहीं, उसका मुझे पता नहीं। न मुझको उसकी फिकर है। असली बात को मैं कायम कर सकूं तो बाकी आने की और रहने की खूबी रहेगी। और असली बात को छोड़ दूं तो सब छोड़ देता हूं।

उस रोज जब हम आखर के दिन वर्किंग कमेटी में बैठे थे तो ऐसा कुछ फैसला हुआ था कि इसी चीज को साफ करने के लिए वर्किंग कमेटी २-३ दिन के लिए बैठेगी। बैठेगी तो मुझको अच्छा लगेगा। लेकिन न बैठे तब भी मैं चाहता हूं कि हम दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह समझ लें। उसके दो सबब हैं। हमारा सम्बन्ध सिर्फ राजकारण का ही नहीं है। उससे कई दरजे गहरा है। बस गहराई का मेरे पास कोई नाप नहीं है। वह सम्बन्ध टूट भी नहीं सकता। इसलिए मैं चाहूंगा कि हम एक दूसरे को राजकारण में भी भली-भांति समझें। दूसरा कारण यह है कि हम दोनों में से एक भी अपने को निकम्मा नहीं समझते हैं। हम दोनों हिंदुस्तान की आजादी के लिए ही जिंदा रहते हैं और उसी आजादी के लिए हमको मरना भी अच्छा लगेगा। हमें किसी की तारीफ की दरकार नहीं है। तारीफ हो या गालियां—एक ही चीज है। खिदमत में उसे कोई जगह ही नहीं है। अगरचे मैं १२५ वर्ष तक सेवा करते-करते जिंदा रहने की इच्छा करता हूं तब भी मैं आखर में बूढ़ा हूं और तुम मुकाबले में जवान हो। इसी कारण मैंने कहा है कि मेरे वारस तुम हो। कम से कम उस वारस को मैं समझ तो लूं और मैं क्या हूं, वह भी वारस समझ ले तो अच्छा ही है और मुझे चैन रहेगा।

और एक बात मैंने तुमको कस्तूरबा ट्रस्ट के बारे में और हिंदुस्तानी के बारे में लिखा था। तुमने सोचकर लिखने को कहा था। मैं पाता हूं कि हिंदुस्तानी सभा में तो तुम्हारा नाम है ही। नाणावटी ने मुझको याद दिलाया कि तुम्हारे पास और मौलाना साहब के पास वह पहुंच गया था और तुमने अपने दस्तखत दे दिये हैं। वह तो सन् १९४२ में था। वह जमाना गुजर गया। आज हिंदुस्तानी कहां है, उसे जानते हो। उसी दस्तखत पर कायम हो तो मैं उस बारे में तुमसे काम लेना चाहता हूं। दौड़-धूप की जरूरत नहीं रहेगी। लेकिन थोड़ा काम करने की जरूरत रहेगी।

कस्तूरबा स्मारक का काम पेचीदा है। ऊपर जो मैंने लिखा है, वह अगर तुमको चुभेगा या चुभता है तो कस्तूरबा स्मारक में भी आकर तुमको चैन नहीं रह सकेगा, यह मैं समझता हूं।

आखर की बात शरतबाबू के साथ कुछ चिनगारियां फूटी हैं, वह है। इससे मुझे दर्द हुआ है। उसको जड़ मैं नहीं समझ सका। तुमने जो कहा है, इतना ही है और बाकी कुछ नहीं रहा है तो मुझे कुछ पूछना नहीं है। लेकिन कुछ समझने जैसा है तो मुझको समझने की दरकार है।

इस खत के बारे में अगर हमें मिलना ही चाहिए तो हमारे मिलने का वक्त निकालना चाहिए।

तुम काम बहुत कर रहे हो, तबीयत अच्छी रहती होगी। इन्दू ठीक होगी।

आनन्द भवन, इलाहाबाद

बापू के आशीर्वाद

[२]

जवाहरलाल नेहरू का उत्तर

आनंद भवन, इलाहाबाद
६ अक्टूबर, १९४५

प्रिय बापू,

लखनऊ से लौटने पर आज आपका ५ अक्तूबर का पत्र मिला। मुझे इस बात की खुशी है कि आपने इतने खुलासे से लिखा और मैं कुछ विस्तार से ही इसका जवाब देने की कोशिश करूंगा। लेकिन मैं उम्मीद करता हूं कि अगर इसमें कुछ देर हुई तो आप मुझे क्षमा करेंगे, क्योंकि इस वक्त मैं बहुत जरूरी कामों में फंसा हुआ हूं। मैं अभी यहां सिर्फ डेढ़ दिन के लिए आया हूं। दरअसल यह कहीं अच्छा होगा कि हम अनौपचारिक रूप से बात कर लें, लेकिन फिलहाल मैं नहीं जानता कि ऐसा कब हो सकेगा। मैं कोशिश करूंगा।

संक्षेप में, मेरा ख्याल है कि हमारे सामने सवाल सत्य बनाम असत्य या अहिंसा बनाम हिंसा का नहीं है। लोग मानते हैं, जैसा कि उन्हें मानना चाहिए कि हमारा मकसद सच्चा सहकार और शांतिपूर्ण पद्धति होनी चाहिए और जो सोसाइटी इनको बढ़ावा देती है उसी को हासिल करना हमारा लक्ष्य है। सारा सवाल यह है कि ऐसी सोसाइटी कैसे हासिल हो और उसमें क्या-क्या बातें हों? मेरी समझ में नहीं आता कि देहात जरूरी तौर पर सत्य और अहिंसा के मूर्त रूप क्यों हों। आम तौर पर हम कह सकते हैं कि देहात बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से बहुत पिछड़े हुए हैं और पिछड़े हुए वायुमंडल में रहकर तरक्की नहीं की जा सकती। तंग दिमाग के लोगों के कहीं अधिक असत्य-भाषी और हिंसक होने की संभावना होती है।

इसके अलावा हमें कुछ मकसद अपने सामने रखने होंगे, जैसे खाने, कपड़े, मकान, शिक्षा, सफाई, वगैरा में पूर्णता। मुल्क के लिए और हरेक के लिए कम-से-कम इतना तो जरूरी होना चाहिए। इन मकसदों को सामने रखकर हमें इस बात को खास तौर पर देखना चाहिए कि इन चीजों को हम जल्दी-से-जल्दी कैसे हासिल कर सकते हैं। फिर मुझे यह भी लगता है कि आवश्यक यातायात के मौजूदा साधनों और आधुनिक सुविधाओं को चालू रखना और उनका विकास होना जरूरी है। उनको स्वीकार किये बिना और कोई चारा ही नहीं। अगर ऐसा है तो जरूरी तौर पर बड़े-बड़े उद्योग एक हद तक रखने ही होंगे। शुद्ध देहाती सोसाइटी के साथ इनका ताल-मेल कहां तक बैठेगा? निजी तौर पर मैं समझता हूं कि बड़े या छोटे दोनों तरह के उद्योग, जहां तक मुमकिन है, विकेन्द्रित होने चाहिए, और अब बिजली के विकास के कारण ऐसा संभव है। अगर देश में दो तरह की अर्थ-व्यवस्थाएं रहें तो या तो उन दोनों के बीच कशमकश होगी या एक दूसरी पर छा जायगी।

इस संदर्भ में बाहरी हमले से राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता और संरक्षण के सवाल पर भी विचार करना होगा। मेरे ख्याल में यह हिन्दुस्तान के लिए मुमकिन नहीं है कि जब तक उसकी तकनीकी तरक्की न हो, वह असली तौर पर आजाद होगा। फिलहाल मैं महज फौजों के ख्याल से नहीं सोच रहा हूं, बल्कि वैज्ञानिक उन्नति की बात मेरे सामने है। आजकल की दुनिया जिस ढंग से चल रही है, हम सांस्कृतिक दृष्टि से भी तरक्की नहीं कर सकते, अगर हर क्षेत्र में हमारी वैज्ञानिक खोज की मजबूत बुनियाद न हो। आज दुनिया में ज्यादा-से-ज्यादा हथियाने की प्रवृत्ति अलग-अलग लोगों में, दलों में, और मुल्कों में बहुत जोरों पर है और इससे झगड़े और लड़ाइयां होती हैं। हमारी

पूरी सोसाइटी कम-ज्यादा इसी पर आधारित है। यह आधार खत्म होना ही चाहिए और उसकी तहज सहकार, न कि अलगाव होना चाहिए। अलगाव आज नामुमकिन है। अगर यह मान लिया जाता है और संभव लगता है तो हमें इसे हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए, ऐसी अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखकर नहीं, जो बाकी दुनिया से कटी हुई है, बल्कि ऐसी अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखकर, जो बाकी दुनिया से मेल रखती है। आर्थिक या राजनैतिक दृष्टि से बाकी दुनिया से अलग होकर हिन्दुस्तान एक तरह का ऐसा शून्य क्षेत्र होगा, जो दूसरों की हथियाने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा देगा और इस तरह उससे झगड़े बढ़ेंगे।

करोड़ों लोगों के लिए महलों का तो सवाल ही नहीं उठता। लेकिन इसकी भी कोई वजह नहीं कि क्यों न करोड़ों लोग आरामदेह मकानों में रहकर सभ्यों जैसी जिंदगी बितायें। आज के बहुत से अति उन्नत शहरों में बुराइयां पनपी हैं, जो निंदनीय हैं। शायद हमें इस प्रकार की जरूरत से ज्यादा तरक्की को हतोत्साहित करना पड़े और साथ ही हमें देहातों को इतना बढ़ावा देना पड़ेगा कि वे शहर की सभ्यता के मुकाबले आ सकें।

"हिंद स्वराज्य" को पढ़े बहुत साल हो गये और मेरे दिमाग में सिर्फ धुंधली-सी तस्वीर है। लेकिन जब मैंने २० साल या उससे पहले इसे पढ़ा था तब भी वह मुझे असलियत से एकदम परे लगा था। उसके बाद के आपके भाषणों और लेखों में मुझे बहुत-कुछ ऐसा मिला है, जिससे पता चलता है कि आप पुरानी हालत से आगे बढ़े हैं और आधुनिक धाराओं की पसंदगी भी उनमें दिखाई देती है। इसलिए मुझे ताज्जुब हुआ जब आपने हमें बताया कि अब भी पुरानी तस्वीर आपके दिमाग में ज्यों-की-त्यों कायम है। जैसा कि आप जानते हैं, कांग्रेस ने इस तस्वीर पर कभी गौर नहीं किया, उसे मंजूर करने की तो बात ही अलग है। आपने स्वयं भी सिवाय इसके कुछ छोटे-मोटे पहलुओं के कभी इसे मंजूर करने को नहीं कहा। अब आप ही फैसला करें कि कांग्रेस के लिए यह कहां तक ठीक है कि वह उन बुनियादी सवालों पर गौर करे, जिनका जीवन के विभिन्न दर्शनों से संबंध आता है। मेरा ख्याल है कि कांग्रेस जैसी संस्था को ऐसे मामलों के तर्क-वितर्क में अपने को नहीं उलझाना चाहिए, जो लोगों के दिमागों में भारी भ्रम पैदा करें, जिससे वे वर्तमान में काम न कर सकें। इसका नतीजा यह भी हो सकता है कि देश में कांग्रेस और दूसरों के बीच दीवार खड़ी हो जाए। बेशक, आखिरकार इस और दूसरे सवालों को आजाद हिन्दुस्तान के नुमाइंदों को तय करना होगा। मुझे लगता है कि बहुत पुराने जमाने की नजर से इन सवालों पर विचार किया गया है और चर्चा हुई है और उन बड़ी-बड़ी तब्दीलियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है, जो पिछली पीढ़ी या उससे भी ज्यादा वक्त में दुनिया भर में हुई हैं। ३८ साल हो गये जब "हिन्द स्वराज्य" लिखा गया था। तबसे दुनिया पूरी तरह बदल गई है, मुमकिन है कि उसकी दिशा गलत हो। जो हो, अगर हम इन सवालों पर गौर करें तो हमें मौजूदा असलियतें, शक्तियां और मानवीय उपकरणों को, जो आज हमारे पास हैं, सामने रखना चाहिए, नहीं तो हम असलियत से दूर जा पड़ेंगे। आपका यह कहना ठीक है कि दुनिया या उसका बड़ा हिस्सा अपना खात्मा करने पर तुला दिखाई देता है। हो सकता है कि जिस सभ्यता का विकास हुआ है, उसके दूषित बीज का यह अनिवार्य परिणाम हो। मेरे ख्याल से ऐसा ही है। हमारे सामने समस्या यह है कि इस बुराई से छुटकारा कैसे मिले और उसके साथ ही वर्तमान में अच्छाई को कैसे कायम रक्खा जाय, जैसी कि वह पहले थी। जाहिर है कि वर्तमान में भी अच्छाई मौजूद है।

ये कुछ बिखरे विचार हैं, जो जल्दी में लिख दिये गए हैं और मुझे डर है कि ये प्रस्तुत प्रश्नों के गंभीर महत्व के प्रति न्याय नहीं करते। मुझे उम्मीद है कि आप मुझे बेतरतीबी से विचारों को रखने के लिए माफ करेंगे। बाद में मैं इस विषय पर ज्यादा सफाई से लिखने की कोशिश करूंगा।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और कस्तूरबा निधि के संबंध में, जाहिर है कि, दोनों के प्रति मेरी सहानुभूति है और मेरे विचार में वे अच्छा काम कर रही हैं। लेकिन वे जिस ढंग से काम करती हैं, उसके बारे में मैं पूरी तरह आश्वस्त नहीं हूं और मेरा ख्याल है कि वह तरीका हमेशा मेरी पसंद का नहीं होता। दर असल मैं उनके बारे में इतना नहीं जानता हूं कि पक्के तौर पर कुछ कह सकूं। लेकिन आजकल अपने ऊपर जिम्मेदारियों का बोझ बढ़ाने में मेरी अरुचि पैदा हो गई है, जबकि मैं महसूस करता हूं कि वक्त की कमी के कारण शायद मैं उन्हें अपने ऊपर नहीं ले सकता। अगले महीने और उससे भी कुछ ज्यादा समय मेरे और दूसरे लोगों के लिए गरमागरमी के होंगे, ऐसी संभावना है। इसलिए मुझे यह मुनासिब नहीं लगता कि मैं नाममात्र के लिए किसी जिम्मेदारी की कमेटी का सदस्य बनूं।

शरत् बोस के बारे में पूरी तरह अंधेरे में हूं कि वह मुझसे क्यों इतने नाराज हो गये हैं। हो सकता है कि इसके पीछे विदेशी संबंधों को लेकर मेरे आम नजरिये के प्रति उनकी कोई पुरानी शिकायत हो। मैं आया सही था या गलत, पर मुझे लगता है कि शरत ने बच्चों का-सा और गैर-जिम्मेदाराना ढंग का काम किया है। शायद आपको याद होगा कि पुराने दिनों में सुभाष ने स्पेन, चेकोस्लोवेकिया, स्यूनिख और चीन के प्रति कांग्रेस के रुख को पसंद नहीं किया था। शायद यह विचारों के पुराने भेद का असर है। मुझे नहीं पता कि इसके अलावा और क्या हुआ?

अच्छा, आप नवम्बर के शुरू में बंगाल जा रहे हैं? हो सकता है कि उन्हीं दिनों मैं भी तीन या चार दिन के लिए कलकत्ता जाऊं। अगर ऐसा हुआ तो मुझे उम्मीद है कि आपसे भेंट होगी।

आपने अखबारों में देखा होगा कि इंडोनेशिया के नये बने गणराज्य के राष्ट्रपति ने मुझे और कुछ दूसरे लोगों को जावा आने के लिए निमंत्रित किया है। विशेष परिस्थितियों को नजर में रखकर मैंने उस निमंत्रण को फौरन मंजूर कर लेने का निश्चय किया, बशर्ते कि वहां जाने की मुझे जरूरी सहूलियतें मिल जायं। सहूलियतें मिलने में मुझे पूरा शक है। इसलिये शायद मैं नहीं जाऊंगा। हवाई जहाज से जावा का दो दिन का रास्ता है। अथवा कलकत्ता से एक ही दिन का। इंडोनेशिया गणतंत्र के उप-राष्ट्रपति श्री मोहम्मद हट्टा मेरे बहुत पुराने दोस्त हैं। मेरा अंदाज है कि आपको मालूम होगा कि जावा की करीब-करीब पूरी आबादी मुस्लिम है।

मैं उम्मीद करता हूं कि आप स्वस्थ होंगे और इंफ्लुएंजा का जो हमला हुआ था, उससे पूरी तरह ठीक हो गये होंगे।

महात्मा गांधी,
नेचर क्योर क्लिनिक,
६, टोडीवाला रोड,
पूना

सस्नेह आपका
जवाहरलाल

(३)

महात्मा गांधी की ओर से

पूना

१३ नवंबर १९४५

चि. जवाहरलाल,

हमारी कल की बात से मुझे तो बड़ा आनंद हुआ। उससे अधिक बात कल तो कर नहीं सकते थे और मेरा ख्याल ऐसा है कि हम एक ही वक्त मिलकर सब काम पूरा नहीं कर सकेंगे। समय-समय पर हमें अवश्य मिलना चाहिए। मैं तो ऐसे बना हूं कि अगर आज मेरी शक्ति इधर-उधर जाने की रहे तो मैं ही तुमको ढूंढ लूं, एक-दो दिन साथ रह लूं, कुछ वार्तालाप कर लूं और भाग जाऊं। ऐसी मेरी स्थिति आज नहीं रही है, लेकिन ऐसे मैंने किया है इतना समझो। मैं चाहता हूं कि हम एक-दूसरे को समझें, ऐसे ही लोग भी हमको समझ लें। अन्त में ऐसा हो सकता है कि हमारा मार्ग ही अलग है तो अलग सही। हमारा हृदय तो एक ही रहेगा, क्योंकि एक है। कल की बात से यह समझा हूं कि हम दोनों में विचार-श्रेणी में या वस्तु समझने में बडा अंतर नहीं है। तुमको किस तरह से समझा हूं वह बताना चाहता हूं, जिससे अगर फरक है तो मुझे बता दोगे।

१. तुम्हारी दृष्टि से हरेक इन्सान की बौद्धिक, आर्थिक, राजकीय और नैतिक शक्ति कैसे बढ़े, वो ही सच्चा प्रश्न है। मेरा भी वही है।

२. और उसमें भी हरेक इन्सान को ऊँचे चढ़ने का एक-सा हक और मौका होना चाहिए।

३. इस दृष्टि से देखते हुए देहात की और शहर की एक ही हालत होनी चाहिए। इसलिए खाना, पीना, रहना, पहनना और रमत-गमत एक-सी होनी चाहिए। आज तो यह स्थिति पैदा करने के लिए अपने कपड़े, खुराक और मकान अपने-आप पैदा करना और बनाना चाहिए और ऐसे ही अपना पानी या बत्ती भी अपने आप पैदा करना चाहिए।

४. इन्सान जंगल में रहने के लिए पैदा नहीं हुआ है, लेकिन समाज में रहने के लिए पैदा हुआ है। एक पर दूसरा सवारी न कर सके, यह विचार करते हुए पता चलता है कि यूनिट एक काल्पनिक देहात या ग्रुप होना चाहिए, जो स्वावलंबी रह सके और उस ग्रुप में एक-दूसरे पर अवलंबन तो होना ही होगा। इस तरह सोचने से सारी दुनिया के इन्सानों के संबंध का नक्शा बन जाता है।

यहां तक मैं अगर ठीक समझा हूं तो दूसरा हिस्सा मैं शुरू करूंगा। जो खत मैंने तुमको पहले लिखा था, उसका अंग्रेजी रा० कु० से करवा लिया था, वह मेरे पास पड़ा है। इसकी अंग्रेजी भी करवा लेता हूं और उसे हाथ में ही भेजता हूं। अंग्रेजी करवाकर मैं दो काम कर लेता हूं। एक तो मैं अपना कहना तुमको अंग्रेजी में ज्यादा समझा सकता हूं तो समझाऊं, और दूसरा मैं तुम्हारी बात पूरी-पूरी समझा हूं कि नहीं, उसका भी अंग्रेजी करने से मुझे ज्यादा पता चलेगा।

इंदु को आशीर्वाद।

बापू के आशीर्वाद



ay 400 001.
Telex: 011-2961
CHAITRA-CS-69



राष्ट्र-निर्माण का मूल आधार : गांव*

□ जयप्रकाश नारायण

समाज की प्रत्येक संस्था अपनी विशेष मिट्टी से पैदा होती है और वह अपनी ही विशिष्ट जल-वायु एवं वातावरण से पालित-पोषित होती है। बाहर से उधार लेना सामाजिक विकास का एक सामान्य साधन रहा है, परन्तु उधार ली गई कोई संस्था जब तक समुचित रूप से स्थानीय जलवायु के अनुकूल और उसके साथ एकरस नहीं हो जाती, तब तक उसका विकास नहीं होता। भारत के लम्बे इतिहास में उसकी संस्थाओं ने जो रूप ग्रहण किया है, वह विशिष्ट रूप से भारतीय है। यहाँ एक ऐसी जीवन पद्धति विकसित हुई है, जो किसी सूक्ष्म प्रक्रिया से भारतीय ढांचे में ढल गयी है। और फिर एक ऐसी मानसिक दृष्टि पैदा हुई है जो विशिष्ट रूप से भारतीय रूपरेखा के अन्दर काम करती है।

भारत की सामाजिक संस्थाओं का एक बहुरंगी इतिहास रहा है। विकास की स्वदेशी धाराओं को विदेशी आक्रमणों एवं शासनों ने परिवर्तित और विकृत किया है। परन्तु भारतीय जीवन की अन्तर्धाराएँ इतनी सशक्त रही हैं कि उन्होंने अपने आपको फिर से उद्‌बुद्ध किया है, और विदेशी संस्थाओं एवं जीवन-पद्धतियों को भेद डाला है। मुस्लिम शासन काल में जो सतयुग कहा जाता है, वह ऐसे ही पुनरुद्बोधन का प्रतिनिधित्व करता था। उस समय नानक, कबीर, तुलसी, तुकाराम तथा अन्य सन्तों ने बिखरी हुई सभ्यता के ध्वंसावशेष के नीचे पड़ी निधियों को खोद निकालने का प्रयास किया। इसी प्रकार, ब्रिटिश शासन-काल में, राजा राममोहन राय से मोहनदास कर्मचन्द गांधी तक की परम्परा भारत के पुनर्जन्म एवं उसके महत्वपूर्ण जीवन-स्रोतों के पुनरुद्बोधन का प्रतिनिधित्व करती थी।

भारत की वर्तमान राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें विदेशी प्रतिरोपण हैं। इन संस्थाओं (या उनके पूर्ववर्तियों) को भारतीय मिट्टी में प्रतिरोपित करने के क्रम में अंग्रेजों ने भारत की प्राचीन या अर्वाचीन पद्धतियों का ख्याल नहीं किया। अंग्रेजी शासन की समाप्ति के बाद, भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भी, जिनमें राजनीतिज्ञ और विशेषज्ञ दोनों शामिल थे, भारत की परम्पराओं तथा भारतीय जीवन की गहराई में बहनेवाले स्रोतों पर ध्यान नहीं दिया। कम-से-कम इसका परिणाम तो अच्छा नहीं हुआ।

ब्रिटिश लोकतंत्र का अंधानुकरण

ब्रिटिश लोकतन्त्र सापेक्ष रूप से एक नयी वस्तु है। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को शासनपत्रित किया गया, उस समय ब्रिटिश द्वीपपुंज में लोकतंत्र नहीं था। लोकतंत्र वहां राजा और श्रीमंतों के संघर्ष से शुरू हुआ। बाद में इस संघर्ष का विस्तार व्यापारिक और भूमि-आधारित हितों के बीच संघर्ष के रूप में हुआ, जिससे ब्रिटिश लोकतन्त्र और व्यापक बना। औद्योगिक क्रान्ति ने इस प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान की, और तब नये मध्यमवर्ग ने संघर्ष करके राज-

* आकाशवाणी के पटना केन्द्र से प्रसारित वार्ता (अप्रैल १९५९)

नीतिक सत्ता का एक अंश प्राप्त कर लिया। श्रमिक वर्ग आन्दोलन के उदय के फलस्वरूप ब्रिटिश लोकतन्त्र की सीमायें और विस्तृत हुई तथा वयस्क मताधिकार एवं पूर्ण प्रतिनिधिक शासन की स्थापना हुई।

वर्तमान भारतीय लोकतंत्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय समाज के राजनीतिक एवं आर्थिक चेतनाशील तत्वों के संघर्ष का परिणाम है। भारतीय लोगों ने, विशेषकर सामान्य जनता ने, लोकतन्त्र की वर्तमान संस्थाओं की स्थापना के लिए संघर्ष नहीं किया, यद्यपि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में उसने भाग लिया था। उदाहरणार्थ, वयस्क मताधिकार जनता द्वारा मत देने के बहुमूल्य अधिकार के लिए किए गए संघर्ष का परिणाम नहीं है। बहुसंख्यक लोग उस अधिकार का मूल्य नहीं समझते हैं और न उसका उपयोग करना जानते हैं। यह स्थिति वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र को अवास्तविक एवं सत्वहीन बनाती है।

क्या इसका कोई विकल्प था या है? मैं विश्वासपूर्वक कहता हूं कि है। और असाधारण बात यह है कि हमारी स्वतन्त्रता के शिल्पी और राष्ट्र के पिता ने ही विशेष प्रयत्न कर उस विकल्प की ओर संकेत किया था। परन्तु जिस प्रकार भारतीय इतिहास की उपेक्षा की गयी थी, उसी प्रकार गांधी जी की उद्‌बोधक वाणी की भी उपेक्षा कर दी गयी।

प्राचीन ग्रामीण समुदाय

प्रत्येक व्यक्ति ने भारत में प्राचीन ग्रामीण समुदायों के विषय में सुना है। यह सच है कि उनके बारे में बहुत जानकारी प्राप्त नहीं है। परन्तु जो मानवशास्त्री हव्वस्थि या जंघास्थि के सहारे सम्पूर्ण प्राणी का निर्माण कर लेता है और उसने जिस संस्कृति का निर्माण किया होगा, उसका भी कुछ अनुमान कर लेता है, उसकी अपेक्षा तो बहुत अधिक जानकारी समुदायों के बारे में हमें प्राप्त है। भारतीय एवं विदेशी इतिहासकारों ने प्राचीन भारतीय गांवों के सम्बन्ध में इतना काफी अनुसन्धान कर रखा है जिससे हम यह जान सकते हैं कि किस प्रकार वे गांव भारतीय समाज के सुदृढ़ आधार बने हुए थे, जिन्होंने देश में होने वाली सारी उथल-पुथल का सामना किया। राजवंश उठे और गिरे, लड़ाइयों में हार-जीत हुई, आक्रमणकारी आये और गए, लेकिन प्रत्येक राजनीतिक उथल-पुथल के बीच ग्रामीण समुदाय चट्टान की तरह खड़ा रहा और निर्धारित ढंग से अपना जीवन-यापन तथा अपने काम-काज का संचालन करता रहा। इतिहासकारों के अनुसार, भारत में जो स्थायी मूल्य और महत्व की चीज रह गयी है, वह बहुत कुछ भारतीय समाज की इसी दृढ़ता का परिणाम है जो प्राचीन ग्रामीण संगठनों की देन थी। विभिन्न कालों में और विभिन्न क्षेत्रों में इन स्वशासी समुदायों के छोटे-छोटे संघ विद्यमान थे, जो सदियों तक कार्यशील रहे। इसी प्राचीन नगर पटना, जहां यह वार्ता ध्वनिबद्ध की जा रही है, की उत्तर दिशा में वह प्रसिद्ध लिच्छवि गणराज्य स्थित था, जिसकी चर्चा बुद्ध ने की है और जिससे शक्तिशाली मगध साम्राज्य भी सशंकित रहता था। निस्संदेह इन गणतन्त्रों का रूप कबीलों जैसा था, लेकिन वे लोकतांत्रिक कबीले थे, जो स्वीकृत विधि-विधानों, पद्धतियों एवं नियमों के अनुसार अपना कार्य-व्यापार चलाते थे।

प्राचीन गणराज्य

स्वशासी ग्रामीण समुदाय भारतीय राज्य-व्यवस्था की आधारशिला थी। उन्हें शक्ति अन्दर से प्राप्त होती थी, बाहर से नहीं। उनकी सत्ता किसी केन्द्रीय सत्ता द्वारा प्रदत्त अधिकारों एवं शक्तियों पर आधारित नहीं थी, बल्कि उन समुदायों के घटक परिवारों की स्वैच्छिक सम्मति पर आधारित थी। उनके अधिकार और कृत्य आज की ग्राम पंचायतों के अधिकारों और कृत्यों से कहीं अधिक विस्तृत थे। ये ग्राम पंचायतें तो अपने प्राचीन पूर्ववर्तियों की तुलना में खोखले आवरण मात्र हैं। प्रोफेसर ए० एस० अल्तेकर

अपनी पुस्तक "प्राचीन भारत में राज्य और शासन" में प्राचीन ग्रामीण समुदायों के अधिकारों एवं कृत्यों का सार निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत करते हैं :

वे (ग्रामीण समुदाय) समुदाय की रक्षा के लिए प्रभावशाली प्रबन्ध करते थे, केन्द्रीय शासन के करों का संग्रह करते थे और अपनी ओर से भी कर लगाते थे, गांव के विवादों का निपटारा करते थे, सार्वजनिक उपयोग एवं मनोरंजन के क्रिया-व्यापारों का आयोजन करते थे, न्यासियों और बैंकरों के रूप में काम करते थे, अकालजन्य कष्टों के निवारणार्थ सार्वजनिक ऋण उठाते थे, तथा मन्दिरों के विविध धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलाप का परिवेक्षण करते थे। इसमें संदेह नहीं कि पूर्व और पश्चिम के अधिकांश देशों की स्थानिक संस्थाओं को जो अधिकार आज प्राप्त हैं, उनसे अधिक अधिकारों का प्रयोग वे ग्राम समुदाय करते थे। ग्रामीणों के हितों की रक्षा और उनकी भौतिक, नैतिक एवं बौद्धिक प्रगति को अग्रसर करने में उनकी महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक भूमिका होती थी।

आज का भारतीय गाँव

आज के बिखरे हुए, पिछड़े हुए तथा उदासीन बने हुए गांवों पर हम जब दृष्टि डालते हैं, तो यह विश्वास नहीं होता कि किसी समय ऐसे शक्तिशाली ग्रामीण समुदायों का भी अस्तित्व था। लोकतन्त्र की यह प्राचीन परम्परा, कहीं से उधार ली गयी व्यवस्था की अपेक्षा, हमारे लिए अधिक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर सकती थी। बाहर से भी हमने जो उधार लिया, उसको भी समुचित रूप से देश की राज्य-व्यवस्था में समायोजित किया जा सकता था, बशर्ते कि इनका निर्माण प्राचीन परम्परा की परिधि में किया गया होता। यह सच है कि हमारा संविधान स्थानिक स्वशासन की निम्नतम इकाइयों के रूप में ग्राम पंचायतें स्थापित करने के कार्यक्रम पर बल देता है। यह भी सच है कि हाल के वर्षों में राज्य सरकारों ने, केन्द्र के समर्थन एवं निर्देश पर, इस कार्यक्रम को तेजी से आगे बढ़ाने की दिशा में सक्रिय कदम उठाये हैं। परन्तु जैसा कि मैंने अभी ही कहा है, ये नवगठित पंचायतें सत्वहीन आवरण के तुल्य हैं। उनके पास जो भी सत्ता है, वह उनको ऊपर से प्राप्त हुई है। अतः ये पंचायतें गांधी जी के ग्रामराज्य के विकास से अधिक, गांव में केन्द्रीय सत्ता के आक्रमण, का प्रतिनिधित्व करती हैं।

आज के टूटे-बिखरे हुए गांव को, जिसके पास अपना कोई सामूहिक संकल्प नहीं है और जो पूर्णतः स्वार्थी एवं शोषणकारी हितों की मर्जी पर खड़ा है, कैसे एक वास्तविक स्वशासी समुदाय के रूप में एकीकृत किया जाये और भारतीय राज्य-व्यवस्था का सुदृढ़ आधार बनाया जाये, यह मेरी दृष्टि में राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए गांव तथा मानवीय समाज दोनों के बारे में हमारा जो चिन्तन है, उसमें क्रान्ति की आवश्यकता है।

भारतीय गाँव का भविष्य

भारतीय गांव के भविष्य के सम्बन्ध में हम तीन विभिन्न दृष्टिकोण पाते हैं। एक समानता है कि गांव जीर्ण-शीर्ण संस्था है जो अन्ततः समाप्त होकर रहेगी। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार भी गांव बीते युग की संस्था है। लेकिन वह मानता है कि (क) कृषि कार्य आवश्यक है और (ख) नगरीकरण, चाहे वह कितना ही तीव्र गति से हो, प्रत्येक व्यक्ति को शहर में जगह नहीं दे सकता। इसलिए इस दृष्टिकोण के अनुसार गांव को जीवित रखना है, ताकि खाद्य एवं उद्योग के लिए कुछ आवश्यक कच्चे मालों का उत्पादन किया जा सके। यह दृष्टिकोण उदारतापूर्वक गांव के विकल्प का समर्थन करता है। तथापि, इस दृष्टिकोण के अनुसार गाँव शहर का एक कनिष्ठ सहयोगी और गरीब सहायक ही बना रहता है, जबकि शहर सभ्यता, प्रगति, आधुनिकता एवं विज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है।

शहर कहलाने वाले मानवीय जंगल

तीसरा दृष्टिकोण वह है जो मानता है कि गांव मनुष्य का स्वाभाविक एवं सुसंगत आवास है तथा सामाजिक संगठन की एक प्रारम्भिक इकाई

है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए मानवीय स्वभाव के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि जिस प्रारम्भिक समुदाय में वह रहता है, वह ऐसा हो कि समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ वह वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित कर सके तथा अर्थपूर्ण सहजीवन जी सके। कस्बे और शहर मानवीय जंगल हैं, जहां अवैयक्तिक सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन को अधिशासित करते हैं, और व्यक्ति क्लब तथा अन्य ऐसे कृत्रिम संघों का निर्माण कर "समाज" में रहने की अपनी प्यास बुझाता है। शहरों में पड़ौसी-पड़ौसी को नहीं जानता और वहां कोई सहजीवन नहीं होता। जीवन उपखण्डों में विभाजित होता है और लोग रेलगाड़ी के यात्रियों के समान अलग-अलग डिब्बों में, विभिन्न लोगों के साथ विभिन्न कार्यक्षेत्रों में एक के बाद एक—जैसे कभी किसी कारखाने में कभी बड़े आवासीय प्रकोष्ठ में, कभी नाट्यशाला आदि में—ढकेल दिये जाते हैं। यह कोई सहजीवन नहीं है। यह कोई मनुष्य का समाज नहीं है।

एक दूसरा भी विचार है जिस पर मैं इस क्रम में बल देना चाहूंगा। जीवन के कुछ मूल्य होते हैं, जिन्हें सभ्य मानव मान्य करता है और उन्हें वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण का आधार बनाना चाहता है। अब चूंकि मनुष्य को समाज में ही रहना है, इसलिये यह मांग उचित है कि कम-से-कम जिस प्रारंभिक समुदाय में वह रहता है, वह ऐसा हो कि जहां उन मूल्यों पर वह आसानी से आचरण कर सके। उदाहरण के लिये, सहयोग के मूल्यों को हम लें। आज यह एक सर्वमान्य विचार है कि इस युग में, जबकि विनाश के साधनों ने इतनी प्रचुर शक्ति प्राप्त कर ली है, यह आवश्यक है कि मनुष्य सहयोग-पूर्वक रहे, ताकि वह जीवित रह सके और विज्ञान के वरदानों का उपभोग कर सके। रूस और अमरीका भी सहयोग की दिशा में सोचने के लिए बाध्य हुए हैं।

गाँव—केवल एक रास्ता

अब, यदि मानव जाति को अपने बीच सहयोग विकसित करना है तो यह आवश्यक है कि वह जिस समुदाय में रहता है, उसमें सहयोगपूर्वक रहना सीखे। बड़े-बड़े कस्बे और शहर रूपी मानवीय जंगलों की अपेक्षा छोटे समुदायों में यह अधिक संभव है। हां, यूरोप और अमरीका में सभी ढंग की सहकारी समितियां बनी हैं। लेकिन वे निश्चित-रूपेण सहकारी जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे भी जीवन को उपखंडों में विभाजित करती हैं, और व्यक्ति कभी उपभोक्ता के रूप में और कभी उत्पादक के रूप में सहयोग करता है। इस प्रकार की सहकारी समितियां न केवल जीवन खंडित करती हैं, बल्कि उसको अवैयक्तिक भी बनाती हैं। सहकार का आनन्द सहकारी समिति के सदस्यों को प्राप्त आर्थिक लाभों के बजाय उस मानवीय संबंध में निहित है जो सहकार करने वालों के बीच स्थापित होता है। वास्तविक सहकारी जीवन केवल उस छोटे समुदाय में संभव है जहां वैयक्तिक संबंधों का निर्माण हो सकता है और जीवन एक साथ जिया जा सकता है।

भारत की धार्मिक परम्परा में पूजा या उपासना दो प्रकार की होती है। एक सगुण और दूसरी निर्गुण। पहले को व्यक्त परमेश्वर और दूसरे को अव्यक्त की संज्ञा दी जा सकती है। धार्मिक उपदेशों ने कहा है कि सगुण ब्रह्म की उपासना निर्गुण की उपासना से अधिक आसान होती है। इसी प्रकार अपरिचित लोगों के साथ काल्पनिक सहयोग करना, परिचित लोगों के साथ जिनकी संगति में हम रहते हैं, सहयोग करने की अपेक्षा अधिक कठिन होता है, और उसके लिए कहीं अधिक बौद्धिक अनुभूति आवश्यक होती है। यह कहा जा सकता है कि बड़े शहरों में भी ऐसा सहयोग संभव है, परन्तु वह खंडित सहयोग होगा, न कि सम्पूर्ण मनुष्यों के बीच सहयोग।

यदि मेरे पास और समय होता तो मैं अन्य मानवीय मूल्यों का उदाहरण देकर यह सिद्ध करता कि किस प्रकार अलग-अलग मनुष्यों के बड़े-बड़े निर्जीव समूहों की अपेक्षा छोटा सजीव समुदाय उन मूल्यों के लिए कहीं अधिक अनुकूल पोषण-

स्थल है। कुछ मानवी
बड़े समुदाय की अ
सार्थकतापूर्वक आच
मेरा तात्पर्य लोकत
सच्चा लोकतंत्र ऐसे
ठीक है कि छोटे-
राष्ट्र के बड़े लोकत
लोकतांत्रिक समुदा
परन्तु लोकतांत्रिक
छोटे प्रारंभिक समु

नगरीकरण को कै

इस सम्पूर्ण वि
त्ति यह उठायी ज
प्रवृत्ति काम कर
दिशा में तथा छो
है। स्थिति निस्स
की जनसंख्या अभ
बढ़ रही है। परन
नहीं करता कि
की शक्तियों का
पास तर्क एवं बु
अपनी इच्छा
है। विज्ञान में
को विशाल, वि
से रहने के लि
न्मुख प्रवृत्ति
नीतिक कार
प्रबुद्ध मानवी
है। इसमें संदे
यदि रहता है
जा सकती। दे
मानव समाज
आधार पर
बस्तियों के
हर दृष्टि से
कोई भी उ
कहा था कि
मरता है, स

स्थल है। कुछ मानवीय मूल्य ऐसे हैं, जिन्हें स्पष्टतः बड़े समुदाय की अपेक्षा छोटे समुदाय में, अधिक सार्थकतापूर्वक आचरण में उतारा जा सकता है। मेरा तात्पर्य लोकतंत्र के मूल्यों से है। जनता का सच्चा लोकतंत्र ऐसे ही समुदाय में संभव है। यह ठीक है कि छोटे-छोटे लोकतांत्रिक समुदायों को राष्ट्र के बड़े लोकतंत्र में, और अन्ततः अंतर्राष्ट्रीय लोकतांत्रिक समुदाय में, एकीकृत करना होगा। परन्तु लोकतांत्रिक जीवन की वास्तविक बुनियाद तो छोटे प्रारंभिक समुदाय में ही डाली जा सकती है।

नगरीकरण को कैसे रोकें

इस सम्पूर्ण चिंतन के विरुद्ध एक गंभीर आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि सारे विश्व में जो प्रवृत्ति काम कर रही है, वह स्पष्टतः नगरीकरण की दिशा में तथा छोटे समुदायों की समाप्ति की दिशा में है। स्थिति निस्सन्देह यही है। भारत में भी शहरों की जनसंख्या अभी प्रतिवर्ष पैंतीस लाख के हिसाब से बढ़रही है। परन्तु मैं मनुष्य की कल्पना इस रूप में नहीं करता कि वह प्रारब्ध या तथाकथित इतिहास की शक्तियों का असहाय शिकार है। मनुष्य के पास तर्क एवं बुद्धि है और वह अपने जीवन को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवस्थित कर सकता है। विज्ञान में ऐसा कुछ निहित नहीं है जो मनुष्य को विशाल, विकटाकार बस्तियों में अव्यवस्थित रूप से रहने के लिए बाध्य करता हो। वर्तमान नगरोन्मुख प्रवृत्ति के कुछ आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारण हैं। वे शाश्वत नहीं हैं, और उन्हें प्रबुद्ध मानवीय प्रयत्न से परिवर्तित किया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि गांव आज जैसा है, वैसा ही यदि रहता है तो नगरीकरण की प्रवृत्ति रोकी नहीं जा सकती। लेकिन यदि यह मान्य किया जाता है कि मानव समाज का निर्माण छोटे प्राथमिक समुदायों के आधार पर ही करना है, तो आज के गांवों को ऐसी बस्तियों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है जो हर दृष्टि से आकर्षक होंगी, और तब सामान्यतः कोई भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहेगा। गांधी जी ने कहा था कि भारत के गांव मरते हैं तो भारत भी मरता है, साथ-साथ उन्होंने जोरदार शब्दों में यह भी स्पष्ट रूप से कहा था कि आज गांवों का जो रूप है, उसी रूप से उन्हें सुरक्षित रखने की बात वे क्षण भर के लिए भी नहीं सोचते। अवश्य ही उन्हें मौलिक रूप से परिवर्तित करना होगा, परन्तु एक छोटे समुदाय के रूप में उनकी वे विशिष्टताएं कायम रहेंगी, जिन्हें दिखाने का प्रयास मैंने ऊपर किया है।

आज गांव और शहर दोनों का जीवन असंतुलित और असंतोषकारक है। समुचित संतुलन की स्थापना के लिए कृषि और उद्योग को एक साथ,परस्पर-वलम्बी एवं पूरक रूप में, चलाना आवश्यक है। कुछ अपवाद हो सकते हैं, जिनके कारणों में हमें जाने की आवश्यकता अभी नहीं है, परन्तु प्राथमिक समुदायों का रूप मुख्यतः कृषि-औद्योगिक ही होना चाहिए। शहर और गाँव के बीच के वर्तमान भेदों को मिटाना होगा, और पूर्णतः एक नये प्रकार के समुदाय का निर्माण करना होगा। भारतीय गाँव की विशेषता यह है कि भविष्य के कृषि-औद्योगिक समुदायों के निर्माण का एक पूर्व प्रस्तुत आधार वह बन सकता है।

मैं यह भी कहना चाहता हूं कि कृषि-औद्योगिक समुदायों में विज्ञान के उपयोग पर, स्वीकृत मानवीय मूल्यों द्वारा, लगायी गयी सीमाओं को छोड़ कोई सीमा लगाने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान के विषय में अक्सर यह कहा जाता है वह प्रकृति की स्वतंत्र शक्ति है जिसके अनुकूल अपने आपको बनाना मनुष्य के लिए आवश्यक है। मुझे यह दृष्टि बिल्कुल गलत प्रतीत होती है। मनुष्य को विज्ञान के अनुकूल नहीं, विज्ञान को ही मानवीय लक्ष्यों के अनुकूल बनाना होगा। वास्तव में यही हो भी रहा है, परन्तु मानवीय लक्ष्य ही साधारणतया अयोग्य होते हैं। मैं जो निवेदन कर रहा हूं, वह यह कि विज्ञान का उपयोग योग्य मानवीय लक्ष्यों के लिए किया जाये।

पिरामिडनुमा ढांचा

भारतीय लोकतन्त्र की बुनियाद के रूप में गांव की विस्तृत चर्चा करने के बाद मैं उस बुनियाद पर खड़ी की जाने वाली उपरिरचना के सम्बन्ध में विचार

करना चाहूंगा। अपने देश में राज्य की जो कल्पना हमने स्वीकृत की है, उसे स्पेन के राजनीतिक-दार्शनिक सल्वोडर-डी-मैडारियागा ने विभिन्न रूप से संख्यात्मक, प्रकृतिमूलक या निर्जीव कहा है। राज्य की कल्पना "व्यक्तियों के संख्यात्मक योग" के रूप में की जाती है। प्रत्येक वयस्क नागरिक का अपना एक मत (वोट) है, और इन मतों का गणित, जो कभी-कभी निर्वाचन-कानून तथा दलीय व्यवस्थाओं के कारण बहुत जटिल बन जाता है, राज्य-क्रिया को अधिशासित करता है।

यह मानव समाज की प्रकृति और मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के विरुद्ध है। इस दृष्टि के अनुसार राज्य राजनीतिक संस्थाओं का एकीकृत रूप है। प्रारम्भिक राजनीतिक संस्था स्वभावतः प्रारम्भिक समुदाय, यानी गांव, होगा जिसके उपयुक्त राजनीतिक अंग होंगे और उनमें एक ग्राम-परिषद् सभी स्थानिक मामलों को निपटायेगी और इस कार्य के लिए उसको अधिकतम अधिकार और अभिक्रम प्राप्त होंगे।

ऐसे अनेक ग्राम या नगर परिषदों का एकीकरण स्वाभाविक रूप से एक क्षेत्रीय परिषद् के रूप में होगा, और इसके क्षेत्र का बड़ा या छोटा होना परिस्थिति पर निर्भर करेगा। ये क्षेत्रीय परिषदें अपने क्षेत्र की स्थानिक समस्याओं से सम्बन्ध रखेंगी और उनसे निपटने के लिए पूर्ण क्षमताशील होंगी। क्षेत्रीय परिषदों का एकीकरण जिला-परिषद के रूप में होगा, और यही क्रम आगे भी जारी रहेगा, जब तक हम राष्ट्रीय संसद पर पहुंच नहीं जाते। राष्ट्रीय संसद राज्य सभाओं का एकीकृत रूप होगी।

यह सोचना गलत होगा कि लोकतांत्रिक संरचना का यह विचार केवल प्रत्यक्ष चुनावों की वर्तमान पद्धति के स्थान पर अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को प्रतिस्थापित करता है। प्रश्न चुनाव-पद्धति का नहीं है। प्रश्न तो मानव जीवन एवं मानवीय समाज की कल्पना का है। यह कल्पना बताती है कि क्यों हमें गांव से ही निर्माण करना चाहिए और क्यों गांव को हमारे लोकतन्त्र की बुनियाद बनने के लिए मौलिक परिवर्तन से गुजरना चाहिए, और क्यों राज्य का संघटन व्यक्तिगत मतदाताओं से नहीं, बल्कि जीवित समुदायों से तथा उनके ऊर्ध्वमुखी एकीकरण से होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि यदि वर्तमान संरचना कायम रही तो न केवल गांव मुरझाता जायेगा तथा वह और भी अवास्तविक बनता जायेगा, बल्कि हमारा लोकतन्त्र भी, उसकी जड़ें मिट्टी में तथा जनता के जीवन में नहीं रहने के कारण, हवा में डोलता रह जायेगा।

□

नित फटे चीथड़े पहने जो
हड्डी - पसली के पुतलों में
असली भारत है दिखलाता
नर-कंकालों की शकलों में,

पैरों की फटी बिवाई में,
अन्तस के गहरे घावों में
है अपना हिन्दुस्तान कहां?
वह बसा हमारे गांवों में।

—सोहनलाल द्विवेदी

व्यवस्था में भी, हर स्तर पर आर्थिक-शक्ति "राज्य" की इन चार इकाइयों के हाथ में रहेगी और उत्पादन के लिये प्रौद्योगिकी का ढांचा पश्चिमी ढंग का बना रहेगा।

सर्वोदयी वर्तमान तकनीक का तो विरोध करता है, किन्तु उसकी ग्रामराज्य-व्यवस्था में भी सारी खेती, पूरे के पूरे गांव की भूमि पर एक चक के रूप में ग्राम-पंचायत की देख-रेख में होगी। गांव की शेष आर्थिक व्यवस्था भी पंचायत के अधीन रहेगी। अंततः यह व्यवस्था रूस की सामूहिक-खेती से न खराब रहेगी। क्योंकि इसमें न तो उत्पादन के लिये आधुनिक तकनीक के प्रयोग का प्रावधान रहेगा और न व्यक्ति की सुविधा।

समाजवादी, चाहे जिस रूप-रंग के क्यों न हों, पश्चिमी प्रौद्योगिकी की उपादेयता में असीम श्रद्धा लेकर चलते हैं। उनकी लड़ाई मशीन से नहीं, उसके मालिकों से है। फलतः वे उसका स्वामित्व राज्य को सौंप कर पूर्ण समाधान मान लेते हैं।

दूसरी ओर, सर्वोदयवादी, मशीन की बुराइयां समझकर, उसका बहिष्कार करना चाहते हैं। परन्तु साथ ही साथ, वे निजी संपत्ति की बुराइयां देखकर, उसे भी समाप्त करने के लिये कमर कस कर निकल पड़े हैं। समाजवादी व्यवस्था में राज्य की निरंकुश सर्वग्राही शक्ति देखकर उसको भी त्याज्य ठहराया और शासनविहीन समाज में संपूर्ण शक्ति ग्राम-पंचायतों को सौंपने का प्रस्ताव किया। यह प्रस्ताव केवल अव्यावहारिक है, वरन् जिन बुराइयों से बचाने का हमारा लक्ष्य है, उन्हें समाप्त करने की कल्पना मात्र शेखचिल्ली की उधेड़बुन रह जाती है। ऐसी व्यवस्था में उपचार रोग से भी अधिक प्राणघातक बन जायेगा।

विकेन्द्रीकरण की धारणा की कैसी विडंबना है यह ? □

With Best Compliments of

TECHNO AGENCIES

81/1, Alipore Road,

CALCUTTA-700027

ग्राम-विकास आयोजना के मूल तत्त्व

□ डा० एस० वी० पटवर्द्धन*

आयोजित ग्राम-विकास के क्षेत्र में पहला बड़ा प्रयास सन् १९५१ में प्रखंड (ब्लाक) स्तर की विकास योजनाओं की शुरूआत किये जाने के साथ सामने आया। इस योजना को प्रभावी रूप से क्रियान्वित करने के लिए "राष्ट्रीय विस्तार सेवा" का निर्माण किया गया। वास्तव में यह सरकार के आधारभूत ढांचे का विस्तार ही था। लेकिन अब तक जो परिणाम मिले हैं वे अपेक्षाओं से बहुत कम हैं, शायद इसलिए कि बहुमुखी-कार्यक्रम का आधार जरूरत से ज्यादा व्यापक था। इसे देखते हुए नीति में परिवर्तन हुआ। प्रयासों को कुछ चुने गये क्षेत्रों में केन्द्रित किया गया। चुना गया ऐसा ही एक क्षेत्र कृषि था। उत्पादन की आवश्यक वस्तुओं को उपलब्ध कराने के लिए भारी खर्च किये गये। किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि इसका लाभ मूल रूप से ग्रामीण धनी इकाइयों तक ही सीमित रहता है और इससे मिलने वाली सुविधाओं से शहरी किसानों की संख्या में वृद्धि हुई है। असमानता की खाई गहरी होती गई तथा भूमिहीनों की संख्या बढ़ी। शहरों में प्रति व्यक्ति आय ३५० रुपये से बढ़कर ८३० रुपये हो गई, किन्तु गांवों में प्रति व्यक्ति आय २१५ रुपये से घटकर १९८ रुपये रह गई। यह मुद्रास्फीति का प्रभाव था और यदि अन्य वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में गैर-आनुपातिक वृद्धि को भी जोड़ लिया जाए तो इस असमानता के विकराल रूप का पता चलता है। इस कारण से प्रयासों में एक और परिवर्तन किया गया। भूमिहीनों, मध्यम और छोटे दर्जे के किसानों, ग्रामीण-निर्धनों और कमजोर वर्गों की जनसंख्या तक पहुंचने के लिए विभिन्न प्रकार की योजनाएं शुरू की गई जैसे—एस० एफ० डी० ए०, ट्राई-कैम, काम के बदले अनाज कार्यक्रम आदि। इन वर्गों के लिये विशेष रियायतों तथा कम ब्याज पर ऋण भी उपलब्ध कराया जा रहा है। अभी इन योजनाओं की सफलता के बारे में कुछ कहना जल्दबाजी होगी। लेकिन यह कहना पड़ेगा कि अब तक इनके आशानुरूप परिणाम नहीं निकले हैं। इस बात में भी संदेह है कि सरकारी ढांचा लक्षित जनसंख्या तक पहुंच भी पाएगा या नहीं। भ्रष्टाचार और अपव्यय ने अपना घिनौना सिर उठाना शुरू कर दिया है। तो क्या इतना अधिक धन, रियायतें और कटौतियां ग्राम जीवन पर अपेक्षित असर डाल सकेंगे? अब तक का अनुभव तो संभवतः यही बता रहा है कि योजना की प्रणाली और नीति पर एक बार पुनर्विचार करना होगा।

आयोजना की आवश्यकताएं

कोई भी कार्यक्रम सफल या प्रभावी हो इसके लिए आवश्यक है कि उसकी साफ तस्वीर हमारे सामने हो। क्या लक्ष्य के बारे में हम स्पष्ट हैं? इसका अंदाजा करने के लिए लेखक ने प्रमुख सरकारी और अर्द्ध-सरकारी तथा स्वयंसेवी संस्थाओं के अधिकारियों के सामने कुछ प्रश्न रखे। ये संस्थाएं ग्राम विकास कार्यक्रमों को आयोजित करने तथा उन्हें लागू करने के काम में लगी हैं। पूछे गये प्रश्नों में से कुछ इस प्रकार हैं:

१. वे कौन से लक्षण हैं जो ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अंतर बताते हैं?

२. यदि संगठित रोजगार सहित वे सारी सुविधाएं जो साधारणतया शहरों में उपलब्ध रहती हैं, गांवों में पहुंचा दी जाएं तो क्या आप इसे ग्राम-विकास मानेंगे या गांवों का शहरीकरण? इन दोनों धारणाओं में वास्तविक अंतर क्या है?

३. गांवों के लोग बहुत निर्धन हैं और इसलिए उनकी सहायता अवश्य ही की जानी चाहिये, उसी प्रकार जैसे हम विकलांग लोगों की मदद करते हैं। क्या आपकी दृष्टि में दयादान ही ग्राम-विकास का आधार है?

४. क्या "गांवों की आत्मा" नाम की कोई चीज है? विकास की प्रक्रिया के दौरान ग्राम-जीवन की

* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, सेंटर फार रूरल डेवलपमेंट एण्ड एप्रोप्रियेट टैकनौलाजी, आई०आई०टी०, नयी दिल्ली।

किन विशेषताओं को पुनर्स्थापित करने या उन्हें संरक्षण देने की आवश्यकता है?

५. इतिहास बताता है कि १७५० ए० डी० के समय में ग्रामीण क्षेत्र आत्मनिर्भर व आत्म-नियंत्रित थे। हर ४०० की जनसंख्या पर एक विद्यालय था और शिक्षितों की संख्या भी काफी थी। क्या आप महसूस करते हैं कि उस प्राचीन काल के ग्राम के आधारों का विश्लेषण और अध्ययन किया जाए ताकि ऐसे कारणों का पता लग सके कि क्यों और कैसे इन स्तरों में गिरावट आई? क्या गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विचार आज भी कुछ महत्व रखते हैं?

चर्चा के दौरान जो मत प्रकट किये गए उनमें काफी वैचारिक भिन्नता मिली जिससे कुछ स्पष्ट रास्ता मिलने की बजाय मामला और उलझ गया। यही वजह है कि लेखक को लगा कि पाठकों के सामने कुछ विचार प्रस्तुत किये जाएं जिससे इन्हें ग्राम-विकास संबंधी योजनाओं की मूल समस्याओं का पता चले।

ग्रामीण आत्मा

यदि गांव की आत्मा को पहचानना है तो यह आवश्यक है कि उन विशेषताओं की खोज की जाए जो खुशहाली के स्रोत और एक सुखी-समाज के प्रतीक थे।

१. प्राथमिक उत्पादकों का स्व-उपजीवी समाज: एक शहरी समाज आम तौर पर एक संगठित रोजगार प्रदान करता है जहां मनुष्य अप्रत्यक्ष उत्पादन और सेवा-कार्यों से जुड़ा रहता है। यह संगठित या सामूहिक रोजगार आम तौर पर शोषण की भावनाएं पैदा करता है, एकरसता और असंतोष को जन्म देता है, क्योंकि वहां एक कर्मचारी निर्णयों में भागीदार नहीं होता और न ही उत्पादक के लाभों में उसका कोई हिस्सा होता है। इसके विपरीत गांव का समाज अपना रोजगार अपने आप निर्माण कार्यों द्वारा जुटाता है। वह अपने आप निर्णय करता है। यहां तक कि श्रमिक या कारीगर को भी एक हद तक स्वतंत्रता होती है और वह रचनात्मक कार्यों का आनन्द उठाता है। रचनात्मक कार्य, निर्णय में सहभाग, कार्य करने की स्वतंत्रता, इन सबसे उसे अधिक संतोष मिलता है। एक सुखी व स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए ये आवश्यक तत्त्व हैं।

२. प्रकृति से निकटता

शहर के लोगों को ज्यादातर समय बंद चहारदिवारी में कृत्रिम वातावरण में बिताना पड़ता है। कई स्थानों पर तो ताजी हवा के लिए संघर्ष करना पड़ता है। समय उनके सिर पर तलवार की तरह लटका रहता है और जल्दबाजी से तनाव पैदा होते हैं। दूसरी तरफ, गांव के लोग खुले मैदानों में सूर्य और वर्षा के साये में काम करते हैं। ग्रामीण ज्यादातर समय जानवरों, पक्षियों और पेड़ों के साथ रहता है। समय कब बीत गया इसका उसे पता ही नहीं चलता। नदी के बहते पानी में लगाई गई एक डुबकी एक बंद गुसलखाने में जल्दी से किये गए स्नान से कहीं अधिक सुखदायी होती है। इस शांतिपूर्ण जीवन से ही शायद उनके स्वभाव में सरलता और निष्कपटता आ जाती है।

३. सामुदायिक-जीवन

बम्बई में मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा कि कोई ऐसी जगह बताओ जहां एकांत में और लोगों से बचकर बातचीत की जा सके। मेरा उत्तर था कि "एक भीड़ भरे बाजार में"। एक शहरी वातावरण में एक व्यक्ति भीड़ से घिरा होने पर भी अपने आप को अकेला महसूस करता है। अगर तीव्र यातायात उसे कुचल दे तो वह जानता है कि उसे मुड़कर देखने वाला भी कोई नहीं होगा। लंबी कतारों में खड़े होना तो जैसे जिन्दगी का एक हिस्सा हो गया है, उसमें भी उसे हमेशा यह डर बना रहता है कि लाइन में पीछे वाला आदमी उसकी जेब पर ही हाथ साफ न कर दे। गांव में घर दूर-दूर बिखरे होते हैं। दिन भर में चाहे आप कम लोगों को मिलें लेकिन एक अपनेपन की भावना मिलेगी। ऐसा लगेगा कि आप उस समाज-जीवन का ही एक अंग हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी और पेड़-पौधों के बीच कहीं न कहीं एक संबंध अवश्य है। जीवन का

एक तरीका है। तो क्या इन मूल्यों से जीवन में सुख की वृद्धि होती है ? यदि ऐसा है तो फिर विकास के नियोजन में, इन्हें पुनर्स्थापित करने या संरक्षित करने पर ध्यान देना पड़ेगा।

४. पारिवारिक वातावरण

गांवों में आज भी हमें परिवार थोड़े से बड़े आकार में मिलते हैं जहां बीवी-बच्चों और पति के अलावा कुछ और भी होता है। शहरों में तो आत्म-केंद्रित परिवार ही प्रायः देखने को मिलते हैं। तो क्या माता-पिता, बहनों, भाइयों, उन पर निर्भर लोगों या बिकलांगों का हमारे परिवार में कोई स्थान है ? क्या उनके साथ रह कर हमें प्रसन्नता और स्थायित्व मिलता है ? क्या हमारे तनावों की मुक्ति में उनसे कहीं कोई सहायता मिलती है ? क्या हमारे परिवार के कम उम्र के कमाने वाले सदस्यों को बड़ों का आदर व उनकी देखभाल करनी चाहिये ? क्या वे बरसों पुराने अनुभवों, परंपराओं और बच्चों के लिए ऐसी शिक्षा का ध्यान रखते हैं ? क्या परिवार का यह सिकुड़ता आकार व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक सुरक्षा के लिए एक स्वस्थ समझौता साबित होगा ? क्या हम पश्चिम के तरीकों "बूढ़ों के लिए घर", "बच्चा-घर", अस्पताल, नर्सिंग-होम आदि को स्वीकार कर लें ? यह देश ऐसे महँगे विकल्पों का बोझ उठा सकता है ? एक शहरी क्षेत्र में यह लगभग असंभव है कि एक बड़े आकार के परिवार को चलाया जा सके। शायद एक गहरे विचार और अध्ययन की आवश्यकता है ताकि उस स्थिति के सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभावों को समझने में मदद मिल सके। गांव में परिवार के थोड़ा बड़ा होने का एक आर्थिक महत्त्व भी है। वहां काम के लिए ज्यादा हाथों और वैकल्पिक व्यवस्थाओं की जरूरत होती है। क्या हम ऐसे कानून बनाएं जो पारिवारिक ढांचे को बलपूर्वक तोड़ डालें या ऐसी योजनाएं बनायें जो परिवार के आवश्यक और अपेक्षित आकार को प्रोत्साहित करें ?

विकास के लिए आयोजना

एक बार हम गांवों के असली स्वरूप को, पहचान लें तो स्पष्ट हो जाएगा कि अभी हम कहां हैं और हमें किधर जाना है। ग्रामीण क्षेत्र के बहुसंख्यक भाग को आज मूलभूत सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं हैं। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा बेरोजगारी या अर्द्ध-रोजगारी से ग्रस्त है। रोजगार के अवसर मुख्य रूप से शहरों में ही केन्द्रित हैं। गांवों से शहरों की ओर जाने वाले लोगों का अनुपात तेजी से बढ़ रहा है। इसकी वजह से गांव के जीवन के स्थायित्व को ही खतरा पैदा हो गया है। इसने समाज के सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन में बिखराव की प्रक्रिया को और तेज कर दिया है। शहरों में भी इस जनसंख्या के पहुंच जाने से अनेक गंभीर समस्याएं पैदा हो गई हैं। हर नये जत्थे के साथ रहन-सहन की कीमतें बढ़ रही हैं, प्रति व्यक्ति सुविधाओं में कमी आ रही है और इस प्रकार जीवन दर्दनाक हो गया है। असुरक्षा व दुर्घटनाएं तेजी से बढ़ रही हैं। पिछड़ी बस्तियां जो मानवता के नाम पर कलंक हैं, तेजी से बढ़ रही हैं। प्रभावी आयोजना-प्रणाली, एक दिशा, साधनों का भरपूर इस्तेमाल, लोगों की प्रभावी भागीदारी और लगातार मूल्यांकन—यह सब कहा तो जा सकता है पर करना इतना आसान नहीं है।

प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन

जनसंख्या और साधनों पर एक नजर डालने, आंतरिक पृष्ठभूमि तथा पिछले अनुभवों को देखने से लगता है कि पिछले हजारों सालों में आधारभूत आवश्यकताओं वाली वस्तुओं के उत्पादन को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई ताकि मूलभूत उत्पादक को प्रभावी बनाया जा सके। यदि मूलभूत उत्पादक शक्तिशाली है तो देश की नींव सुरक्षित और स्थायी होगी। यह रास्ता दया और दान का नहीं, बल्कि सामाजिक व राष्ट्रीय स्थायित्व का है। हमारी अनेक समस्याओं, जिनमें राजनैतिक पाप भी शामिल हैं, की जड़ें मूलभूत उत्पादक की कमजोरी में निहित हैं। उसे आर्थिक रूप से सबल बनाना पड़ेगा। एक बार यह हो गया तो वह देश के लिए मदद-गार सिद्ध होगा न कि देश को उसकी मदद करनी पड़ेगी। संक्षेप में, इसका मतलब यह है कि उसकी प्रति व्यक्ति आय जो आज १६८ रुपये है, उसे १००० रुपये के स्तर के पार पहुंचाना होगा।

शहरों की संख्या में वृद्धि को, खास तौर पर बड़े शहरों की बढ़ोतरी को नियंत्रित करने और उपलब्ध साधनों को यह लक्ष्य प्राप्त करने के लिए लगाने हेतु तुरंत व कठोर कदम उठाने होंगे। इसके लिए मार्ग-चयन और समझ में एक परिवर्तन की आवश्यकता है। यह एक स्थायी चुनौतीपूर्ण और प्रगतिशील समाज बनाने का रास्ता है जिसकी आत्मा शक्तिशाली होगी।

विज्ञान और तकनॉलॉजी की भूमिका

यह कोई जादू नहीं है और न इसे नारों से प्राप्त किया जा सकता है। यह तो वैज्ञानिक और तकनॉलॉजी के गुणों के लिए एक चुनौती है। किसान के पास भूमि का जो जरा सा टुकड़ा है और जो सीमित साधन हैं उनसे वह छः गुना अधिक उत्पादन कर सके इसके लिए कुछ महत्त्वपूर्ण आविष्कार करने होंगे। हमारे वैज्ञानिक और तकनीशियन इस चुनौती को स्वीकार करें इसके लिए उन्हें प्रेरित करना होगा। हमने इस दिशा में क्या किया है? इसे कितनी प्राथमिकता और महत्त्व दिया गया है या फिर आज भी यह केवल जबानी सहानुभूति तक सीमित है? अब अधिक सुनिश्चित कदम उठाए जाने की आवश्यकता है।

योजनाओं में केवल धन का प्रावधान करने से ही उत्पादन नहीं हो जाएगा। आज जो रियायतें दी जा रही हैं उनका गहरा अध्ययन करना होगा। तभी पता चलेगा कि प्रगति और तकनीकी परिवर्तन पर इन रियायतों के क्या नकारात्मक प्रभाव हो रहे हैं? एक विस्तारवादी प्रवृत्ति सुखद परिणाम ला पाने में असफल रही है। एक विस्तृत सूक्ष्म आयोजना की नीति और ऐसी चक्रहीन योजनाएं चाहियें जिनमें पैदावार, प्रशिक्षण, बिक्री, प्रबंध-क्षमता आदि को प्राथमिकता दी जाए। समय-समय पर निवेश का मूल्यांकन अपने-आप ही संभव हो सके ऐसी शृंखला बने। केवल गरीबी मिटाने पर ही नहीं, बल्कि साधनों के पूरे इस्तेमाल पर भी ध्यान देना होगा। इनकी क्षमताओं को मापने के लिए मानदण्ड बनाने पड़ेंगे। सर्वांगीण विकास के एक रास्ते की खोज करनी पड़ेगी। विकास कार्य-क्रमों को तैयार करने और लागू करने के लिए प्रकल्पों के रास्ते से काम करने की आज बड़ी जरूरत है।

जन सहभाग

ग्रामीण और शहरी क्षेत्र एक दूसरे के पूरक हैं। समाज-जीवन में दोनों की एक दूसरे के लिए पारस्परिक आवश्यकता को ध्यान से देखना होगा। सरकारी मशीनरी के बल पर तो लक्षित जनसंख्या तक नहीं पहुंचा जा सकता। इतनी भारी मात्रा में खर्च किया जाने वाला धन उत्पादक नहीं है। आवश्यकता तो इस बात की है कि तुरंत वैज्ञानिकों, तकनीकी-विशेषज्ञों, प्रशासकों, ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों के प्राथमिक व अन्य उत्पादकों को सम्मिलित करके स्वयंसेवी संस्थाएं बनाई जाएं। सतत प्रयास और वित्तीय विकल्पों के लिए ऐसी संस्थाएं व्यावसायिक कार्यक्रमों के आयोजन में शामिल होनी चाहियें। ज्यादातर पैदावार उनके पास से होकर गुजरे और लक्ष्यों की प्राप्ति की जिम्मेदारी उन्हीं पर डाली जाए। इन स्वयंसेवी संस्थाओं के केन्द्र तकनीकी संस्थाएं, शैक्षणिक संस्थाएं व शोधसंस्थाएं हो सकती हैं। □

गांवों की सेवा करने से ही सच्चे स्वराज्य की स्थापना होगी। अन्य सब प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होंगे।

महात्मा गांधी
यंग इण्डिया, २६-१२-२६

एक नवीन "एकात्म-सभ्यता" की खोज

□ पी० परमेश्वरन*

आजकल ग्रामीण सभ्यता में रुचि एक सार्वत्रिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया केवल अविकसित "तृतीय विश्वशक्ति" के देशों तक ही सीमित नहीं, जिनका ग्राम्य जीवन बुरी तरह पिछड़ा हुआ है, वरन् यह उन भौतिक दृष्टि से समृद्ध और पूर्ण विकसित देशों में भी परिलक्षित है, जिनमें वास्तविक ग्राम्य जीवन नाममात्र को भी नहीं है। यदि नया शब्द दिया जाय, तो यह "ग्राम-वाद" (रूरैलिज्म) इन विकसित और अविकसित दोनों प्रकार के देशों में, एक प्रकार का नया "आवेश" हो गया है।

गरीबी की चुनौती

अल्पविकसित देशों में "ग्रामवाद" की प्रेरणा निश्चित ही विकसित देशों के "ग्रामवाद" से भिन्न है। वहां तो मात्र अस्तित्व के लिए भी वह एक भौतिक आवश्यकता है। तृतीय विश्व के देशों में, जो मुख्यतः ग्राम प्रधान हैं, ग्राम-विकास ही वह उत्तोलक है जो मानव जीवन को उसके अत्यन्त निम्न स्तर से ऊंचा उठा सकता है। इन देशों में ग्राम्य-जीवन शताब्दियों से जहां का तहां अवरुद्ध है। देहाती जनता की अवस्था सुधारने के लिये किसी प्रकार का भी प्रयास कभी नहीं हुआ अतः उनकी दशा उनके चौपाये पशुओं से कुछ विशेष अच्छी नहीं है। अविकसित और अल्पविकसित देशों में अज्ञान, रोग और दारिद्र्य ग्राम्य-जीवन के पर्याय बन गये हैं और सबसे बड़ी विडंबना यह है कि वहां के निवासियों ने इस अवस्था को विधि का विधान मानकर ही स्वीकार कर लिया है, जिससे भिन्न उनकी कोई गति नहीं, परिवर्तन की कोई आशा नहीं, उपचार की कोई संभावना नहीं। उनके जीवन में से आशा और उमंग की अंतिम किरण भी मानों अस्त हो चुकी है। ऐसे देशों में ग्राम-विकास सब प्रकार के भौतिक उत्कर्ष अथवा नैतिक पुनरुत्थान का अनिवार्य प्रथम सोपान है। इसी कारण इन सब देशों में जागरूक वर्ग ग्राम-विकास की समस्या में अधिकाधिक रुचि लेता जा रहा है।

स्वाधीनता-संघर्ष में

यह उनके स्वाधीनता-संघर्षों की भी एक देन है। भारत जैसे देशों में यह सर्वमान्य है कि ग्राम-विकास हमारे स्वाधीनता-आंदोलन का अभिन्न अंग था। गांधी जी आदि नेताओं की यह गहन अनुभूति थी कि वास्तविक भारत अवरुद्ध-गति ग्रामों में ही बसता है। नगर तो एक प्रकार से पाश्चात्य उपनिवेशवाद की अवैध संतान और दिखावटी तथा नुमायशी खिलौने मात्र हैं। उन नगरों में भी दो क्षेत्र एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं—वैभव से समृद्ध मुहल्ले जिनमें गिने-चुने सर्वविधि संपन्न साम्राज्यवाद के मानसपुत्र और उनके हित-रक्षक रहते थे और उन छोटे-छोटे स्वर्ण-द्वीपों को घेरे उस विशाल सागर के समान बसी होती थीं गंदी, धूल भरी, अर्ध-विकसित सामान्य जनों की बस्तियां।

यों तो, इन्द्रपुरी को भी मात करने वाली सुसमृद्ध पुरियों का उल्लेख भारतीय इतिहास के सुमंगल प्रभात से ही मिल जाता है। परन्तु ये पाट-नगर शस्य-श्यामला हरित वसना भारत भूमि की देह के अखंड अविभाज्य अंग थे और देश तथा समाज से उनका अभिन्न नाता रक्त-परिभ्रमण और प्राणवायु संचरण के समान सहज और अबाधित था। जहां आधुनिक नगर व्यापारिक और औद्योगिक शोषण-प्रक्रिया के स्नायविक केन्द्र या सूखते हुए राष्ट्र-वृक्ष का समस्त जीवन रस चूस जाने वाली अमरबेलों के गुच्छे हैं, वहां प्राचीन भारत की पुनीत पुरियां राष्ट्र की संस्कृति और कला के प्रस्फुटित सुमनों के सम्मान या परिपूर्ण जननी जन्मभूमि के हृदय-हार के अनमोल मोतियों के समान थीं। इसी कारण, गांधी जी ने ग्रामों की ओर प्रत्यावर्तन का आंदोलन चलाया क्योंकि उनके मतानुसार केवल यही प्रक्रिया भारत की स्वाधीनता का अर्जन कर सकती थी और उसकी रक्षा करके उसे चिरस्थायी बनाने में समर्थ हो सकती थी। राष्ट्रीय स्वाधीनता की उनकी रणनीति में ग्राम-विकास का स्थान सर्वोपरि था। इस प्रकार इस आंदोलन का

* निदेशक, दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली।

भी जन्म हमारे स्वाधीनता-संघर्ष की गोदी में ही हुआ है। तदन्तर उत्साह और शिथिलताओं के कई विविध पड़ावों में से होकर, प्रोत्साहन और अवहेलना की प्रतिक्रियाओं को झेलकर, ग्राम-विकास-कार्यक्रम भारत में चला आ रहा है।

पश्चिम में ग्रामवाद

विकसित देशों में, ग्राम्य-जीवन में रुचि का आधार नितान्त भिन्न है। वहां पर यह महानगरीय जीवन की कृत्रिमता के प्रति मोहभंग का परिणाम है।

प्रकृति-माता से पूर्ण पराङ्मुखता, क्योंकि आधुनिक विज्ञान की सोच के अनुसार प्रकृति की सार्थकता उसके शोषण में है, जीवन की दर्पपूर्ण कृत्रिमता, मानवीय मूल्यों और संबंधों की नितान्त उपेक्षा, प्राकृतिक साधनों के चुक जाने की विभीषिका, वैज्ञानिक आविष्कारों की विनाशकारी क्षमता से उद्भूत निराशा और मानसिक आघात, वर्तमान खोखले जीवन की अर्थहीनता, जीवन-लक्ष्य-निर्धारण की असमर्थता—इन सब ने भौतिक दृष्टि से समृद्ध जगत को एक ऐसे कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहां पर जैसे-तैसे पैर जमा कर वह एक नयी प्राणदायिनी जीवन प्रणाली, एक नयी सभ्यता की बाट निहार रहा है। "ग्रामवाद" उनके संदर्भ में एक नयी सभ्यता की, एक नयी मूल्य-व्यवस्था की खोज है।

इस प्रकार, चाहे वह पूर्व में हो या पश्चिम में, भौतिक रूपेण सुविकसित देशों में हो या पिछड़े देशों में, आज संपूर्ण विश्व का ध्यान ग्राम्य-जीवन की ओर धीरे-धीरे परन्तु स्थिर गति से केन्द्रित होता जा रहा है।

ग्राम्य-पुनर्रचना का अर्थ

जब हम, अपने अल्प विकसित देशों में, ग्राम-विकास की ओर अपने प्रयासों को प्राणसर्वस्व से केन्द्रित कर रहे हैं, तो हममें विकसित देशों के अनुभव से सीखने, समझने और मार्गदर्शन ग्रहण करने की बुद्धिमत्ता होनी भी आवश्यक है। निस्संदेह उनकी समस्याओं की वेदना से त्रस्त आर्त पुकार एक प्रकार से हमारे लिए अरण्यरोदन मात्र है, परन्तु इतनी सावधानी तो हमें भी रखनी होगी ही कि हम भी उन्हीं प्रवृत्तियों और शक्तियों की प्रेत-साधना न कर बैठें जो उन्हीं के जैसी समस्याओं और उन्हीं के समान भटकाव भरी अंधेरी घाटियों में हमें पहुंचा दें। विकास की आधारशिलाएँ स्थापित करते समय हमें बुद्धिमानी से चयन करना होगा कि कहीं पश्चात्ताप भरा सूर्यास्त देखने का दुर्भाग्य हमारे लिए विधि के विधान में न हो। म० गांधी और पं० दीनदयाल उपाध्याय के चरण-चिह्नों पर चलते हुए निर्मल मति के साथ हमें ध्यान रखना होगा कि ग्राम-विकास के सोपानों का आरोहण केवल भौतिक वैभव की मृगमरीचिका का मोहाकर्षण नहीं, वरन् "आत्मदर्शी अमर संस्कृति" पर आधारित सभ्यता के भव्य भवन को निर्माण करने का प्रयास है। पाश्चात्य जगत के लिए यह कार्य, दीर्घकालीन वियोग और विस्मृति के गर्त में विलुप्त दुर्लभ वस्तु की खोज और नवीन अनुसंधान के समान दुष्कर हो सकता है। परन्तु हमारे लिए, वह संस्कृति तो हस्तामलक की भांति सुलभ है, वह कभी हम से वियुक्त हुई नहीं, हाँ कभी-कभी कुछ अंशों में वह उपेक्षित अवश्य हो गई है। उन्हीं अक्षय जीवन-मूल्यों को हमें, नयी व्यवस्थाओं और नवीन संस्था-संरचनाओं के माध्यम से, परिपुष्ट एवं पल्लवित-पुष्पित करना है। इनका पोषण नगरों की मदमाती भुजाओं में नहीं, ग्रामों के अंचल में ही हो सकता है, क्योंकि पंचतारक (फाइव स्टार) होटल और निशा-निमंत्रण परिपूर्ण मधुशालाएं पाश्चात्य भौतिक सभ्यता के भारतीय विक्रय-केन्द्र मात्र हैं, उनमें अपनी अमर संस्कृति का प्राण-पीयूष खोजना व्यर्थ है। भारत का शस्य-श्यामल देहाती-क्षेत्र कालिय नाग की इस विषधारा से अभी दूर है। यह अभी भारत माता के मंदिर की पवित्रता के कुछ अवशेष अपने अजिर में सजोये हुए है। हमें पुनर्रचना वहीं करनी होगी। वहीं भारत-माता की पुनीत और भव्य प्रतिमा की पुनर्प्रतिष्ठा होगी।

तकनीक की समस्या

परन्तु क्या इसका अर्थ यह है कि हमारे स्वप्नों

का नवीन ग्राम-विकास आधुनिक विज्ञान की समस्त सुविधाओं की उपेक्षा करेगा? क्या हम आधुनिक तकनीक का किसी रूप में भी प्रयोग नहीं करेंगे? क्या इसका अर्थ यह है कि हम भारत में फिर से मिट्टी के दीपों और गोबर की संस्कृति को लाना चाहते हैं? हो सकता है कि कुछ लोग ऐसे भी मिल जायें जो उस अतीत का प्रत्यावर्तन आज फिर करने का सपना देखते हैं। अपने जीवन के प्रथम प्रहर में महात्मा जी ने भी ऐसा स्वप्न देखा था। परन्तु, तदनन्तर, उन्होंने तकनीकी ज्ञान को इस रूप में स्वीकार करने का विचार प्रकट किया जिससे जीवन अधिक सरस, सक्रिय और सार्थक बन सके। वे केवल आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के संबंध में "अपरिवर्तन-वादी" थे और इस विषय में कोई समझौता करने को तैयार नहीं थे। तकनीकी ज्ञान को अपने राष्ट्र-जीवन में इस प्रकार आत्मसात् करना होगा कि वह हमारे प्राणाधिक प्रिय जीवन-मूल्यों को उच्चस्त नहीं, परिपुष्ट करे। प० दीनदयाल उपाध्याय का आशय भी यही था जब उन्होंने कहा कि 'हमें भारतीय तकनीक अपनानी होगी—ऐसी वैज्ञानिक तकनीक जो भारतीय परिवेश के अनुकूल हो, यहां की संस्कृति, चिति और नैतिक श्रद्धा के अनुकूल हो।' इसी दृष्टिकोण पर घूम-फिर कर आधुनिक पाश्चात्य विचारक भी आते जा रहे हैं, जब हम इ. एफ. शुमाखर जैसे विद्वानों को "मानवीय शीशधारिणी तकनीक" की साधना का समर्थन और "सौदर्य के लघु-अवतारों" का काव्यमय परिपूजन करते हुए पाते हैं।

विज्ञान और तकनीक के प्रभाव को अवरुद्ध करना न वांछनीय है न व्यावहारिक। यह मार्ग 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (वन वर्ल्ड) का नहीं है, जिसकी अभ्यर्थना कवि और स्वप्नद्रष्टा ही नहीं, राजनीतिक और राष्ट्र-निर्माता भी करते रहे हैं। तकनीकी ज्ञान की सुविधाओं को इस प्रकार अनुशासित और नियोजित करना होगा कि जीवन की एकरसता में वैविध्य की मधु-ऋतु सरसाये, मानव सभी विकास-प्रयत्नों का केन्द्र-बिन्दु बना रहे और वह पग-पग करके आध्यात्मिक चेतना के दिव्य-सोपान पर चढ़ता जाये।

तकनीक का प्रयोग ऐसे करना होगा कि ग्राम्य-जीवन अधिक स्वच्छ, अधिक स्वस्थ, अधिक समुत्कर्ष-संपन्न, अधिक मानवीय, एवं अधिक गतिशील चैतन्य से युक्त बने।

ग्रामवाद—एक जीवन दर्शन

समाजवाद, साम्यवाद और पूंजीवाद सभी महानगरीय सभ्यता की देन हैं—केवल ग्रामवाद इनसे भिन्न है। सार रूप में, नगरीय सभ्यता और ग्रामवाद का संघर्ष दो जीवन-प्रणालियों का संघर्ष है, दो जीवन-मूल्यों की प्रतिद्वन्द्विता है, दो सभ्यताओं की प्रतिस्पर्द्धा है। ग्राम्य जीवन सरल, स्वाभाविक, अहिंसावादी, समग्र विकास का प्रेरक, और विश्व-बंधुत्व का आधार है, जबकि महानगरीय जीवन संश्लिष्ट, कृत्रिम, अमानवीय, हिंसक, असंतुलित और संघर्षयुक्त है। यदि मानवता को अकाल मृत्यु से बचना है तो उसे क्रमशः ग्रामवाद की प्रवृत्ति को अपनाना होगा। यह आशाजनक लक्षण है कि मानव जाति का गंभीर चिंतक-वर्ग आज धीरे-धीरे समुत्कर्ष-सम्पन्न ग्राम्य-व्यवस्था की ओर उन्मुख होने लगा है। इसी कारण ग्राम-विकास की ओर अधिकाधिक आग्रह आज हो रहा है।

□

मंथन

ESCORTS

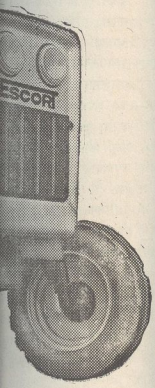

45

hour

cre

ग्राम-पुनर्रचनाः समस्यायें व निदान

* कृषि
* तकनॉलॉजी
* जनसंख्या
* शिक्षा

सरदार पटेल का सपना

"स्वराज्य का गांव कैसा होगा ?

आदर्श गांव में किसान खड्डे करके खाद जमा करेगा, ढोरों का पेशाव भी खड्डे में डालेगा, खड्डों पर तख्ते रखकर पाखाने बनायेगा और सोने जैसी खाद को बरबाद नहीं करेगा।

आदर्श गांव में किसानों के आंगन में पानी का छिड़काव किया हुआ होगा और वहां उनकी स्त्रियों ने गुलाब के पौधे लगा रखे होंगे। आज तो वे आंगन में बालकों को टट्टी बैठाती हैं। उस पर मक्खियां बैठती और वे ही मक्खियां उनके घरों में जाती हैं।

इस गांव के किसानों के बालक कितने सुन्दर होंगे ? उनकी आँख, नाक, मुंह पर न मैल जमा होगा और न उनके कपड़े ही गंदे होंगे। उनके गालों पर खून की लाली ऐसी दिखाई देती होगी जैसे गुलाब का फूल।

इस आदर्श गांव में किसान अपनी स्त्रियों का आदर करेंगे, उनके प्रति प्रम रखेंगे, वे गृहस्थी की हिस्सेदार मानी जायेंगी। आजकल किसान को यह भी ज्ञान नहीं है कि स्त्री के साथ कैसा बरताव किया जाय। यह समझ लीजिए कि स्त्री माता बनने वाली है और नमस्कार करने लायक है।

चरखा तो इस गांव में खेती के बराबर ही स्वाभाविक हो गया होगा। जो किसान कपास उगाकर भी कपड़े बाहर से लाता है, उसे मैं किसान ही नहीं कहता·····

आदर्श गांव के कुएं ऐसे नहीं होंगे। आपके कुओं के पास तो खड़ा तक नहीं रहा जाता। वहां कीचड़ सड़ता है और मक्खियां भिनभिनाती हैं।

स्वराज्य के गांव में रात को किसानों की स्त्रियों को अँधेरे में टकराना नहीं पड़ेगा। गांव में संगठन करके लालटेनें रखी जायंगी, गांव के सुखी लोग तेल देंगे और गांव के नौजवान या स्त्रियां लालटेनें साफ करके नियमित रूप से जलाती रहेंगी।

मगर यह स्वराज्य कब स्थापित हो सकता है ? जब गांव में जरा भी फूट न हो, गांव के सब हिस्से अपना-अपना फर्ज समझकर उसे पूरा करते हों।"

"स्वराज्य का आदर्श गांव" विषय पर १८ दिसम्बर, १९२८ को ग्राम एना (तहसील पलसाणा) में दिये गए भाषण से

आज का (हमारा?) गांव

□ डा० लक्ष्मीनारायण लाल

'आज का गांव' इस शीर्षक में "हमारा" जोड़ने जा रहा था कि सहसा हाथ रुक गया। यह कहां है हमारा? आज का गांव क्या है? किसका है?

आज का गांव हमारे समाज का ध्वंसावशेष है। आज का शहर, महानगर, आधुनिक समाज (?) की "फैक्ट्री" है, "मिल" है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि हमारे पुराने समाज की विशेषतायें गांव में और आधुनिक समाज (?) की विशेषतायें शहरों में पायी जाती हैं। शायद गांव और शहर के क्रमिक विकास की कुछ इसी प्रकार हुए हैं। काल की रथयात्रा—मनुष्य की जययात्रा। कृषि के विकास से पहले मनुष्य झुंड में, खानाबदोश की तरह, एक जगह से दूसरी जगह रहते-चलते थे। पर जब धीरे-धीरे कृषि का विकास हुआ तो वे खासकर नदियों, जलाशयों के किनारे स्थित खेतों के आसपास घर बनाकर एक साथ रहने लगे और इस तरह गांव का निर्माण-बल्कि स्वतः प्राकृतिक निर्माण शुरू हुआ। समाजशास्त्र की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि गांव की संरचना प्राकृतिक है और शहर की मनुष्य-निर्मित है। गांव वह है जहां प्राकृतिक वातावरण में हस्तक्षेप नहीं किया जाता। शहर में पूरा हस्तक्षेप है। बल्कि हस्तक्षेप का ही नाम शहर है। तभी हमारे गांव यानी प्राचीन समाज में किसी व्यक्ति-परिवार की हैसियत अपने इस ग्राम समाज के अन्य व्यक्तियों और परिवारों के साथ उसके सम्बन्धों पर निर्भर थी। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित था, इसलिये मनुष्य की हैसियत धन दौलत से नहीं, उसके और समाज के सम्बन्धों और रिश्तों पर निर्भर करती थी। जबकि आज के शहर यानी आज के आधुनिक समाज में व्यक्ति की हैसियत उसके मकान, धन दौलत, उसके विलासितापूर्ण रहन-सहन से आंकी जाती है। आज जो गांवों को छोड़कर लोग शहरों की तरफ भाग रहे हैं, गांवों के घर-खेत बेच कर जो लोग शहरों में मकान बनवाने के लिए इतने दीवाने और व्याकुल हैं, उसके पीछे कारण ही यह है कि आज व्यक्ति की हैसियत का आधार गांव नहीं शहर की जिन्दगी है, चाहे वह कितनी भिखमंगी, आत्मसम्मानहीन क्यों न हो।

हमारे बचपन के दिनों में, स्कूल की वादविवाद प्रतियोगिता का एक विषय यह होता था कि ग्राम-जीवन बेहतर है या शहर-जीवन। पर भारत की स्वतन्त्रता के बाद यह प्रश्न, यह विषय, यह वाद-विवाद ही खत्म हो गया। जैसे यह सिद्ध हो गया, यह मान लिया गया कि गांव बेकार है, भद्दा है कुरूप है। गरीबी, अंधविश्वास और पिछड़ेपन की जगह का नाम ही है गांव। और शहर? शहर तो आधुनिकता, वैभव, प्रगति और उन्नति की महाभूमि है। समाज में एक दूसरे से सम्बन्धित और परस्पर अनुकूलित सम्बन्ध रखने में जो कष्ट और जिम्मेदारियां उठानी पड़ती हैं—ग्राम समाज में, वे कष्ट और जिम्मेदारियां शहर में नहीं हैं। क्योंकि शहर का जीवन अवैयक्तिक होता है। गांव का समाज एक कुटुम्ब, एक परिवार का समाज है। शहर का समाज परिवार का नहीं, व्यक्तिगत अधिकार के लिए जीने वाले नागरिक का आधुनिक समाज है जहां सारे रिश्ते अवैयक्तिक हैं, अस्थायी हैं, स्वार्थनिष्ठ हैं, समाजनिष्ठ नहीं।

गांव एक ही समुदाय का बना होता है, लेकिन शहर एक से अधिक समुदायों से ही बनता है। गांव का जीवन सामूहिक, सामुदायिक होता है क्योंकि सब दुख-सुख के समान भोगी हैं। शहर में असंख्य छोटे-छोटे समूह होते हैं। और जैसे-जैसे शहर की पूंजीवादी सभ्यता व अन्धी औद्योगीकरण की प्रक्रिया की गति तेज होती जा रही है, व्यक्ति समाज से, देश से, परिवेश से, यहां तक कि अपने आप से कटकर मात्र अपने में की इकाई में सिमटकर रहने

को मजबूर हो रहा है। उसका "मैं" ही जैसे अपना समुदाय है, वर्ग है। ठीक इसके दूसरे छोर पर है आज का गांव।

गांव की जिन्दगी में समता या एकरसता है, तभी शहर से गांव लौटा हुआ आदमी गांव की उसी एकरसता में अब "ऊब" की शिकायत करता है। गांव में अब भी समाज है—वह ऊपर से चाहे जितना टूटा-बिखरा हुआ दिखे। पर शहर में समाज नहीं "व्यक्ति" है "इन्डिविजुएल"।

आज का गांव ऐसा क्यों है, यह कैसे हुआ कि वहां अब कोई पढ़ा-लिखा नहीं रहना चाहता। इसका उत्तर सत्रह सौ बानवे और अठारह सौ बासठ का "स्थायी बंदोबस्त" है जिसने एक ही धक्के में हमारे ग्राम समाज और उसकी अर्थव्यवस्था को उखाड़ दिया। जिस गांव में उसके पहले गांव की जमीन पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं था और वास्तविक भारत को समझने की कुंजी वही ग्राम व्यवस्था थी जहां नीचे ग्राम समाज में 'सनातन एकात्मवाद' जिसे मार्क्स ने अपनी भाषा में 'आदिम साम्यवाद' कहा है, उसके अवशेष थे और ऊपर राजवंशीय सरकार होती थी, जिसका काम गृहयुद्ध, लड़ाई, लूटमार के साथ-साथ सिंचाई का प्रबन्ध करना और सार्वजनिक उपयोग के निर्माण कार्य करना भी था।

हमारी उस ग्राम व्यवस्था और समाज का सबसे प्राथमिक वर्णन मार्क्स ने अपनी "पूंजी" में दिया है "भारत की ये छोटी-छोटी और अत्यंत प्राचीन बस्तियां,जिनमें से कुछ आज तक चली आती हैं,जमीन के सामूहिकस्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी की मिलावट, और एक श्रम विभाजन पर आधारित हैं,···पैदावार का मुख्य भागसीधे बस्ती के ही काम में आता है और वह बाजार में बिकने वाले माल का रूप धारण नहीं करता।···अपने में पूर्ण इन बस्तियों में उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग से किया जाता है।"

यह था हमारा गांव, वह सनातन भारतीय अर्थ व समाज व्यवस्था, जिसे ब्रिटिश शासन का रूप धारण कर विदेशी पूंजीवाद ने जड़मूल से चकनाचूर कर दिया। इस प्रसंग में भारत में विदेशी पूंजीवाद की जीत, योरूप में पूंजीवाद की जीत से भिन्न थी। वह इस बात में कि यहां ध्वंसात्मक क्रिया के साथ-साथ उसी पैमाने की नयी शक्तियों का उदय नहीं होने दिया गया। इसीलिए ब्रिटिश शासन के नीचे भारतीय जनता के पुरखों के साथ "एक विशेष प्रकार की उदासी" आ मिली। क्योंकि उसकी" पुरानी दुनिया तो बिछुड़ गयी थी, मगर नयी का कहीं पता न था।

यही "उदास" अपनी पुरानी दुनियां से बिछुड़ी और टूटी हुई भारतवर्ष की ये छोटी-छोटी और अत्यंत प्राचीन जो बस्तियां हैं असंख्य बस्तियां यही हैं आज के गांव। गांव अपने ही घेरे में कैद। गांव—अपने आप में ही टूटा हुआ।

आज के गांव में यदि कुछ बदलाव आया है तो यही कि यह उत्तरोत्तर बंटता जा रहा है, सिकुड़ता जा रहा है भयभीत अपनी जातियों में चुनावी राजनीतिक संस्कृति के कारण नये-नये वर्गों, वर्गों और समुदायों में।

गांव हमारी भारतीयता, अर्थ, समाज, ग्राम और राष्ट्र-व्यवस्था की बुनियाद है। इसी अधिष्ठान पर स्वतन्त्र भारत का पुनर्निर्माण होना है—इसे कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और राष्ट्र-द्रष्टा महात्मा गांधी जैसे लोगों ने कितनी गहराई से देखा है यह सर्वविदित है। गांधी जी ने यदि भारतीय स्वराज को "ग्राम स्वराज्य" ही कहा है, तो क्यों ?

क्योंकि वह भलीभांति जानते थे कि भारत में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना शहर में—देश की राजधानी में बैठे हुए बीस—बाईस व्यक्तियों द्वारा नहीं हो सकती। उसे प्रत्येक गांव के लोगों को नीचे से चलाना होगा। ग्राम-स्वराज्य में गांव संपूर्ण सत्ता में भोगने वाला एक विकेन्द्रित राजनीतिक घटक होगा। इसलिए अपने प्रसिद्ध आखिरी वसीयतनामे में गांधी ने कहा कि "भारतने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली लेकिन उसे अभी शहरों और कस्बों से निकल अपने गांवों के लिए सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना बाकी है।

गांधी जी की ग्राम स्वराज्य की कल्पना का केन्द्रित है जबकि पश्चिमी अर्थव्यवस्था धन-केन्द्रित है। पहली अर्थव्यवस्था जीवन की अर्थव्यवस्था है

पर दूसरी अर्थव्यवस्था हमारे भारतीय संदर्भ में मृत्यु की अर्थव्यवस्था है। आज के ग्राम विकास के सिल-सिले में गत तीन दशकों में जो धन, अनुदान-केन्द्रित कार्यक्रम हुए हैं, वह सब प्रभाव और परिणाम रूप में उसी मृत्यु की भूमिका संगठित हुई हैं।

आज के गांव का पुनर्निर्माण वे शहरी लोग भी करना चाहते हैं जो गांव को नौकर-चाकर, मजदूर, दूध, घी पाने की सस्ती जगह समझते हैं। हम रेडियो पर अक्सर यह विज्ञापन सुनते हैं कि जब से शहर में "अमुक" घी मिलने लगा, तब से गांव से नाता ही, टूट गया।

आज के गांव का पुनर्निर्माण केवल सालाना बजट में धनराशि को बढ़ा देने से होता है। और साल के अंत में जब पता चलता है कि धन तो गांव में पहुंचा ही नहीं, बीच में राजनेताओं, अफसरों और पुराने जमींदारों और सूदखोरों की नयी पीढ़ी ने समाज सेवक का मुखौटा लगाकर हजम कर लिया है, तब यह पता लगाने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जाता है कि तीस वर्षों में गांव के लिए केन्द्र—से—शहर से भेजी गयी इतने करोड़ों की धनराशि वहां पहुंची क्यों नहीं ?

इसका उत्तर वे कमीशन नहीं दे सकते। क्योंकि कमीशन बना ही है उसी वर्ग से — राजनेता, अफसर और सरकारी तंत्र से, जिसने गांव को अपने दिल से निकाल कर केवल अपनी बुद्धि में बिठा लिया है।

इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि ग्रामीण जीवन में आज भी परिवार अपने आप में पूर्ण और स्वकेन्द्रित है। परिवार के द्वारा ही गांव का व्यक्ति समाज को अपनाता है या समाज में रहता है। जिम्मेदारी व्यक्ति की न होकर परिवार की होती है। परिवार की सार्वभौमिकता ग्रामीण जीवन को सहज बनाती है, साथ ही उसे नियंत्रित भी करती है। पर शहर में बैठा हुआ वह राजनेता, मंत्री, अफसर और उसका सरकारी-तंत्र उसी अंग्रेजों की दी हुई विरासत का हिस्सा है—जहां व्यक्ति परिवार और समाज में विश्वास नहीं करता। जहां हर व्यक्ति अपने से नीचे वाले को अपने से छोटा और उसके शोषण को अपना अधिकार मानता है।

शहरी व्यक्ति, शहरी व्यवस्था और शहरी राजतंत्र ने जब मान ही लिया है कि गांव शहर से नीचे है, गांव में रहने वाले कुरमी, अहीर, हरिजन, मुसलमान, ईसाई मनुष्य नहीं केवल एक मुश्त "मतदाता" हैं और उन्हें परस्पर लड़ाते रहने और गरीब असहाय रखने में ही राजतंत्र का कल्याण है, तब क्यों न आज के गांव जहां है, जैसे हैं, उन्हें वहीं, वैसे ही रहने दिया जाय, पर आज के गांव-गांव में बसी पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों आदि के कल्याण —विकास के नाम पर बड़ी बड़ी महंगी योजनायें बनाकर बीच ही में सब कुछ हड़प लिया जाय ?

शहर में आज परिवार नहीं व्यक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। यह शहरी व्यक्ति अब उत्पादन में हाथ नहीं बंटाता। वह अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा दूसरा काम नहीं करना चाहता। उत्पादन तथा अन्य दूसरे काम, जैसे मेहनत, सदाचार का जीवन, ईमानदारी, वीरता, देशप्रेम—यह सब शहर का व्यक्ति आज के गांव के व्यक्ति के हिस्से में छोड़ देना चाहता है।

पर शहर के इन व्यक्तियों को यह नहीं भूलना चाहिये कि आज के गांव में जैसे भी हो, राजनैतिक चेतना आज अत्यधिक है। शहर यदि परिवर्तन और विकास की शक्तियों को संचालित करता है तो गांव सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने और सृजन निर्माण के बोध तथा चेतना को सतत जगाये रखने का कार्य करता है। इस तरह दोनों परस्पर विरोधी होते हुए भी परस्परावलंबित हैं —पराधीन नहीं। आज इसी खाई और दूरी को पाटना समाज अभियंताओं का बुनियादी काम है और कर्तव्य भी, नहीं तो सारा देश, समाज विघटित हो जायेगा।

इतने लाख आदमी जो आज के शहरों में रहते हैं और इतने करोड़ आदमी जो आज के गांवों में रहते हैं—यदि दोनों में तालमेल, सामंजस्य नहीं हुआ, दोनों फिर उसी पुरानी सामाजिक एकात्मा में नहीं बांधे गये तो दोनों बर्बाद हो जायेंगे।

शहर का व्यक्ति आज के गांव के आदमी की उपेक्षा व शोषण करके कभी सुरक्षित नहीं रह सकता क्योंकि राजनीतिक परिवर्तन की कुंजी अब शहर से गांवों में पहुंच चुकी है। □

सुझाव है। दोनों ही खर्चीली योजनायें हैं। अतः हमारे देश के लिए तो छोटी योजनायें ही उपयोगी सिद्ध होंगी क्योंकि :

१. कम खर्च की होने के कारण वे हमारे आर्थिक सामर्थ्य के अन्दर हैं।

२. इनकी आयात-निर्भरता न्यूनतम है। न तो बाहर से मशीनों और न विशेषज्ञों के लिए इन्हें रुकना पड़ता है।

३. इनकी पूर्ति में समय कम लगता है अतः ये आशु फलदायी हैं।

४. बड़े बांधों की भांति वे पहले से ही कर्षित भूमि के बड़े-बड़े क्षेत्रों को जलमग्न नहीं करतीं।

५. जहां बड़ी योजनाओं में केवल ५५% पानी ही सिंचाई के काम में आता है छोटी में ९५% तक काम में लाया जा सकता है।

६. स्थानीय सहयोग और प्रयत्नों का इस में अधिकाधिक उपयोग हो सकता है।

अनुभव ने शासन को छोटी योजनाओं की ओर ध्यान देने की ओर बाध्य तो किया है किंतु अभी तक उसका कोई व्यापक एवं समन्वित कार्यक्रम हाथ में नहीं लिया गया। दूसरी ओर नये कुएं और तालाब बनाने के साथ-साथ हमें पुरानों को ठीक रखने तथा उनकी मरम्मत का विचार भी करना होगा। बहुधा एक ओर नये कुएं बनते हैं और पुराने ढहते जाते हैं। पुराने ताल और तलैया को खोदने का काम कुछ प्रचारात्मक दृष्टि से वर्ष दो वर्ष चला और बाद में बन्द हो गया। अभी भारत में लगभग २५ लाख कुएं हैं। हम यदि प्रयत्न करें तो इस संख्या को कम से कम एक करोड़ तक तो सहज में ले जा सकते हैं। नलकूप भी काफी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में छोटी-छोटी नहरों, गूलों और नालों की ओर भी ध्यान देना उपयोगी होगा।

हल या ट्रैक्टर

सिंचाई के अतिरिक्त किसान को अच्छे औजार बैल, खाद एवं उर्वरक तथा उन्नत बीज की भी आवश्यकता है। कुछ लोग मशीनों में अंडिग श्रद्धा रखने के कारण भारत के खेतों में भी पश्चिम के तरीके से ट्रैक्टरों से कृषि के पक्ष में हैं। किंतु भारत के लिए वे अनुपयुक्त हैं। प्रथम तो हमारे यहां खेत बहुत छोटे हैं तथा एक किसान की जोत भी इतनी कम है कि उसमें ट्रैक्टर नहीं चलाया जा सकता। ट्रैक्टर के लिए खेत बड़े किये जायं, तथा उनमें सामूहिक खेती का अवलम्बन किया जाय यह भी सुझाव दिया जाता है। सामूहिक खेती भारत के भूमि-जन-अनुपात, प्रजातंत्रीय पद्धति, बेकारी का निवारण, प्रति एकड़ अधिकतम उत्पादन, कृषि में मानकों के निर्धारण की असंभवनीयता, किसान का भूमि-प्रेम एवं हमारे जीवन-मूल्य सभी दृष्टियों से हमारे लिए अनुपयुक्त है। किंतु सामूहिक खेती को यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी हम भारत की जलवायु एवं उसमें होने वाले भू-क्षरण के कारण बहुत बड़े-बड़े खेत, जिनमें ट्रैक्टर चलाये जा सकें, नहीं रख सकते। फिर न तो ट्रैक्टर अपने देश में अभी बनते हैं और न उनको चलाने वाला ईंधन ही अभी तक पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। उनके ड्राइवर और मरम्मत करने वाले जल्दी और भारी मात्रा में प्रशिक्षित नहीं किये जा सकते। अतिरिक्त पुर्जों की प्राप्ति और मरम्मत के कारखानों का गांव-गांव में अथवा कम-से-कम केन्द्रीय स्थानों पर खोलना भी एक भारी काम है। यदि यह सब संभव हो भी गया तो हमारे पशुधन का उपयोग हमारे सामने एक समस्या उत्पन्न करेगा। आज भारत में १५ करोड़ ८९ लाख गोवंश तथा ३ करोड़ ५१ लाख महिष-वंश हैं। बैल और भैंसाओं की संख्या क्रमशः ६·४२ करोड़ तथा ६३ लाख है। गाय और भैंसों का उपयोग दूध के लिए होगा, किंतु बैल यदि हमारे कृषि के उपयोग में नहीं आता तो भार बन जायेगा। पश्चिम के देश गोमांसभक्षी हैं। अतः वे बैलों को खा जाते हैं। किंतु भारत के लिए यह कल्पना करना उसकी परम्परा एवं राष्ट्र-भावना के प्रति अज्ञानमूलक एवं अव्यावहारिक होगा। पशुधन को अनुत्पादक (uneconomic) कह कर काटा नहीं जा सकता बल्कि उसे उत्पादक (economic) बनाकर अपने

आर्थिक ढांचे को सुदृढ़ किया जा सकता है। बैल हमारा खेती का धुरा है। ट्रैक्टर लाकर हम अपना सब महल ढहा देंगे।

हल और खेती के दूसरे औजार यद्यपि हमारे लिए बहुत कुछ उपयुक्त हैं किंतु उनमें फिर भी छोटे-मोटे सुधार किये जा सकते हैं। कृषि-आयोग ने इनके सम्बन्ध में लिखा था : "भारत में कृषि के औजार साधारणतया स्थानीय अवस्थाओं के बहुत अनुकूल हैं। वे बैलों की सामर्थ्य के अनुरूप हल्के, वहनीय, सस्ते तथा सरलता से निर्माण योग्य हैं तथा अत्यन्त महत्व की बात यह है कि वे सहज उपलब्ध भी हैं।" जब से लोहा महंगा हुआ है तथा औजारों के बनाने का काम गांव के बढ़ई और लुहार के हाथ से निकल कर कारखाने वालों के हाथ आ गया है, तब से वे सुलभ और सस्ते नहीं रहे। हमें इस बात की व्यवस्था करनी होगी।

खाद और उर्वरक

अन्न की उपज बढ़ाने के लिए तथा भूमि की उपजाऊ शक्ति को बनाये रखने के लिए खाद की आवश्यकता है किन्तु जमीनों का ठीक-ठीक सर्वेक्षण, उत्पादन की पद्धति, फसल, सिंचाई के साधन आदि का विचार करके ही उसके उपयुक्त एवं योग्य मात्रा में खाद एवं उर्वरक का उपयोग होना चाहिए। पिछले दस वर्षों में उर्वरकों के विषय में काफी प्रचार किया गया है तथा अमोनियम सल्फेट के प्रयोग में भी भारी वृद्धि हुई है। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि लगातार रासायनिक उर्वरकों का यदि उपयोग किया जाय तो खेतों की उर्वरा-शक्ति बढ़ने के बजाय कम हो जाती है। अतः उनका उपयोग गोबर आदि की खाद के साथ मिलाकर सीमित मात्रा में ही करना चाहिए। सरकार द्वारा वितरित एवं कई बार किसानों को जबर्दस्ती दिया गया अमोनियम सल्फेट खेतों में कितना डाला गया है इस विषय में भी निश्चित नहीं कहा जाता। मद्य-निषेध के कारण कई जगह उसका उपयोग गैरकानूनी शराब खींचने में किया जाने लगा है।

गोबर, मल-मूत्र आदि भारत के लिए अत्यन्त उत्तम खाद के साधन हैं। अनुमान है कि देश में ८००० लाख टन गोबर का उत्पादन होता है। इसमें कम से कम ५० प्रतिशत के उपले बनाकर जला दिये जाते हैं। यह मत तो अनेक बार व्यक्त किया गया है कि ईंधन की दूसरी व्यवस्था करके गोबर को खाद के रूप में ही काम में लाया जाय। किंतु इस ओर कुछ भी नहीं हुआ है। पेड़ों की भारी कमी है। जंगलात के नये कानूनों के अनुसार जो किसान ईंधन के लिए सूखी और टूटी लकड़ियां इकट्ठा कर लेते थे वह भी सम्भव नहीं रहा। अभी कुछ प्रयोग हुए हैं जिनसे गोबर से गैस तैयार की जा सकती है। ईंधन एवं प्रकाश के लिए उसका उपयोग करने के बाद बचे हुए गोबर को खाद के लिए उपयोग किया जा सकता है। शासन को इसका परीक्षण करना चाहिए कि कहां तक यह तंत्र व्यापक एवं उत्पादक आधार पर काम में लाया जा सकता है। फसलों की हेराफेरी से भी जमीन के नष्ट हुए उत्पादक तत्वों की पूर्ति की जा सकती है। जो नई फसलें आजकल पैदा की जाने लगी हैं इनकी अदल-बदल अन्य फसलों से कैसे की जा सकती है? इसका ज्ञान किसान को देने की आवश्यकता है।

भारतीय पृष्ठभूमि का विचार

उन्नत बीज के सम्बन्ध में शासन ने जो कार्यक्रम बनाये हैं वे व्यवहार में नहीं लाये गये। प्रशासनिक अव्यवस्था और लाल-फीताशाही के परिणामस्वरूप समय पर बीज नहीं मिल पाता। फसलों को रोगों से बचाने के लिए भी कार्यवाही करने की आवश्यकता है। ये सब ऐसे कार्यक्रम हैं जिनमें मत-भेद के लिए अधिक गुंजाइश नहीं। हम विदेशों के परीक्षणों से लाभ अवश्य उठा सकते हैं किंतु अनुकरण नहीं कर सकते। हमें बाहर से प्राप्त ज्ञान के आधार पर अपने यहां अनुसंधान-केन्द्रों में पहिले परीक्षण करके अपनी गांव की परिस्थितियों की पृष्ठ-भूमि में ही उसका उपयोग करना चाहिए।

□

उपयुक्त तकनॉलॉजी : क्या और क्यों ?

□यवेश चन्द्र शर्मा*

हमारे देश के दो चेहरे हैं। एक चेहरा है उच्च स्तर की वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों का, आधुनिकतम सुविधाओं से सम्पन्न जिन्दगी का, जिसके दर्शन शहरों में होते हैं। दूसरा चेहरा है पिछड़ेपन का, अभावपूर्ण व उदास जिन्दगी का। यह चेहरा गांवों में विद्यमान है। ग्रामीण भारत की यह वास्तविकता अधिक महत्वपूर्ण व प्रासंगिक होते हुए भी आज लगभग उपेक्षित है। ग्रामों के पिछड़ेपन का सीधा सम्बन्ध ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं को सुलझाने के लिए विज्ञान व तकनॉलॉजी का प्रयोग न करने से जोड़ा जा सकता है। आज सम्पूर्ण विश्व में सुखी और समृद्ध जीवन की आकांक्षा उत्पन्न हुई है। स्वाभाविक ही ग्रामीण जनता भी इस आकांक्षा से अछूती नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में परिवर्तन की हवा बड़ी तेजी से बह रही है और ग्रामीण लोगों में भी बेहतर जीवन जीने की नयी उमंग पैदा हुई है। इन आकांक्षाओं की पूर्ति करना है तो ग्रामवासियों को उत्पादन के नये नये उपकरण व तरीके प्रदान करने होंगे ताकि वे अपनी क्षमताओं का पूरा उपयोग करने में समर्थ बन सकें।

उपयुक्त तकनॉलॉजी क्या है ?

आधुनिक तकनॉलॉजी को, जिसे पाश्चात्य तकनॉलॉजी कहना बेहतर होगा, ज्यों का त्यों ग्रामीण भारत में ले जाना न तो वांछनीय है और न उचित। पाश्चात्य तकनॉलॉजी का आज जो रूप है, उसका विकास केवल बड़े केन्द्रित उद्योगों एवं शहरी समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु हुआ है। इसलिए, उसमें से ऐसी अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ है जो किसी एक वर्ग, क्षेत्र अथवा राष्ट्र के द्वारा दूसरे के शोषण पर आधारित है और जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में धनवानों व धनहीनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। भारत को ऐसी तकनॉलॉजी की आवश्यकता है जिसका उसकी विशिष्ट आकांक्षाओं से मेल हो और जो हमारे देश में व्याप्त सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के अनुकूल हो। वस्तुतः इसी परिप्रेक्ष्य में हमें उपयुक्त तकनॉलॉजी की अवधारणा को उसके समस्त पहलुओं में समझना होगा।

हम उस तकनॉलॉजी को उपयुक्त तकनॉलॉजी की संज्ञा दे सकते हैं जो किसी समय-विशेष पर विद्यमान समस्याओं को सन्तोषजनक ढंग से हल करने में समर्थ हो और सम्पूर्ण समाज अथवा उसके किसी एक अंग के विभिन्न सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के साथ सुसंगत हो।

"उचित क्या है ?" इसका निर्णय तो उन लक्ष्यों को सामने रखकर ही किया जा सकता है जिन्हें समाज प्राप्त करना चाहता है। किन्तु जहां तक लक्ष्यों और समस्याओं का प्रश्न है उनका रूप न केवल दो देशों अपितु दो क्षेत्रों, दो उद्योगों, यहां तक कि दो इकाइयों में भी भिन्न होगा। अतः किसी समूचे देश या क्षेत्र या उद्योग के लिए एक जैसी तकनॉलॉजी को अपनाना न तो संभव है और न वांछनीय है। फिर भी, प्रत्येक देश को कुछ निर्देशक सिद्धान्तों की खोज करनी ही चाहिए, जिनके आधार पर यह तय किया जा सके कि कौन सी तकनॉलॉजी उस देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के सर्वाधिक अनुकूल है।

बेरोजगारी व निर्धनता

भारत को इस समय मुख्यतया दो लक्ष्यों को प्राप्त करना है :—

१. अपनी विशाल जनसंख्या को उत्पादक

* उपमुख्य प्रबन्ध अधिकारी (खादी), खादी ग्रामोद्योग आयोग, बम्बई।

रोजगार प्रदान करना।

२. लोगों के जीवन स्तर में पर्याप्त वृद्धि की स्थिति उत्पन्न करना। संक्षेप में कहना हो तो, बेरोजगारी और निर्धनता की दो भयंकर समस्याओं के हल को ही सर्वाधिक महत्व देना होगा। किन्तु इस लक्ष्य को अपने देश के साधनों के भीतर ही प्राप्त करना होगा।

एक ताजे आकलन के अनुसार भारत में बेरोजगार एवं अल्पल रोजगार वाले लोगों की संख्या क्रमशः एक व दो करोड़ है। श्रमजीवी लोगों की जनसंख्या प्रतिवर्ष लगभग ६० लाख की दर से बढ़ रही है। इस पृष्ठभूमि में बड़े उद्योगों, जिनमें १२५ वर्षों में १९०२७ करोड़ रुपयों की पूंजी खप चुकी है, के द्वारा १९७७-७८ वर्ष में केवल ६६ लाख व्यक्तियों को रोजगार देने की स्थिति को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती कि श्रममुक्त परिष्कृत तकनॉलॉजी पर आधारित इन विशाल उद्योगों के द्वारा बेरोजगारी की भारी समस्या को हल किया जा सकेगा। यदि भारत को अप्रत्याशित सामाजिक, राजनीतिक उथल-पुथल के जबड़ों में जाने से बचाना है तो हमें रोजगार के व्यापक अवसर निर्माण करने के हेतु श्रम प्रधान तकनॉलॉजी को अपनाना ही होगा।

केन्द्रीय योजना मन्त्री के एक ताजे वक्तव्य के अनुसार इस समय देश की आधे से अधिक जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जी रही है। वर्तमान मूल्य स्तर के आधार पर प्रति व्यक्ति आमदनी का राष्ट्रीय औसत लगभग १४५० रु० कूता गया है। यदि १९५०-५१ को आधार वर्ष मानकर चलें तो प्रति व्यक्ति आय का यह औसत केवल २९३ रुपये रह जाता है। किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में, विशेषकर गरीबी की रेखा के नीचे वाले लोगों की आय तो औसत राष्ट्रीय आय से भी बहुत कम है। ५१.४ प्रतिशत ग्रामीण परिवारों, (ग्रामीण कारीगरों के लिए यह ८९ प्रतिशत है,) के समूचे मालमत्ते की कीमत केवल ५००० रुपये तक पहुंच पाती है। किन्तु दूसरी ओर, उपरोक्त प्रत्येक ग्रामीण परिवार पर ६५१ से लेकर १२२२ रुपये तक का कर्जा लदा हुआ है। कर्जे की अधिकतम राशि अर्थात् १२२५ रुपये का सम्बन्ध कारीगरों से है।

पूंजी-प्रधान तकनॉलॉजी

ऐसी स्थिति में अधिकांश ग्रामीण लोगों के लिए यह असम्भव है कि वे भारी लागत की अपेक्षा करने वाली पूंजी-प्रधान आधुनिक तकनॉलॉजी के पीछे दौड़ें। यदि हम कुछ अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों को अनदेखा करके भी यह इच्छा करें कि देश के सभी बेरोजगार एवं अल्परोजगार लोगों को केवल बड़े उद्योगों में ही खपाना है तो भी इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जितने पूंजी निवेश की आवश्यकता होगी उसे जुटा पाना भारत के बूते की बात नहीं है। एक ताजे आकलन के अनुसार कुछ बड़ी वित्तीय संस्थानों के द्वारा पोषित विशाल फैक्टरियों में काम करने वाले प्रत्येक कर्मचारी पर औसतन लगभग १०६००० रुपये की पूंजी लगानी पड़ती है। इस हिसाब से बड़े औद्योगिक संस्थानों के माध्यम से ३ करोड़ बेरोजगार एवं अल्पल्प रोजगार व्यक्तियों को रोजगार देने का अर्थ होगा—लगभग३,२५,००० करोड़ रुपये का प्रत्यक्ष विनियोजन। निकट तो क्या सुदूर भविष्य में भी हमारा देश इतनी विशाल धनराशि को जुटाने का सपना नहीं देख सकता। ग्रामीण क्षेत्रों के लिए उपयुक्त तकनॉलॉजी उसे ही कहा जा सकता है जो अल्पसाधनों वाले व्यक्तियों की पहुंच के भीतर हो अर्थात् जिसमें प्रति व्यक्ति कुछ सौ रुपये अथवा ज्यादा करें तो कुछ हजार रुपयों की लागत से काम चल जायेगा।

ऊर्जा समस्या

यह मानकर चला जा रहा है कि व्यक्ति तथा मशीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने हेतु परिष्कृत तकनॉलॉजी का ऊर्जा के प्रयोग पर निर्भर रहना अनिवार्य है। और इस दृष्टि से आधुनिक तकनॉलॉजी का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि विशालकाय जल एवं तापीय विद्युत् उत्पादन केन्द्रों ऊर्जा की आपूर्ति की आश्वस्ति होनी चाहिए।

किन्तु इस क्षेत्र में भी भारत की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। १९५१-५२ से १९७८-७९ तक विद्युत् उत्पादन पर १६०६४ करोड़ रुपये की पूंजी लगाकर भी हम केवल २ लाख ग्रामों तक बिजली पहुँचा पाए और देश के ६० प्रतिशत ग्राम अभी भी बिजली की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। इस संदर्भ में इस कठोर यथार्थ को भी ध्यान में रखना होगा कि आज जब अधिकांश ग्रामीण भारत विद्युत्-प्राप्ति से वंचित है, तब भी देश एक अनवरत विद्युत् संकट से गुजर रहा है। जिसके फलस्वरूप विद्युत्शक्ति पर अवलम्बित कारखानों को पर्याप्त मात्रा में विद्युत् न मिल पाने के कारण उत्पादन गिर रहा है। दूसरी ओर विद्युत्-शक्ति की मांग में ८ प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है। जिसका अर्थ है विद्युत् शक्ति की मांग और आपूर्ति के बीच अन्तर का बढ़ते जाना। इसमें सन्देह नहीं कि भारत सरकार अपनी समस्त पंचवर्षीय योजनाओं में विद्युत् उत्पादन योजनाओं को काफी ऊँची प्राथमिकता देती जा रही है। किन्तु फिर भी अभी तक ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न हो पायी है कि विद्युत् शक्ति की सतत वर्द्धमान क्षुधा को शान्त किया जा सके।

यह सर्वविदित है भारत में जल द्वारा विद्युत् उत्पादन मानसून पर निर्भर करता है और कई बार मानसून के धोखा दे जाने पर विद्युत् सप्लाई भी खतरे में पड़ जाती है। किन्तु कोयले के अपर्याप्त उत्पादन व यातायात व्यवस्था में गड़बड़ियों के कारण तापिक विद्युत्शक्ति का उत्पादन तो इससे भी अधिक अव्यवस्थित दशा में है। इन तात्कालिक कारणों के काफी समय तक बने रहने की सम्भावना है। किन्तु इससे भी अधिक विचारणीय बात यह है कि देश में कोयले का भण्डार काफी अधिक कूता जाने पर भी अपरिमित नहीं है। अतः उसे संभलकर खर्च किया जाना चाहिए। ऊर्जा का दूसरा साधन पेट्रोलियम है। इसमें भी हमारा देश आत्मनिर्भरता से बहुत पीछे है। अतः उसकी तेजी से बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए हमें पेट्रोलियम वस्तुओं का भारी मात्रा में आयात करना पड़ रहा है। जिसका परिणाम विदेशी मुद्रा के बहुमूल्य साधनों की बर्बादी में हो रहा है (प्रतिवर्ष ३००० करोड़ रुपये से अधिक) पिछले लगभग तीन वर्षों से बिजली की सप्लाई में भारी कटौती होने के कारण निजी स्वामित्व की मोटरों व जनरेटरों में डीजल तेल का अधिकाधिक प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। किन्तु डीजल की कुछ लीटर मात्रा को पाने के लिए ही लोगों को कई दिनों तक क्यू में लगे रहना पड़ता है। इससे पूरी तरह सिद्ध होता है कि डीजल को भी बिजली का विश्वसनीय विकल्प मानकर नहीं चला जा सकता।

ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत

उपरिलिखित तथ्यों से हम अपरिहार्यतः इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रियाओं अथवा कृषि उत्पादन की मात्रा को बढ़ाने की दृष्टि से "उपयुक्त-तकनॉलॉजी" का सफल प्रयोग करने के हेतु हमें गोबर-गैस, सौर ऊर्जा, पवन-शक्ति आदि अप्रचलित ऊर्जा स्रोतों की शरण में जाना होगा। कैसी विडम्बना है कि भारत जैसे देश में, जहां धूप का अपार भंडार बिखरा पड़ा है, सौर ऊर्जा का, जो इस विश्व की उत्पादन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऊर्जा का सबसे बड़ा स्रोत है, उपयोग करने की दिशा में लगभग नहीं के बराबर प्रयास हुआ है, जबकि अनेक विकासशील देश जलीय एवं तापीय विद्युत्शक्ति के विशाल साधनों से सम्पन्न होते हुए भी सौर ऊर्जा का अनेक उद्देश्यों के लिए सफल प्रयोग कर रहे हैं। यहां तक कि बायो-गैस, जो "गोबर गैस" के नाम से लोकप्रिय है, के प्रयोग को प्रचारित करने के खादी ग्रामोद्योग आयोग के प्रयासों का १९५० के पश्चात् लगभग चतुर्थ शताब्दी तक सभी लोगों द्वारा मजाक उड़ाया गया। किन्तु ऊर्जा-संकट को धन्यवाद कि अब देश में गोबर-गैस संयन्त्रों की स्थापना को अधिकाधिक महत्व दिया जा रहा है, क्योंकि ये गोबर गैस प्लांट न केवल ऊर्जा के विश्वसनीय साधन सिद्ध हो रहे हैं, अपितु हमारी कृषि के लिए अत्यन्त आवश्यक समृद्ध कार्बनिक खाद की भी पूर्ति कर रहे हैं। यह भी ध्यान रखना होगा कि उत्पादन क्षमता में वृद्धि की दृष्टि में परिकल्पित उपयुक्त तकनॉलॉजी की सफलता के लिए ऊर्जा के उत्पादन का विकेन्द्रीकरण भी उतना ही आवश्यक है। इस तथ्य को देश जितना

जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा होगा। इसी संदर्भ में इस रोचक तथ्य को भी स्मरण रखना जरूरी है कि बिजली को उसके उत्पादक केन्द्रों से उपभोक्ता स्थलों तक पहुंचाने की प्रक्रिया में लगभग ४०प्रतिशत ऊर्जा मार्ग में ही नष्ट हो जाती है। शक्ति उत्पादन के क्षेत्र में "उपयुक्त तकनॉलॉजी" को अपनाने एवं केंद्रित आधार पर ऊर्जा का उत्पादन करने से संचरण में होने वाली उपरोक्त ऊर्जा-हानि को भी रोका जा सकता है।

बेकार पड़ी जनशक्ति

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन-क्षमता की वृद्धि के लिये उपयुक्त तकनॉलॉजी की आवश्यकता बहुत स्पष्ट है। किन्तु परिष्कृत तकनॉलॉजी के अत्युत्साह में हमें अपने राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के इस पक्ष को नहीं भूल जाना चाहिये कि भारत औद्योगिक एवं सामाजिक-आर्थिक विविधताओं से भरा हुआ विशाल देश है। अतः इस देश में विभिन्न स्तरों की तकनॉलॉजी की आवश्यकता एवं गुंजाइश सदैव बनी रहेगी क्योंकि हमारे विकास कार्यक्रमों का मुख्य आग्रह विशाल मानवीय संसाधनों के उपयोग पर ही रहेगा। बुद्धिमत्ता इसी में है कि पहले उस जनशक्ति के उपयोग का विचार किया जाय जो इस समय देश में खाली बैठी है। इस मानवी शक्ति को केवल उपभोक्ता-शक्ति के रूप में न पड़े रहने देकर उत्पादक कार्यों में लगाना चाहिये। तीन करोड़ खाली बैठे हुए देशवासियों को काम में लगाने का अर्थ है विशाल ऊर्जा का सृजन, अन्यथा यह ऊर्जा सदा के लिये बेकार चली जायेगी। अतः हमारे वैज्ञानिक एवं तकनॉलॉजीविदों को ऐसी उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास पर ध्यान केन्द्रित करना होगा जो मुख्यतया मानव-श्रम पर आश्रित हो। देश को ऐसे उपयुक्त आर्थिक ढांचे की रचना करनी होगी, जिसमें विद्युत् शक्ति एवं मानव शक्ति पर आधारित तकनॉलॉजियों का सहअस्तित्व सम्भव हो सके। विभिन्न प्रकार की अलग-अलग अथवा मिश्रित तकनॉलॉजियों के प्रयोग पर आश्रित अर्थ-रचना में विभिन्न क्षेत्रों को परस्पर पूरक बनाना होगा न कि प्रतिस्पर्धी।

ग्रामशिल्प भारत में कृषीतर क्षेत्र के आधार-स्तम्भ हैं। किन्तु हमारे श्रेष्ठि वर्ग, विशेषकर वैज्ञानिकों एवं तकनॉलॉजीविदों के द्वारा उनकी लम्बे समय से उपेक्षा होती आ रही है। इन लोगों ने इन लघु एवं कुटीर उद्योगों की समस्याओं तथा आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने की कभी आवश्यकता ही नहीं समझी। दुर्भाग्यवश विज्ञान एवं तकनॉलॉजी अभी तक बड़े उद्योगों के हाथ की कठपुतली बने रहे हैं क्योंकि उनके पास वैज्ञानिकों एवं तकनालाजीविदों को यश, कीर्ति व धन देने का सामर्थ्य है, जबकि अल्प साधनों वाले सामान्यजनों के विकेन्द्रित क्षेत्र के पास इस बुद्धिजीवी वर्ग को देने के लिये कुछ नहीं है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि वैज्ञानिक जगत में अब इन छोटे और कुटीर क्षेत्रों की समस्याओं को हल करने के लिये प्रयत्नों की आवश्यकता के प्रति अधिकाधिक जागरूकता पैदा हो रही है। अनेक वैज्ञानिक संस्थाएं, बड़ी प्रयोगशालाएं, यहां तक कि कुछ वैज्ञानिक व्यक्तिगत तौर पर भी इन गरीब शिल्पियों की दशा सुधारने के हेतु अपना योगदान करने के लिये आगे बढ़ रहे हैं।

कृषि तकनॉलॉजी

ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक गतिविधियों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है (१) कृषि संबंधी कार्य (२) गैर कृषि गतिविधियां, जिनके अन्तर्गत मुख्यतया ग्रामोद्योग आते हैं। सत्तर प्रतिशत से अधिक लोग इन दोनों क्षेत्रों पर निर्भर हैं और औसत राष्ट्रीय उत्पादन का लगभग आधा भाग उनका योगदान है। अतः यदि उपयुक्त तकनॉलॉजी का सार्थक प्रभाव पैदा करने की इच्छा है तो इन दोनों क्षेत्रों के लिये उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास पर सर्वाधिक आग्रह करना होगा। पिछले लगभग दो दशकों से हम कृषि के क्षेत्र में तकनॉलॉजी सम्बन्धी नई खोज की बहुत चर्चा सुनते आ रहे हैं। इस खोज को ही तथाकथित "हरित क्रान्ति" का श्रेय दिया जा रहा है। किन्तु इस क्रान्ति से कृषि को केवल नाम मात्र का लाभ पहुंचा है क्योंकि देश में

बुआई योग्य भूमि के
ही सिंचाई की सुवि
क्षेत्रफल के केवल २०
फसल पैदा होती
आश्रित हरित क्रां
में ही अधिकांशतः क
अभी तक सूखी कृ
अतः तर्कसंगत मार्ग
तकनॉलॉजी के विका
जाय जिससे सूखी कृ
भूमि की उत्पादन-
प्रकार ऐसी उपयु
भी त्वरित आवश्
उपलब्ध संसाधनों के
हो सके। ऐसी तकन
आवश्यकता है जिस
अपशेषों का समुचि
उत्पादन के संचय प
तकनीकों का वि
अनुमान लगाया ग
घिसे-पिटे व गलत
उत्पादित खाद्यान्न
बेकार चला जाता

कृषि के सा
इससे कृषकों एव
तथा अंशकालिक
निस्सन्देह 'दुग्ध
बैलों के द्वारा
प्रचारित करके
कुछ प्रगति हुई
जाने लगा है कि
विकास करना ही
विशेषताओं की र
परिस्थितियों के
वृद्धि के साथ-सा

बुआई योग्य भूमि के केवल एक तिहाई भाग को ही सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है और सिंचित क्षेत्रफल के केवल २० प्रतिशत भाग में एक से अधिक फसल पैदा होती है, जबकि भारी निवेशों पर आश्रित हरित क्रान्ति की तकनीकें सिंचित क्षेत्रों में ही अधिकांशतः कारगर हो सकती हैं। भारत में अभी तक सूखी कृषि का ही अधिक प्रचलन है। अतः तर्कसंगत मार्ग यही है कि ऐसी उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाय जिससे सूखी कृषि में लगे हुए खेतिहरों की भूमि की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो सके। इसी प्रकार ऐसी उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास की भी त्वरित आवश्यकता है जो भूमि संरक्षण व उपलब्ध संसाधनों के अधिकतम उपयोग में सहायक हो सके। ऐसी तकनॉलॉजी के विकास की भी नितान्त आवश्यकता है जिससे कटनी के पश्चात् होने वाले कृषि अपशेषों का समुचित उपयोग किया जा सके। कृषि उत्पादन के संचय एवं परिवहन की दृष्टि से भी कुशल तकनीकों का विकास करना होगा क्योंकि यह अनुमान लगाया गया है कि संचय और परिवहन के घिसे-पिटे व गलत तरीकों के कारण प्रतिवर्ष उत्पादित खाद्यान्नों का लगभग १० प्रतिशत अंश बेकार चला जाता है।

कृषि के साथ पशुपालन का गहरा सम्बन्ध है। इससे कृषकों एवं अन्य लोगों को भी पूर्णकालिक तथा अंशकालिक अतिरिक्त धन्धा मिल जाता है। निस्सन्देह 'दुग्ध क्रान्ति" के अंगस्वरूप पाश्चात्य बैलों के द्वारा भारतीय गउओं के गर्भाधान को प्रचारित करके दुग्ध उत्पादन में वृद्धि की दिशा में कुछ प्रगति हुई है। किन्तु यह अनुभव किया जाने लगा है कि ऐसी उपयुक्त तकनॉलॉजी का विकास करना ही होगा जो स्थानीय नस्लों की मुख्य विशेषताओं की रक्षा करने में समर्थ एवं भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप हो ताकि दुग्ध उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ बैलों की कर्षण शक्ति भी टिकी रह सके क्योंकि भारत में बैल ही कृषि व परिवहन-व्यवस्थाओं के मुख्य आधार हैं। पशु पालन के अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं, जैसे सुअर पालन व मुर्गीपालन आदि का भी अधिक उत्पादन वाली आधुनिक तकनीकों के आधार पर पुनर्गठन करना होगा।

ध्यान देने लायक महत्वपूर्ण बात यह है कि "उपयुक्त तकनॉलॉजी" की अवधारणा को समग्र दृष्टि से देखना होगा। श्रम प्रधान व अल्प पूंजी वाली तकनॉलॉजी के विकास के साथ-साथ ऐसे संरचनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों का भी सूत्रपात करना होगा जिनका अस्तित्व परिष्कृत उपयुक्त तकनॉलॉजी का प्रभावकारी ढंग से उपयोग करने के लिए आवश्यक है। यहां यह बताना उचित रहेगा कि १९७१ की जनगणना के अनुसार देश में साक्षर लोगों का प्रतिशत केवल २९.५ है। अब भी चालीस करोड़ से अधिक देशवासी निरक्षर हैं। इनमें से अनेकों में तो शायद बेहतर जीवन के लिये आकांक्षा का स्फुरण भी नहीं हुआ है। अतः देश में शिक्षा एवं तकनीकी प्रशिक्षण के व्यापक कार्यक्रम को हाथ में लेना होगा ताकि लोगों को उत्पादन के नये औजारों व तकनीकों का ज्ञान प्राप्त हो सके और उनमें यह विश्वास पैदा हो सके कि इन नयी मशीनों व तरीकों में श्रेष्ठ व अधिक उत्पादन करने के साथ-साथ उनकी आय में वृद्धि करने की क्षमता भी विद्यमान है। इसके साथ ही हमें निर्धन ग्रामीणों को यह जानकारी भी देनी होगी कि परिष्कृत तकनॉलॉजी को उपलब्ध कराने वाले वित्तीय साधन उन्हें कहां से कैसे प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि उनकी आर्थिक सहायता ही तकनॉलॉजी सम्बन्धी परिवर्तन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। उपयुक्त तकनॉलॉजी का विकास करने वाले तकनॉलॉजीविदों एवं आम आदमी के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिये ग्रामोत्थान के प्रति समर्पित कर्मचारियों से युक्त प्रसार-तन्त्र का निर्माण करना होगा।

□

ग्रामाभिमुख टैकनॉलॉजी : नीति एवं परिणाम

□ एल० सी० जैन*

'तकनॉलॉजी को ग्रामों तक पहुंचाना है,' यह चर्चा करने की आवश्यकता ही क्यों खड़ी होती है ? हमारे गांवों में उत्पादन की तकनीकों का अभाव नहीं है—बल्कि उनकी बहुतायत है। तब क्या हम यह समझते हैं कि (१) उत्पादन की वर्तमान परम्परागत तकनीकों में संशोधन या आमूल परिवर्तन अपेक्षित है और कि (२) ऐसे नये उत्पादनों एवं सेवाओं को गांवों में प्रचलित करना है जिनकी तकनॉलॉजी का ग्रामवासियों को अभी तक ज्ञान नहीं है ? इन दोनों में से चाहे जो (अथवा दोनों ही) उद्देश्य हमारे मन में हों, यह तो स्पष्ट होना ही चाहिये कि जिस तकनॉलॉजी का हम चयन कर रहे हैं, उसके माध्यम से हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं?

हमें जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य में 'ग्रामों के लिए तकनॉलॉजी' विषय की चर्चा करनी चाहिये, वह है बढ़ती हुई बेकारी, ३४ करोड़ भारतवासियों के निगलने को दौड़ रही गरीबी व अभावग्रस्तता। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा निर्धारित (कुल मिलाकर) रुपयों ८०००० करोड़ की लागत में से अधिकांश राशि को हमने उत्पादन की जिन तकनीकों पर खर्च किया है, उनकी अन्य चाहें जिन उपलब्धियों का बखान किया जाये, किन्तु वे बेरोजगारी व गरीबी की समस्या को किंचित् भी हल नहीं कर पायी हैं। पिछले दस वर्षों में संगठित औद्योगिक क्षेत्र कुल मिलाकर केवल एक लाख व्यक्तियों को रोजगार दे पाया है जबकि प्रति वर्ष लगभग ४० लाख व्यक्ति श्रमिकों की पंक्ति में जुड़ रहे हैं।

यह धारणा अब बलवती होती जा रही है कि यदि हम बेरोजगारी की समस्या का केवल अल्पकालीन हल ही खोजना चाहें अर्थात् मौत के मुंह में जाने के पूर्व ही गरीब व्यक्ति को प्राण-रक्षा के साधन प्रदान करना चाहें, तो भी हमें देश की सीमित पूंजी को उत्पादन की ऐसी विधियों पर लगाना होगा, जिनके माध्यम से अधिक लोगों को रोजगार मिल सकता है।

देश के सामने इस समय बेरोजगारी और गरीबी की समस्या का जो विकराल रूप खड़ा है, उसका हल चाहे जिस तकनॉलॉजी को देहातों में पहुंचा कर नहीं निकाला जा सकता। हमें केवल ग्राम-स्तर के लिये नहीं तो राष्ट्र-जीवन के सभी स्तरों के लिये दूरगामी विचार करके तकनॉलॉजी का चयन करने की आवश्यकता है। हमारे सामने चुनौती केवल यह नहीं है कि वस्तुओं और सेवाओं का अपेक्षित मात्रा में उत्पादन कैसे हो बल्कि यह भी है कि उत्पादन की ऐसी विधियों का आविष्कार किया जाये जिससे देश के लाखों-लाखों बेकार हाथों को उत्पादन में जुटाया जा सके। यदि सवाल केवल इतना ही होता कि देश-वासियों को उनकी जरूरत की वस्तुएं कैसे उपलब्ध करायी जायें तो इस सवाल को हम वस्तुओं को विदेशों से मूल्य देकर अथवा उपहार स्वरूप आयात करके भी हलकर सकते थे। किन्तु इससे वस्तुओं का निर्यात करने वाले देशों में ही रोजगार के अवसरों एवं क्रय शक्ति में वृद्धि होगी न कि हमारे देश में।

अतः यदि अब तक अपनायी गयी उत्पादन की आधुनिक तकनीकें एवं आयात का रास्ता हमारी समस्याओं का हल नहीं है तो हमें ऐसी किसी उपयुक्त तकनॉलॉजी के द्वार को खटखटाना होगा जो हमारे देश की विशाल-जनसंख्या, विशेषकर, निर्धन रेखा के नीचे जी रहे भारी प्रतिशत को, काम, आजीविका व जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं प्रदान कर सकें। जब तक हम "ग्रामों के लिये तकनॉलॉजी" के प्रश्न को इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में नहीं देखेंगे, तब तक हम न तो सही नीति का निर्धारण कर पायेंगे, न अपनी विवशताओं को पहचान पायेंगे और न वह पैमाना तय कर सकेंगे

* भूतपूर्व अध्यक्ष, अ. भा. हस्तशिल्प बोर्ड एवं फैलो, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान

जिससे यह नापा जा सके कि कौन तकनॉलॉजी हमारे लिए "उपयुक्त" है और गांवों में ले जाने लायक है।

छठी पंचवर्षीय योजना (१९७८-७९) के प्रारूप में स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया गया है कि यदि भाग्य की करामात से औद्योगिक विकास अपेक्षित दर से दुगना पहुंच ही गया तो भी संगठित क्षेत्र श्रमिकों की पंक्ति में सम्मिलित होने वाले कुल व्यक्तियों में से २० प्रतिशत से अधिक को हजम नहीं कर पायेगा। इसलिए इस प्रारूप में आग्रह किया गया है कि कुछ चुनी हुई उपभोक्ता-वस्तुओं के उत्पादन में कम पूंजीवाली श्रम-प्रधान तकनॉलॉजी को प्राथमिकता दी जाये। वस्तुतः योजना के प्रारूप में ऐसे आठ उद्योगों (जैसे कपड़ा, चीनी, खाद्य तेल, जूता आदि) के नाम भी गिनाये गये हैं और कहा गया है कि इन उद्योगों में उत्पादन की भावी वृद्धि की पूर्ति बेकार हाथों को काम में लगाकर की जाय।

इस नीति का निहितार्थ यह हुआ कि जिस वस्तु का उत्पादन श्रम-प्रधान तकनीकों से सम्भव है उसका उत्पादन पूंजी-प्रधान तकनीकों से नहीं किया जायेगा। ध्यान रहे कि यह नीति चाहे जिस व हरेक वस्तु के उत्पादन पर लागू नहीं होती। यह केवल उन वस्तुओं के लिये बनायी गयी है जिनका उत्पादन श्रम-प्रधान तकनीकों से सम्भव है। भारत के लिए केवल यही नीति विवेकपूर्ण कही जा सकती है। यह कहना कि यह नीति देश को पीछे ले जायेगी अथवा देश को भारी उद्योगों से वंचित करेगी, बड़ी बेहूदी बात है। सच बात तो यह है कि नारेबाजी अथवा नारों की भाषा में सोच का वर्तमान तरीका ही तकनॉलॉजी के विवेकपूर्ण चयन में सहायक होनेवाली नीतियों के निर्धारण में सबसे गम्भीर बाधा बना हुआ है।

किन्तु इसी बीच सरकार ने छठी योजना के प्रारूप को त्यागने का निर्णय कर लिया है। अब हमें भावी नीति को जानने के लिये नये प्रारूप के निर्माण की प्रतीक्षा करनी होगी। फिर भी औद्योगिक नीति सम्बन्धी ताजे वक्तव्य में बेकार पड़ी जनशक्ति के बजाय खाली मशीनशक्ति के उपयोग को प्राथमिकता दी गयी है। यह एक प्रकार से कहना हुआ कि जिस किसी वस्तु का उत्पादन मशीनों के द्वारा हो सकता है, उसे हाथ से नहीं बनाने दिया जायगा। सचमुच ही कई उद्योगों को उत्पादन में ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि करने का अधिकार दे दिया गया है। अब यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि ऐसे सब उद्योग पहले के समान अपनी उत्पादन क्षमता को लाईसेंस द्वारा निर्धारित सीमा से कहीं अधिक बढ़ाने की ओर ज्यादा ध्यान देंगे तथा साथ ही यह भी चिल्लाते रहेंगे कि उन्हें अपनी उत्पादन-क्षमता का पूरा उपयोग करने की सुविधा नहीं मिल रही है। यह भविष्यवाणी तो और भी अधिक विश्वास के साथ की जा सकती है कि ये उद्योगपति जानबूझकर अपनी क्षमता से काफी कम उत्पादन करना जारी रखेंगे ताकि कृत्रिम अभाव पैदा करके अधिक लाभ कमा सकें।

ऐसी औद्योगिक नीति की पृष्ठभूमि में श्रम-प्रधान उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास पर अपनी बुद्धि और साधनों को बर्बाद करना निरर्थक एवं निरी मूर्खता होगी। इससे भी बड़ी मूर्खता होगी कि इस तकनॉलॉजी को देहात में ले जाया जाय क्योंकि वहां शहरों से आनेवाली मशीन-निर्मित वस्तुओं की बाढ़ उनके अस्तित्व को ही बहा ले जायेगी। इसलिये जो लोग ग्रामों के लिये 'उपयुक्त' तकनॉलॉजी की खोज में रुचि रखते हैं, उन्हें पहले भारत की राजधानी में "उपयुक्त" नीति के निर्माण की कोशिश करना चाहिये। ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या को हल करने के लिये आवश्यक है कि हम ऐसी तकनॉलॉजी-नीति का निर्माण करें, जो रोजगार पैदा कर सके। (यह सवाल केवल देशी बनाम आयातित तकनॉलॉजी का नहीं है)। यह भी ध्यान रखना होगा कि देहातों में बेरोजगारी की समस्या मूलतः अर्ध बेकारी की समस्या है क्योंकि वहां अधिकांश स्त्री/पुरुषों को कुछ दिनों तक (लगभग १५०दिन)करीब-२ पूरा रोजगार उपलब्ध रहता है और उतने ही दिन बेरोजगारी में काटने पड़ते हैं। उनके बेकार दिनों की संख्या वर्ष भर में १०० से २०० के बीच रहती है।

इन बेकार दिनों के
नहीं है कि लोगों को खेत
की ओर भेजा जाय, व
स्थानों के निकट ही(क्यों
नियति द्वारा पांच लाख
रोजगार के अवसरों का
समस्या का एक ओर पह
स्थित मशीनों के द्वारा
किया जा सकता है, ली
सकेंगे। किन्तु हाथ
यह काम कर सकते
नॉलॉजी का चयन करें,
देने वाले उद्योगों को ज
जो श्रम-प्रधान हों व
"उपयुक्त" की खोज
के लिये सबसे बड़ी चु

किस कसौटी
कि कौन सी तकनॉलॉ
स्वीकार्य है? इस बारे
ही वस्तु का उत्पा
उत्पादन तकनीकें
तकनीक को अपना
को रोजगार दे सके
उत्पादन पर कम से
आवश्यकता पड़े। अ
देने के लक्ष्य की पूर्ति
करना पड़ेगा कि कि
व स्तर की दृष्टि से

इस समय
लागू करने एवं औद्यो
नियामक प्रक्रियाओं
की कोई व्यवस्था ह
प्रायः प्रत्येक कार्य
धिकार प्राप्त है।
यह कार्य है कि वह
रूपरेखा तैयार करे
रणनीति भी तैयार
भी व्यवस्था करे।

इन बेकार दिनों को खत्म करने का उपाय यह नहीं है कि लोगों को खेती के काम से हटाकर शहरों की ओर भेजा जाय, बल्कि यह है कि उनके वास-स्थानों के निकट ही(क्योंकि वे स्वेच्छा से नहीं, बल्कि नियति द्वारा पांच लाख ग्रामों में बिखेर दिये गये हैं) रोजगार के अवसरों का निर्माण किया जाय। यह समस्या का एक और पहलू है, जिसको हम शहरों में स्थित मशीनों के द्वारा उस काम को, जिसे हाथ से किया जा सकता है, छीनकर कदापि हल नहीं कर सकेंगे। किन्तु हाथ अहां कहीं भी वे हैं, वहीं रहकर यह काम कर सकते हैं, बशर्ते कि हम ऐसी तकनॉलॉजी का चयन करें, जो रोजगार का आश्वासन देने वाले उद्योगों को जन्म दे सके अर्थात् ऐसे उद्योग जो श्रम-प्रधान हों व व्यापक क्षेत्र में बिखरे हों। ऐसे "उपयुक्त" की खोज करना ही हमारे तकनीशियनों के लिये सबसे बड़ी चुनौती है।

किस कसौटी के आधार पर हम निर्णय करें कि कौन सी तकनॉलॉजी उपयुक्त/संतोषजनक/अथवा स्वीकार्य है? इस बारे में एक सुझाव यह है कि एक ही वस्तु का उत्पादन करने के लिए जो कई उत्पादन तकनीकें उपलब्ध हैं, उनमें से हमें उसी तकनीक को अपनाना चाहिये जो अधिकतम हाथों को रोजगार दे सके, किन्तु जिसमें प्रति इकाई उत्पादन पर कम से कम पूंजी, ऊर्जा व परिवहन की आवश्यकता पड़े। अधिक से अधिक हाथों को काम देने के लक्ष्य की पूर्ति हेतु हमें अपने बारे में भी फैसला करना पड़ेगा कि किस उत्पादित वस्तु के लिए मूल्य व स्तर की दृष्टि से हम स्वयं कितना त्याग करें।

इस समय स्थिति यह है कि इस कसौटी को लागू करने एवं औद्योगिक लाईसेंस प्रणाली व अन्य नियामक प्रक्रियाओं के द्वारा उसका पालन करवाने की कोई व्यवस्था ही नहीं है। प्रत्येक मन्त्रालय और प्रायः प्रत्येक कार्यालय को बड़ा व्यापक स्वविवेकाधिकार प्राप्त है। वास्तव में योजना आयोग का यह कार्य है कि वह न केवल योजना की सामान्य रूपरेखा तैयार करे अपितु उसके क्रियान्वयन की रणनीति भी तैयार करे और उसके रक्षोपायों की भी व्यवस्था करे।

दूसरी बाधा यह है कि उपरोक्त कसौटी पर सही उतरनेवाली उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास को कोई संस्थात्मक सहारा प्राप्त नहीं है। देश में कुछ संस्थाएं अवश्य हैं जो स्वेच्छा से अकेले-अकेले इस क्षेत्र में कुछ काम कर रही हैं, किन्तु उनके प्रयासों का पंचवर्षीय योजनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इन प्रयासों का बड़े पैमाने पर उपयोग किए जाने की कोई सम्भावना नहीं है। अतः इस समस्या का एक ही हल है कि योजना आयोग स्वयं एक "उपयुक्त तकनॉलॉजी प्रतिष्ठान" की स्थापना करे, जिसके निम्नलिखित कार्य हों:

(अ) यह पता लगाना कि किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन के लिए उपलब्ध वर्तमान तकनीकी विकल्पों की सीमाएं क्या हैं और क्या उनमें प्रति इकाई उत्पादन के लिये अधिक श्रम को खपाने की क्षमता है? उनमें प्रति इकाई उत्पादन के लिये बहुत अधिक पूंजी/ऊर्जा/परिवहन आदि की आवश्यकता पड़ती है?

(आ) ऐसे उत्पादन क्षेत्रों की पहचान करके देश में से ऐसी संस्थाओं या व्यक्तियों को निमन्त्रित किया जाय, जिनकी इन चुने गये क्षेत्रों में रुचि हो एवं जिनके पास उनके लिये उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास की क्षमता भी हो। इन संस्थाओं या व्यक्तियों को इस समस्या पर काम करने के लिये सब प्रकार की सहायता भी प्रदान की जाय। एक समस्या पर जितने अधिक मस्तिष्क काम करेंगे उतना ही अच्छा परिणाम निकलेगा। यदि कुछ प्रयत्नों में द्विरावृत्ति हो जाती है तो भी चिंता की कोई बात नहीं।

(इ) इन तकनॉलॉजी-विदों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न हलों का स्वतंत्र मूल्यांकन कराया जाना चाहिये।

(ई) उनमें से जिस किसी हल को सर्वोत्तम पाया जाय, उसी का उस उत्पादन क्षेत्र में व्यापक प्रयोग किया जाय। किन्तु इसके लिये उसे समुचित नीतियों, संरक्षण आरक्षण, या आवश्यकतानुरूप आर्थिक अनुपूर्ति का सहारा भी प्रदान किया जाय।

दूसरी ओर, सरकार कुछ करती है अथवा नहीं इसकी चिन्ता किये बिना ही ऐसी सब संस्थाओं को जो बेरोजगारी को मिटाने का लक्ष्य लेकर उपयुक्त तकनॉलॉजी के विकास में जुटी हुई हैं, किसी औपचारिक अथवा अनौपचारिक मंच पर जिसे सहयोग मंच कह जा सकता है—एकत्र आना चाहिये ताकि वे एक दूसरे को बल प्रदान कर सकें, एवं अपने अनुभवों, विचारों व साधनों का परस्पर आदान-प्रदान कर सकें। मंच का एक उद्देश्य यह भी होना चाहिये कि विकास के लिये समुचित राष्ट्रीय नीतियों एवं रणनीतियों के निर्धारण तथा उद्योगों में उपयुक्त तकनॉलॉजी का व्यापक प्रयोग करने के पक्ष में सरकारी तन्त्र में अनुकूलता उत्पन्न की जाय।

ऐसी संस्थाओं के व्यावहारिक योगदान का रूप क्या हो सकता है, इसे जानने के लिये हमें पुनः इस लेख के प्रथम पैराग्राफ पर वापस आना होगा। वहां करणीय कामों का दो भागों में वर्गीकरण किया गया है (अ) उत्पादन की वर्तमान परम्परागत तकनीकों में संशोधन या आमूल परिवर्तन करना, (आ) ऐसे सर्वथा नये उत्पादनों व सेवाओं को प्रचलित करना, जिनकी तकनॉलॉजी का ग्रामों को अभी तक परिचय नहीं है। इस दिशा में प्रथम पग के रूप में कृषकों, ग्रामीण कारीगरों/उद्योगों के साथ-साथ अन्य ग्रामवासियों द्वारा आवास व्यवस्था, परिवहन एवं जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयुक्त वर्तमान तकनीकों एवं उनके तकनीकी, आर्थिक,सामाजिक व सांस्कृतिक पहलुओं से सम्बन्धित सभी जानकारी का विस्तृत लेखांकन होना चाहिये। फिर इस जानकारी का व्यवस्थित ढंग से विश्लेषण किया जाना चाहिये, ताकि इस बात का पता लग सके कि वर्तमान तकनीकों में कहां-कहां संशोधन या आमूल परिवर्तन की आवश्यकता व गुंजाइश है अथवा कहां-कहां सर्वथा नई तकनॉलॉजी को अपनाने की आवश्यकता है। साथ ही इस बात का भी विचार व परिमापन होना चाहिये कि इन परिवर्तनों से रोजगार, आमदनी, लागत-पूंजी, मरम्मत व रख-रखाव की वर्तमान स्थिति पर क्या अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होंगे। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पिछले कुछ महीनों से नारी आन्दोलन यह मांग उठा रहा है कि रोजगार की समस्या पर विचार केवल हवा में नहीं तो भारतीय नारी और पुरुष को सामने रखकर होना चाहिये, क्योंकि भारतीय नारी पर घरेलू कामकाज व शिशुपालन का जो भारी दायित्व है उसका निर्वाह करते हुए वह जीविकार्जन के कार्यों में तभी योगदान कर सकती है जब काम करने की सुविधा उसके लिये उसे अपने घर में अथवा पड़ोस में ही उपलब्ध हो और साथ ही उत्पादन प्रक्रिया ऐसी हो कि उसे वह अपनी सुविधानुसार शुरू व बन्द कर सके। ये कुछ आयाम है उस चुनौती के जो आज हमारे वैज्ञानिकों एवं तकनॉलॉजीविदों के समक्ष विद्यमान है। □

आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प-पुकारें,
अरी ! गरीबों के लोहू पर,
खड़ी हुई तेरी दीवारें।

वैभव की दीवानी दिल्ली,
कृषक-मेघ की रानी दिल्ली।
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की,
चुभती हुई कहानी दिल्ली।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

जनसंख्या-नियोजन और ग्राम-पुनर्रचना

□ डा० जे० के० जैन
सचिव, दीनदयाल शोध संस्थान

विश्व में चीन के बाद भारत की आबादी सबसे अधिक है। इस समय हमारी अनुमानित जनसंख्या ६४.७ करोड़ के आसपास है और १९७७ में जन्म दर ३२.९ प्रति हजार, मृत्यु दर १४.७ प्रति हजार तथा वार्षिक वृद्धि दर १.८ प्रतिशत के लगभग थी। इस समय जनसंख्या ३२ ३०० प्रतिदिन और १ करोड़ २० लाख प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है। यदि वार्षिक वृद्धि की यह वर्तमान दर जारी रहती है तो इस शताब्दी के अन्त तक भारत की आबादी १०० करोड़ तक पहुँच जायेगी। विश्व जनसंख्या की १५ प्रतिशत से अधिक आबादी भारत में निवास करती है जबकि इसका भूमि क्षेत्र संसार के कुल भूमि क्षेत्र के २.५ प्रतिशत से भी कम है। भारतीय जनसंख्या का औसत घनत्व २०० व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर के लगभग है, जबकि इसकी तुलना में विश्व औसत केवल ३० व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। पूरे भारत में शिशुओं की मृत्यु दर १३९ प्रति हजार है, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में यह और भी अधिक (१५० प्रति हजार) है। अस्सी प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है तथा अनुमान है कि दो-तिहाई से अधिक आबादी गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-निर्वाह कर रही है।

विकास और परिवार नियोजन

अब इसे व्यापक रूप से स्वीकारा गया है कि एक विकासशील देश में किसी भी आर्थिक नियोजन का एक अंग जन्म-नियन्त्रण भी होना चाहिए। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि विकास के उत्तम प्रयासों को भी निष्प्रभावी कर देती है। यह प्रति व्यक्ति आय पर अवरोध बनती है। यह आय की असमानता को बढ़ावा देती है और उत्पादन के साधनों में खर्चों तथा बचत की दर में गिरावट लाती है। भारत जैसे विकासशील देशों में व्याप्त बेरोजगारी की स्थिति के पीछे मूल कारण तत्व जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि है, जिसके परिणामस्वरूप मन्द आर्थिक विकास बढ़ती मानव शक्ति को आत्मसात् करने में समर्थ नहीं है। संख्याओं की गणना तथा लागत मूल्य की सार्थकता में से निष्पन्न इन तथ्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य मूलभूत समस्याएं भी हैं जिन्हें अब और अधिक नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में विकास कर रही विश्व की बहुसंख्यक महिलाओं पर बारम्बार प्रसव के प्रभाव का स्वास्थ्य एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से अध्ययन करना आवश्यक है। इन ग्रामीण महिलाओं को समुचित मातृ-स्वास्थ्य-सेवा के अभाव में बार-बार प्रजनन क्रिया के कष्टों और ममन्तिक-पीड़ाओं को भुगतने देना एक सामाजिक अपराध है जो कि अत्यधिक मातृ-मृत्यु-दर और अस्वस्थता-दर से स्पष्ट है। बार-बार प्रजनन कई बार न केवल व्यर्थ का काम हो जाता है, जैसा कि शिशु-मृत्यु की ऊंची दर से स्पष्ट है, बल्कि निर्धन बीमार महिलाओं को श्रम एवं जीविकार्जन की गतिविधियों से वंचित करके उनके शोषण और गरीबी को बढ़ा देता है। अतः संसार के निर्धन अथवा उपेक्षित नागरिकों के जीवन स्तर में सुधार लाने के उद्देश्य से होने वाले किसी भी गम्भीर प्रयास में जन्म-नियन्त्रण कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता के आधार पर शामिल करना होगा।

भारत की जनसंख्या-नीति

परिवार नियोजन नीति को सन् १९५२ में

सरकारी तौर पर अपनाने वाला भारत संसार में पहला देश है। तब से इन कार्यक्रमों पर व्यय प्रथम पंचवर्षीय योजना के ६०·५ लाख रुपये से बढ़कर छठवीं पंचवर्षीय योजना में ७६५ करोड़ रुपये तक पहुँच गया है। इसके परिणामस्वरूप छठवें दशक की जन्म दर ४१·१ प्रति हजार से घटकर १९७८ में लगभग ३३ हो गई। इस जन्म दर को सरकार ने १९८३ तक ३० प्रति हजार तक कम करने का लक्ष्य निर्धारित किया है और इससे जन्म-नियन्त्रण को लागू करने योग्य दम्पतियों के अनुपात में २४ से ३६ प्रतिशत तक की वृद्धि होगी।

भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम के लिए केन्द्र सरकार एवं अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों की ओर से आर्थिक, तकनीकी अथवा नीतिगत सहायता की कोई कमी नहीं रही है। किन्तु नियोजन-कर्ताओं एवं नीति-निर्माताओं द्वारा निर्धारित जनसांख्यिकीय उद्देश्यों को पूरा करने में देश कभी कामयाब नहीं रहा इस तथ्य के बावजूद कि इन लक्ष्यों को कई बार इस दलील पर नीचे लाया गया कि संशोधित लक्ष्य यथार्थवादी है और उसे प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि अब तो केन्द्र तथा राज्य सरकारों का नेतृवर्ग, विशेष-कर पिछले कुछ वर्षों से, यह विश्वास करने लगा है कि भारत की जनता जन्म-नियन्त्रण चाहती ही नहीं।

असफलता के कारण

यह समझना कठिन नहीं है कि जनसंख्या नियंत्रण के अब तक के अधिकांश प्रयास नगरोन्मुख और चिकित्सालय-आधारित रहे हैं। इस प्रवृत्ति के कारण भी स्पष्ट हैं। जनसंख्या नियंत्रण के क्षेत्र में कार्य करने वाले नीति-निर्माताओं, कार्यक्रम-प्रशासकों और चिकित्सकों ने यह अवश्य अनुभव किया होगा कि घने आबादी वाले सुगम्य शहरी क्षेत्र में एक जन्म को रोकना दूर-दूर बिखरे हुए दुर्गम ग्रामीण क्षेत्रों में एक जन्म को रोकने की अपेक्षा बहुत कम खर्चीला है। इतना ही नहीं, वर्तमान प्रशासनिक ढांचे में, चिकित्सालय आधारित शहरी कार्यक्रमों को आयोजित करना अधिक आसान है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा, यातायात, संचार व आवास तथा ऐसी अन्य आधारभूत सुविधाओं का अभाव भी इन कार्यक्रमों में बाधक रहा है। इसके अतिरिक्त इन मदों पर व्यय करने से किसी भी ग्राम-प्रकल्प में अधिक लागत से कम परिणाम की स्थिति पैदा होती है और इसलिए ग्रामीण प्रकल्पों के प्रति रुचि कम हो जाती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन कार्यक्रमों की असफलता के अन्य कारण निम्नलिखित हो सकते हैं।

१. ग्रामीण समाज के जीवन मूल्यों के अन्तर्गत, परिवार में बच्चों की संख्या में वृद्धि को समृद्धि और ईश्वरीय देन मानकर स्वागत किया जाता है।

२. ग्रामीण क्षेत्रों में शिशु मृत्यु दर ऊंची होने के कारण-अर्थात् १५० प्रति हजार और मौजूदा बच्चों के जीवन के बारे में असुरक्षा की भावना के कारण लोग नसबन्दी स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होते।

३. भारत में नारी साक्षरता की दर सामान्यतः बहुत कम है (केवल २२ प्रतिशत)। गांवों में ९०से९८ प्रतिशत महिलायें अशिक्षित होती हैं।

४. लम्बे समय से उपेक्षा और अभाव की जिन्दगी ने उनकी नागरिक चेतना को समाप्तप्राय कर दिया है।

५. भारत में अब तक परिवार नियोजन कार्यक्रमों का सारा जोर मुख्य रूप से नसबन्दी की ओर तथा चिकित्सकों और अस्पतालों पर निर्भर रहा है।

६. गाँवों में चिकित्सा तथा अस्पताल की सुविधायें अभी बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

शहरों में केन्द्रित होने के कारण, अधिकांश कार्यक्रमों के लाभ शहरी आबादी को मिलते हैं जिसकी आय पहले से ही अधिक होती है और वह बचत करना भी जानती है। परिणामस्वरूप, निर्धन ग्रामीणों की तुलना में शहर के लोगों का आर्थिक

मंथन

धारभूत सुविधाओं का अभाव
में बाधक रहा है। इसके अति-
व्यय करने से किसी भी ग्राम-
गत से कम परिणाम की स्थिति
र इसलिए ग्रामीण प्रकल्पों के
जाती है।

में परिवार नियोजन कार्यक्रमों
अन्य कारण निम्नलिखित हो

के जीवन मूल्यों के अन्तर्गत,
च्चों की संख्या में वृद्धि को
ईश्वरीय देन मानकर स्वागत
।

में शिशु मृत्यु दर ऊंची होने के
१५० प्रति हजार और मौजूदा
न के बारे में असुरक्षा की भावना
ग नसबन्दी स्वीकार करने के
न नहीं होते।

ी साक्षरता की दर सामान्यतः
केवल २२ प्रतिशत)। गांवों में
ात महिलायें अशिक्षित होती हैं।

उपेक्षा और अभाव की जिन्दगी
ारिक चेतना को समाप्तप्राय

तक परिवार नियोजन कार्य-
जोर मुख्य रूप से नसबन्दी
चिकित्सकों और अस्पतालों पर

सा तथा अस्पताल की सुविधायें
मात्रा में उपलब्ध हैं।

त होने के कारण, अधिकांश
शहरी आबादी को मिलते हैं
ही अधिक होती है और वह
ती है। परिणामस्वरूप, निर्धन
में शहर के लोगों का आर्थिक

विकास तेज गति से होता है। इस प्रकार शहरी और ग्रामीण जनता की आय में असमानता और भी अधिक बढ़ती जाती है जिससे पता चलता है कि ये चिकित्सालय-आधारित और नगरोन्मुख वर्तमान कार्यक्रम न केवल अधिकतम मात्रा में व्यापक जन-कल्याण की दृष्टि से बहुत अपर्याप्त हैं, अपितु इनके कारण विकासशील देशों में आय का वितरण वर्तमान स्तरों से भी आगे बढ़कर और अधिक असमान हो गया है।

नगर-केन्द्रित विकास की नीति शहरीकृत विनिमय नीति के साथ मिलकर आय के वितरण को विषम बना देती है और इसे एक विपत्ति के रूप में ही लिया जाना चाहिए और जहां तक विकास का सम्बंध है, यह अधिक से अधिक एक मध्यम वर्गीय समाधान है। जबकि ग्राम-केन्द्रित विनिमय-नीति का परिणाम आय के समान वितरण और सुनिश्चित भविष्य में होता है।

सामुदायिक प्रयास

चिकित्सालय-आधारित प्रयास प्राथमिक उपचार सेवा उपलब्ध कराने में भी कितने असफल और अक्षम रहे हैं, इसे अब पूरी तौर पर समझ लिया गया है। इस नीति को त्यागने का निर्णय ही "अल्मा अता घोषणा" का आधार है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत से चिकित्सालयों का तो अस्तित्व भी नहीं दिखाई देता। और यदि वे कहीं अस्तित्व में हैं भी तो विभिन्न प्रकार की आवश्यक सामग्रियों तथा चिकित्सकों के अभाव के कारण उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित एवं कार्यकलाप बहुत दोषपूर्ण हैं। किसी भी परिवार-नियोजन कार्यक्रम की सफलता के लिए आवश्यक है कि समाज के मूल्यगत ढांचे में तथा इसके प्रत्येक नागरिक द्वारा छोटे परिवार की अवधारणा को स्वीकार कर लिया जाये। इस प्रकार का सामाजिक परिवर्तन लाने का कार्य स्थानीय, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक कारण-तत्वों से अवश्यमेव प्रभावित होकर अधिक जटिल बन जाता है। गर्भ-निरोधकों का इस्तेमाल तभी लोकप्रिय हो सकता है जब नागरिक गण इसकी आवश्यकता और इसके लाभकारी परिणामों को समझ लें। इस उद्देश्य को स्थानीय समुदाय की कार्यक्रमों में सक्रिय हिस्सेदारी के बिना पूरा नहीं किया जा सकता। इस कार्य को स्वयंसेवी संस्थाएं निश्चित रूप से अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं क्योंकि वे सरकारी मशीनरी के मुकाबले जनता के बीच अधिक निकट होती हैं। यद्यपि समुचित लोकशिक्षण और प्रेरक अभियानों को विकसित करने की आवश्यकता है, किन्तु यदि स्थानीय स्तर पर, विशेषकर स्थानीय महिला कार्यकर्त्रियों के माध्यम से, आपसी संवाद या मौखिक बातचीत के द्वारा इस दिशा में प्रयास किया जाय तो यह अधिक प्रभावी होने की संभावना है क्योंकि महिलाओं को ही अनियंत्रित प्रजनन का कष्ट भोगना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, महिला कार्यकर्त्रियों को समुचित प्रशिक्षण देकर, निरोध और खाने वाली दवाइयों जैसी गर्भनिरोधक वस्तुओं की वितरण व्यवस्था का माध्यम भी बनाया जा सकता है।

जनसंख्या-नियोजन की गलत दिशा

भारत में जनसंख्या नियोजन के प्रयासों की धारा अब तक ऊपर से नीचे की ओर बहती रही है। योजनाकारों एवं नीति-निर्माताओं द्वारा प्रतिपादित जनसांख्यिकीय उद्देश्यों के आधार पर नसबन्दी, आई०यू० डी० (लूप) तथा अन्य गर्भ निरोधक उपायों के सम्बन्ध में लक्ष्यों का निर्णय पहले परिवार कल्याण मंत्रालय के राष्ट्रीय मुख्यालय 'निर्माण भवन' में किया जाता है और फिर उन लक्ष्यों को प्राप्त करने का भार अक्सर राज्य स्तर के निष्क्रिय तथा अनिच्छुक अधिकारियों पर छोड़ दिया जाता है। किन्तु अब तक न तो राज्य-शक्ति और न ही प्रोत्साहन एवं हतोत्साहन के विभिन्न प्रावधान कोई आशाजनक स्थिति निर्माण करने में सफल हुए हैं। परिवार नियोजन कार्यक्रमों के अधिकांश लाभ शहरों में रहने वाले आर्थिक दृष्टि से बेहतर लोगों को मिले हैं और इस प्रकार असमानतायें घटने की बजाय बढ़ी ही हैं। असमानता को धीरे-धीरे कम करने के **'स्रवनन'** (Percdation Theory) जिसके अन्तर्गत यह आशा की जाती है कि समाज

के विकसित वर्गों को प्राप्त होने वाले लाभ एवं शीर्ष स्तर पर किया गया पूंजी निवेश छन-छन कर अपने आप समाज के कम सम्पन्न वर्गों, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंच जायेगा, के बजाय असमानता को बढ़ावा देने वाला **'वाष्पण'** (Evaporation Theory) सिद्धान्त अपनाया गया दीखता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कार्यान्वित हो रहे विभिन्न कार्यक्रम गांव में रहने वाली गरीब जनता तक लगभग पहुंचे ही नहीं हैं। इस असंगत स्थिति का निराकरण करने के लिए परिवार नियोजन की समूची प्रक्रिया की दिशा को ही बदलना होगा और जनसंख्या नियोजन का कार्य नीचे से ऊपर की ओर करना होगा।

नीचे से ऊपर की ओर नियोजन की इस प्रक्रिया को जनता के सक्रिय सहभाग से ही पूरा किया जा सकता है। नियोजनकर्त्ताओं की दृष्टि में जनता के सहभाग का इतना ही अर्थ प्रतीत होता है कि जनता के लिए बनाये गये एवं आयोजित कार्यक्रमों में वह सम्मिलित हो। किन्तु, जनता के सहभाग का वास्तविक अर्थ यह है कि जिन लोगों के लिए कार्यक्रम बनाया जा रहा है उन्हें एवं उनके नेताओं को कार्यक्रम के नियोजन, कार्यान्वियन और मूल्यांकन के बारे में निर्णय लेने वाली प्रक्रिया में सहभागी बनाया जाए।

आमतौर पर भारतीय समाज का और विशेष रूप से ग्रामीण समाज का सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढांचा कमजोर वर्गों के लिए बहुत उत्पीड़क सिद्ध हुआ है। ये वर्ग ऐसी स्थिति में पहुंच गये हैं कि जहां से वे बिना बाहरी सहायता के ऊपर नहीं उठ सकते। यह अत्यावश्यक सहायता उनके पास सीधी पहुंचनी चाहिए और यह सुनिश्चित होना चाहिए कि यह सहायता ऐसे व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा हड़प नहीं कर ली जायेगी जिनका तन्त्र सहायता जुटाने में बड़ा सशक्त है। सहायता देने की यह प्रक्रिया राहत कार्यों में परिणत नहीं होनी चाहिए, बल्कि इससे विकास की दिशा में मानवी क्षमताओं को प्रवाहित करने में और लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की आकांक्षा जागृत करने में सहायता मिलनी चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब उन्हें मुफ्त सेवायें प्रदान करने की बजाय इस बात के लिए प्रेरित किया जाये कि वे स्वयं आगे आकर मांग करें और मूल्य चुका कर भी सेवाओं को प्राप्त करें।

प्रखंड स्तर पर जनसंख्या-नियोजन

भारत में सामुदायिक विकास प्रखंड एक मनमाने ढंग से गठित प्रशासनिक उपजिला-इकाई है जिसके अन्तर्गत लगभग अस्सी से एक सौ गांव और लगभग एक लाख आबादी आती है। प्रत्येक प्रखंड में एक अतिरिक्त चिकित्सा केन्द्र होता है जिसमें परिवार नियोजन संबंधी कार्यकलापों के लिये एक पृथक् चिकित्सा अधिकारी व पूरे स्टाफ का प्रावधान होता है। हम समझते हैं कि लक्ष्य-निर्धारण, कार्यान्वियन एवं उसका मूल्यांकन आदि सब कार्यों सहित परिवारनियोजन कार्यक्रमों का निरूपण प्रखंड स्तर पर किया जाना चाहिये।

सर्वतोमुखी नियोजन के लिये सामुदायिक विकास प्रखंड को अत्यन्त उपयुक्त क्षेत्रीय इकाई बनाने के पक्ष में विभिन्न तर्क दिये जा सकते हैं।

राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर पर बनायी गयी योजना का स्वरूप आवश्यक तौर पर बृहत् एवं अस्पष्ट होता है और वह सामुदायिक विकास प्रखंड जैसे सीमित क्षेत्र के लिये तैयार की गई सुस्पष्ट, यथार्थवादी और पूरी होने योग्य लघु योजना का विकल्प नहीं बन सकती।

सांस्कृतिक, धार्मिक, जातीय, आर्थिक, शैक्षणिक, तथा अन्य सामाजिक तत्वों की दृष्टि से प्रत्येक क्षेत्र की क्षमताएं व समस्याएं अलग-अलग होती हैं। इन तत्वों की गहरी जानकारी के साथ-साथ रणनीति का निर्धारण करते समय इन्हें ध्यान में रखने से निश्चित ही एक अच्छी योजना का निर्माण होगा।

वैसे भी सुनिश्चित जनसांख्यिकीय उद्देश्यों वाली किसी भी राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर की योजना के क्रियान्वयन के लिये आवश्यक हो जाता है कि गर्भ निरोध के प्रत्येक तरीके को स्वीकार

करने के लिये इच्छुक लोगों की संख्या के बारे में विस्तृत योजना बनायी जाय। और इस प्रकार प्रखंड स्तरीय योजनाएं राज्य अथवा राष्ट्रीय स्तर के लक्ष्यों की प्राप्ति में पूरक एवं सहायक का कार्य कर सकती हैं।

सामुदायिक विकास प्रखंड एक ऐसी क्षेत्रीय इकाई है जिसका क्षेत्र और आबादी की दृष्टि से सुचारू रूप से संचालन किया जा सकता है। इससे नियोजकों, कार्यान्वयन के लिये जिम्मेदार व्यक्तियों और लक्षित जनसमूहों को परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने एवं एक-दूसरे को शीघ्र समझने का अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है जो कि सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक है। इस प्रकार जनसंख्या नियंत्रण के लिये प्रखंड स्तरीय नियोजन निम्नलिखित प्रकार से लाभदायक हो सकता है :

१. इससे लक्षित जनसमूहों की आवश्यकताओं और समस्याओं को अधिक स्पष्टता से समझने का नियोजन-कर्ताओं को अवसर प्राप्त होगा, साथ ही वे "छोटे परिवार के मानदंड" को लोकप्रिय होने से रोकने वाले कारण-तत्वों को भी जान सकेंगे।

२. इससे नियोजकों एवं कार्यक्रम अधिकारियों को परिस्थिति विशेष में प्रत्येक गर्भनिरोधक पद्धति एवं विभिन्न वितरण प्रणालियों की उपादेयता को जानने, आकलन करने व परखने में सहायता मिलेगी।

३. लाभान्वित होने वाले व्यक्तियों को अपने स्वयं के विकास के लिये योजना तैयार करने और उसे कार्यान्वित करने का अवसर भी इससे प्राप्त हो सकता है और इस प्रकार वे इस कार्यक्रम को सरलता से स्वीकार करने लगेंगे।

अंततोगत्वा हमें भारत के वर्तमान ५००० प्रखंडों में से प्रत्येक के लिये प्रखंड स्तरीय योजनाएं बनानी ही होंगी। किन्तु तब तक हम इस कार्यक्रम के प्रथम चरण के रूप में केवल उन २००० प्रखंडों में, जिन्हें सरकार ने सर्वांगीण ग्राम विकास के हेतु चुना है, इस अवधारणा को लागू करने की शुरुआत कर सकते हैं। यदि जनसंख्या नियोजन के कार्यक्रम को सड़क, संचार आदि मूलभूत आवश्यकताओं के विकास संबंधी योजनाओं एवं ग्रामवासियों के जीवन को ऊंचा उठाने वाले अन्य कार्यों के साथ मिलाकर क्रियान्वित किया जाय तो वह अवश्य ही अधिक परिणामकारी सिद्ध होगा।

ग्राम-पुनर्रचना

अब भारत सरकार सर्वांगीण ग्रामीण विकास योजना की रणनीति पर बहुत अधिक जोर दे रही है ताकि आबादी के गरीब और अधिकांश तबकों तक सुविधायें पहुंच सकें। हम समझते हैं कि यही उपयुक्त अवसर है जब सम्पूर्ण ग्राम विकास के प्रयत्नों, जिनके अन्तर्गत आर्थिक, स्वास्थ्य संबंधी, शैक्षणिक एवं संचार, यातायात, आवास आदि अन्य मूलभूत सुविधाएं आती हैं, के साथ परिवार नियोजन के तत्व को भी जोड़ देना चाहिये। इससे एक ओर इन अतीव आवश्यक कार्यक्रमों को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुंचाने में सहायता मिल सकती है तो दूसरी ओर इससे ग्रामीण परिवारों का जीवन स्तर वास्तव में सार्थक रूप से ऊंचा उठ सकता है।

व्यापक सर्वांगीण दृष्टि का औचित्य इस तथ्य से भी सिद्ध होता है कि समन्वित प्रयासों के द्वारा अभिनव परिवर्तनों की स्वीकृति और विभिन्न क्षेत्रों में दृष्टिकोणों का विकास तेजी से हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति किसी एक विचार को अपना लेता है, चाहे वह अपनी फसल के लिये नलकूप लगाना ही क्यों न हो, तो वह दूसरे विचारों को ग्रहण करने की मनःस्थिति में भी पहुंच जाता है। परिवार नियोजन के नवीन कार्यक्रमों को असम्बद्ध रूप में क्रियान्वित करने के बजाय यदि उन्हें ग्राम-विकास की उपरोक्त योजनाओं के साथ नत्थी कर दिया जाय तो उनके अपनाये जाने की अधिक सम्भावना है। भारत के ग्रामीण हलकों में प्रायः ऐसा देखा गया है कि लोग अपने जीवन के सभी पहलुओं के बारे में ऐसे व्यक्ति से परामर्श और निर्देश लेना पसन्द करते हैं जिसे वे अपना शुभेच्छु और हितचिन्तक समझने लगते हैं। इसलिये इसकी अधिक संभावना है कि स्थानीय ग्रामीण नेता ग्राम विकास के आंशिक कार्यक्रमों के बजाय सर्वांगीण कार्यक्रम को अधिक सहयोग देंगे।

ग्राम-पंचायत : राजनीति की दलदल में

□ प्रबाल मैत्र*

मई १९८० में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के लगभग एक हजार सदस्य पार्टी के पश्चिम बंगाल सचिवालय द्वारा "भ्रष्टाचार" से लेकर "रुपये-पैसे की हेराफेरी" तक के आरोप में निष्कासित कर दिये गये। कुछ लोगों पर "भाई भतीजावाद" की सर्वव्यापी बुराई में फंसने के भी आरोप लगाये गये। ये सभी निष्कासित सदस्य पंचायतों के पदाधिकारी थे—जिनके ऊपर "लोकतंत्र को जड़ से" मजबूत करने की जिम्मेदारी थी। वैसे पार्टी का नेतृत्व यह कह कर मामले से पीछा छुड़ाना चाहता था कि ये सभी लोग अर्थात् "कामगार वर्ग की पार्टी" के ये एक हजार "क्रांतिकारी सदस्य" वास्तव में अवसरवादी थे, जो सी.पी. आई. (एम.) के राज्य में सत्तारूढ़ होने पर उसमें घुस गये थे, जिन्होंने पंचायत चुनावों के लिये पार्टी का टिकट हासिल कर लिया और जिन्होंने चुन लिये जाने के बाद पंचायतों में अपने पदों का दुरुपयोग अपने आर्थिक स्वार्थों को पूरा करने और अपने नजदीकी लोगों के स्वार्थों को बढ़ाने के लिये किया। बाढ़ राहत, सूखा राहत, 'काम के बदले अनाज' जैसे कार्यक्रमों के लिये केन्द्र और राज्य सरकार द्वारा दिये गये कोष का हिसाब-किताब भी ठीक से नहीं रखा गया। सी. पी. आई. (एम.) के सदस्यता नियमों को ध्यान में रखने पर पार्टी नेतृत्व के इस तर्क को स्वीकार कर पाना कठिन हो जाता है कि ये सभी एक हजार सदस्य वास्तव में अवसरवादी थे जो अचानक मार्क्सवादी बन गये थे और फिर अपने पुराने "वाद" पर लौट गये थे। हुआ यह होगा (और—बेहतर हो पार्टी नेतृत्व इसकी जांच करे) कि इस पार्टी के 'क्रांति-मुखी" सदस्य भी भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद के उस व्यापक जाल में फंसने से बच न सके जो अब हमारी राजनीति का नियमित और स्वीकृत अंग बन चुका है तथा राजनीतिक सत्ता के वितरण और विकेन्द्रीकरण के नाम पर "तुम मुझे खुजलाओ और मैं तुम्हें खुजलाऊंगा" के सिद्धान्त पर चलता है। पंचायतों के क्रियाकलापों की ओर थोड़ी सी भी दृष्टि दौड़ाने पर पता चलेगा कि यहां प्रतिदिन लाखों तुलमोहन राम कारनामे होते रहते हैं, अलबत्ता उनका स्तर छोटा होता है। उन पंचायतों के क्रियाकलाप का यह एक पहलू है जिनकी मूलतः कल्पना जड़ से लोकतंत्र को मजबूत करने वाली संस्थाओं के रूप में की गई थी।

पंचायतों के क्रियाकलाप के दूसरे पहलू को स्पष्ट करने के लिये भी हम पश्चिम बंगाल का ही उदाहरण लेंगे। १९७८-७९ के दौरान राज्य में विशेषकर गांवों में गुटीय संघर्षों की झड़ी लग गई जिनमें हत्यायें और आगजनी भी हुई। पुराने दिनों के संघर्षों—जो जोतदारों (भूमिपतियों) और वर्गादारों (बंटाइदारों) तथा खेत-मजूरों के बीच हुआ करते थे—से अलग ये ताजे संघर्ष अक्सर गांव के दो ऐसे गुटों के बीच होते थे जो दो विभिन्न राजनीतिक दलों के समर्थक होते थे। इन गुटों का नेतृत्व प्रायः पंचायत पदाधिकारी करते थे। कुछ जगहों पर संघर्ष कांग्रेस (इं) के समर्थकों और वाम मोर्चे की किसी पार्टी के समर्थकों के बीच होता था। लेकिन ऐसे बहुत से मामले थे, और बहुसंख्या उनकी ही थी, जिनमें परस्पर संघर्ष सी. पी. आई. (एम.), फारवर्ड ब्लाक और रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी के समर्थकों के बीच होता था, जो वाम मोर्चे के सदस्य के रूप में राज्य स्तर पर सत्ता में भागीदारी कर रहे थे। कतमारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाली इन पार्टियों के बीच संघर्ष का केन्द्र बिंदु पंचायतों पर अपना प्रभुत्व कायम करने या बनाये रखने की उनकी आकांक्षा थी ताकि अन्य चुनावों में दल के लिये वोट प्राप्त करने के साधन के रूप में उसका उपयोग किया जा सके। कोई संघर्ष इसलिये नहीं हुआ था जिसमें गांवों को गरीबी, आर्थिक कमजोरी आदि के दलदल से

* सहायक सम्पादक, पांचजन्य साप्ताहिक, नयी दिल्ली।

उबारने के कार्यक्रमों के संबंध में मतभेद हो।

किसी विशेष राज्य या राजनीतिक दल को नीचा दिखाने के लिये ये उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये गये हैं, बल्कि यह स्पष्ट करने के लिये कि ये संस्थायें किस बुरी हालत में पहुंच गयी हैं और उनकी कार्यप्रणाली कैसी बन गयी है। जड़ से, यानी गांव के स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करने का यह प्रयास प्रत्येक राज्य में एक सी स्थिति में है भले ही इन संस्थाओं की संरचना भिन्न हो। (श्री अशोक मेहता के नेतृत्व में) "पंचायती राज संस्थाओं की कमेटी" की रपट में इस दुखद स्थिति के मूल में स्थित कारणों को खोजने का प्रयास किया गया है और उनके बताये गये कारणों में एक यह भी है कि "जड़ से लोकतांत्रिक प्रक्रिया को मजबूत करने के प्रयास के प्रति उच्च स्तर के राजनीतिक विशिष्ट वर्ग का उदासीन रुख सामान्यतया इसका प्रमुखतम कारण है। इस संबंध में विशेष महत्वपूर्ण बात कुछ राज्यों में पंचायती राज के प्रति सांसदों और विधायकों के उत्साह का ठंडा होना है क्योंकि उन्हें यह डर लगता था कि उभरता पंचायती राज नेतृत्व उनके अपने क्षेत्रों में उनकी स्थिति के लिये खतरा बन जाएगा।

अगर कमेटी मामले में अधिक गहराई में पैठती तो उसे आसानी से यह भी पता लगता कि राजनीतिक नेताओं का रुख सदैव उदासीन नहीं रहता है, बल्कि उनका प्रयास यह भी रहता है कि इन आधारभूत संस्थाओं को निष्प्रभावी कर विभिन्न रंगों के राजनीतिज्ञों के लिये उन्हें चरागाह बनाकर उनका उपयोग अपना प्रभाव क्षेत्र बनाने-बढ़ाने और थोक-वोट प्राप्त करने के लिये किया जाय। परिणामस्वरूप हुआ यह है कि लोकतंत्र का अर्थ और उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण पूरी तरह बदल गया है लोकतंत्र केवल वोट डालने के पंचवर्षीय कर्मकांड में सीमित रह गया है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। लोकतंत्र का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक निर्णय करने और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में प्रभावी सहभागिता निभाये। इन वर्षों में हुआ यह है कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का काम प्रत्येक स्तर पर पीछे धकेल दिया गया है और इसी तरह नागरिक द्वारा निर्णय लेने के अधिकारों को भी कम कर दिया गया है। प्रारंभ में यह माना गया था कि पंचायती राज संस्थायें एक लोकतांत्रिक राज्य में नागरिक को अपने कल्याण और साथ ही-राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य में लगाने की माध्यम बनेंगी। यह भी कल्पना की गई थी कि गांव समुदायों के लिये स्थानीय और आर्थिक क्रियाकलाप पंचायतों का एक प्रमुख काम होगा। यह लक्ष्य प्राप्त करने के लिये जो तरीका इस्तेमाल किया गया था वह राज्यों की विधायिका सभाओं और भारत की संसद के लिये प्रतिनिधि चुनने के तरीके की तरह ही वयस्क मताधिकार का था। जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है, कुछ राजनीतिज्ञों द्वारा स्वयं को सत्ता में बनाये रखने के साधनों के रूप में इनका इस्तेमाल करने की आकांक्षा ने इन संस्थाओं को राज्य-स्तर पर कार्यरत राजनीतिक दलों का दुमछल्ला बनाकर रख दिया। प्रारंभिक वर्षों में राजनीतिक दलों के नेता पंचायत चुनावों में अपनी पार्टी के उम्मीदवार के रूप में प्रभावी लोगों, सामान्यतया भूमिपतियों और जमींदारों को पसंद करते थे, क्योंकि तत्कालीन ग्रामीण सामंती ढांचे के कारण इनका चुना जाना और अन्य चुनावों में वोट दिलवाना इनके लिये आसान हुआ करता था। जिन गांवों में ऐसे दो या तीन लोग हुआ करते थे उन्हें विभिन्न राजनीतिक दल अपने जाल में फंसाने का प्रयास करते थे और इसका परिणाम अक्सर यह होता था कि पूरा गांव दो या तीन हिस्सों में बंट जाता था—जिसकी लड़ाई केवल चुनाव के अखाड़े तक ही सीमित रहने के बजाय पारिवारिक संघर्षों का एक नया सिलसिला शुरू कर देती थी जो पूरे गांव को अपनी चपेट में ले लेता था क्योंकि गांव के शेष लोग अपनी आजीविका के लिए इन पर निर्भर होते थे। इन चुनावों में पैदा गरमी वर्षों तक बरकरार रहती थी, जीतने वाला गुट पूरे गांव के लिये दी गयी समूची सरकारी सहायता को खुद हड़प जाता था और हारने वाला गुट पूरे गांव के लिये कल्याणकर योजनाओं और कार्यक्रमों के प्रति भी असहयोग का रुख अपनाता था। अन्य स्तरों पर

राजनीतिक चेतना के विस्तार के बाद स्थिति अधिक जटिल हो गई और पंचायती राज संस्थाओं तथा गांवों का वातावरण राजनीतिक गुटबाजी के कारण विषाक्त बन गया। विकास योजनायें बंद कर दी गईं और या नाम मात्र को रह गईं। भ्रष्टाचार, अकर्मण्यता, गुटबाजी, सेवा चेतना के बजाय सत्ता का केन्द्रीकरण इन सबने पंचायती राजसंस्थाओं के क्रियाकलापों की उपयोगिता को बुरी तरह प्रभावित किया। पूरे गांव के विकास के लिए योजनायें बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने के बजाय वे अब राज्य सरकारों के दुमछल्ले बन गये हैं—और अपने अस्तित्व के लिये उन पर पूरी तरह निर्भर हैं। राज्य की राजधानी से एक आदेश आता है और सभी "क्रियाकलाप" पूरी तरह ठप्प पड़ जाते हैं।

ग्रामीण पुनर्निर्माण के योजनाबद्ध प्रयास की उपेक्षा और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को पूरा करने का बहाना बनाकर चुनाव पर ही सारा जोर देना इस स्थिति का सर्वप्रमुख कारण लगता है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि चुनाव भले ही पांच साल के अन्तर पर ही क्यों न हो—निर्णय लेने के अपने लोकतांत्रिक अधिकार का प्रयोग केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर हैं क्योंकि उन पर न तो किसी धमकी का असर हो सकता है। और न ही लालच का। यही बात ग्रामीण भारत की प्राथमिक इकाई यानि गांव पर भी लागू होती है। और चूंकि देश की ८० प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती है और वहीं अपनी आजीविका कमाती है, इसलिये यदि हम चाहते हैं कि वे लोग वयस्क मताधिकार के अपने अधिकार का प्रयोग मुक्त मन से—रोटी, कपड़ा, सर पर छत और काम के अवसर की चिन्ता से मुक्त मन से करें तो उसकी पूर्वशर्त के रूप में ग्रामीण पुनर्निर्माण द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जाय। □

With Best Compliments from

TRANSPORTERS OF LIQUIFIED

PETROLEUM GAS & OTHER

PETROLEUM PRODUCTS.

BATRA BROTHERS

'Batra House', Roshanara Road, Delhi-110007

Telex : 3061 *Phones* ; 256018, 256099

Grams : BATROADS

ग्रामीण छात्र-युवा की मानसिकता

□ सुनील मान

बीसवीं सदी और विशेषकर आठवें दशक में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा भौतिकवाद के पीछे अंधाधुंध भागने की प्रवृत्ति के कारण सारा समाज एक संक्रमण के मोड़ पर खड़ा है। बदली हुई परिस्थितियों में नगरवासियों ने तो अपने आपको बहुत कुछ समयानुकूल बदल लिया है, लेकिन शहरों के साथ अपरिहार्य सम्पर्क होने की वजह से आज ग्रामीण शिक्षित युवा अपने आपको शहरी परिवेश में एक "मिसफिट-सी चीज" समझता है।

ग्रामीण युवाओं को उच्च शिक्षा, रोजगार तथा अन्य दैनन्दिन कार्यों के समापन हेतु शहरों की तरफ भागना पड़ता है। प्रायः हाई स्कूल तक की शिक्षा प्राप्त करने के बाद इन युवाओं को उच्चशिक्षा के लिए महाविद्यालयों में या अन्य व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेना पड़ता है। यहाँ आकर उसे एकदम नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। छात्र-छात्रायें इन परिस्थितियों में छात्रावासों में ही अपनी रिहाइश का इंतजाम करते हैं।

ऐसे में न केवल उनके दैनिक रहन-सहन में ही भारी अन्तर आ जाता है बल्कि उनके समस्त व्यवहार तथा चिन्तन में भी एक आमूलचूल परिवर्तन आसानी से देखा जा सकता है। गाँव में जहाँ वह (युवा) प्रातः उठकर दूर कहीं दैनिक क्रिया के लिए जाता था, वहीं अब वह सुबह ५ बजे की बजाय ८ बजे और ९ बजे उठना प्रारम्भ कर देता है। गाँव में "जल्दी सोने जल्दी उठने" का पालन करने वाला युवक इसके एकदम विपरीत आचरण करने लगता है।

बनावटीपन

अब गाँव में तो औपचारिकता के लिए कोई जगह नहीं होती थी, लेकिन शहर में आने पर संगी-साथियों के सत्संग के कारण उसके समस्त व्यवहार और बातचीत में औपचारिकता और बनावटीपन झलकने लगता है। आसपास के परिवेश के कारण वह भी बोलचाल में अंग्रेजी के वही घिसे-पिटे और लचर शब्दों का बीच-बीच में प्रयोग करके अपने को आधुनिक साबित करने की असफल कोशिश करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शहर में आने के बाद ग्रामीण युवा के पहनावे से लेकर व्यवहार तक में एक अजीब परिवर्तन आता है।

उक्त परिवर्तन अगर उसके चिंतन में भी आता हो तो ठीक है। लेकिन होता यह है कि शहर प्लट (सिटी-रिटर्न्ड) युवक आधुनिक बनने के फेर में सिर्फ बाह्य टीम-टाम पर ही केन्द्रित होकर रह जाता है। कानों से भी नीचे तक बढ़े हुए बाल, "जीन्स" तथा अंग्रेजी शब्दों से बोझिल हिन्दी, केवल यही लेकर लौटता है...ग्रामीण युवा।

आधारहीन प्रश्न

दुर्भाग्य से वह आधुनिकता को केवल रहन-सहन और पहनावे तक ही सीमित समझता है। इस "आधुनिकता" के कारण वह परिश्रम से घृणा करने लगता है और यही वजह है कि गाँव में रहकर श्रमसाध्य कार्य करके आधुनिक परिभाषा में 'अधिकाधिक' वह नहीं कमा सकता है बल्कि शहर में रहकर दफ्तरी और कागजी काम करना ज्यादा पसन्द करता है, भले ही उसमें उसे उसकी योग्यता के अनुसार वेतन न मिलता हो। यह कतई नहीं है कि चिंतन में शहरीपना आना कोई बुरी चीज है। शहरीपने से अभिप्रायः यहां आधुनिकता से है। होता यह है कि शहर में आने के बाद ग्रामीण युवा अपने बुनियादी ग्रामीण गुणों को भुला देता है और शहरी परिवेश के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी बुराइयां-झूंठ, छल, छद्म और मक्कारी आदि अपना लेता है। ऐसे युवक ग्रामीण समाज में नयी चेतना फूंकने के बजाय विष घोलने लगते हैं—

उक्त बुराइयों में ग्रामीण शिक्षित युवक शहरियों से आगे निकल जाता हो, ऐसी बात भी नहीं। "गला-काट" प्रतियोगिता के इस जमाने में वह नगरवासियों से पिछड़ जाता है, क्योंकि उसके बुनियादी संस्कार तो ग्रामीण ही होते हैं जबकि आज की सारी व्यवस्था नगरोन्मुखी है। ग्रामीण शिक्षित युवा बहुत चाहते हुए भी पूरी तरह से अपने आपको इस व्यवस्था का अंग नहीं बना पाता। इस सारी नगरोन्मुखी व्यवस्था में उसके लिए कोई जगह नहीं होती और शहरी सभ्यता की गलत नकल के कारण वह गांव की जमीन से भी कट चुका होता है, वह एक आधारहीन वृक्ष बनकर रह जाता है, अपनी आधार-भूमि से कटे शहर-पलट ग्रामीण-शिक्षित युवा की त्रिशंकु की सी हालत होती है।

टूटते रिश्ते

आज जब चरम भौतिकवाद के प्रसार के कारण समाज में निहित मूल मानवीय मूल्य लुप्त से होते जा रहे हैं, शहरी परिवेश में सबसे बड़ा खतरा यही है कि भारतीय समाज की मूलभूत विशेषताएं अब मरणासन्न हैं: टूटते पारिवारिक बंधन, ढीले होते मानवीय रिश्ते-यह सब हैं आज की शहरी सभ्यता का अनिवार्य अंग। उपयुक्त सभी बुराइयां तेज रफ्तार की जिन्दगी से जुड़ी हैं और स्वाभाविक ही है कि शहर के सम्पर्क में आने वाले ग्रामीण युवा भी इनसे प्रभावित हों। ग्रामीण युवा एक तरफ अपने गांव-घर में देखता है घनिष्ठ स्नेह और स्नेह-सिक्त पारिवारिक और मानवीय रिश्ते जो ग्रामीण-समाज की बुनियादी विशेषताएं हैं। इन दोहरी परिस्थितियों से जूझता हुआ ग्रामीण बहुत कुछ सोचने के लिए मजबूर हो उठता है। ऐसे में एक अजीब रिक्तता तथा वितृष्णा उसमें घर कर लेती है। आम तौर पर उपर्युक्त परिस्थितियों में देखा यह जाता है कि गाँव से जुड़ा हुआ और नगरस्थ ग्रामीण युवा अपने माता पिता तथा प्रियजनों की उपेक्षा का शिकार होता है तथा "शहरी समाज" भी उसे दूसरे दर्जे का नागरिक समझता है अर्थात् शहरी जीवन में वह अपने को स्थापित नहीं कर पाता। यहाँ पर यह भी एक समाजशास्त्रीय तथ्य है कि ग्रामीण-युवा, जो शहर में बस जाता है, करीब दो पीढ़ी के बाद ही "शहर वाला" बन पाता है। □

हमारे देश की आबोहवा में विलायती ढंग की इमारतें आवश्यक नहीं हैं, न प्रधानतया ग्रामीण वातावरण में पले हुए हमारे बच्चों को उस शिक्षा की ही जरूरत है जो खासकर शहरी वायु-मण्डल में पले हुए अंग्रेज बच्चों के लिए आवश्यक है।

जब हमारे बालक शालाओं में भरती किए जाते हैं, उन्हें पट्टी, पैन्सिल या पुस्तकों की जरूरत न होनी चाहिए, बल्कि उनके हाथों में सादे ग्रामीण औजार होने चाहिए, जिन्हें वे स्वतंत्रता पूर्वक और लाभ उठाकर इस्तेमाल कर सकें। इसका मतलब हुआ—शिक्षा-प्रणाली में क्रान्ति।

यह एक मानी हुई बात है कि वर्तमान सरकारी शालाओं में पढ़ने, लिखने और गणित (अंग्रेजी के तीन "आर" : रीडिंग, राइटिंग और अरिथमेटिक) की जो शिक्षा दी जाती है, बालक-बालिकाएं भावी जीवन में उससे बहुत कम लाभ उठाते हैं। ज्यादातर बातें तो साल भर के भीतर ही भूल जाती हैं फिर भले ही उपयोग में न आने के कारण ऐसा होता हो। इन बातों की ग्राम्य वातावरण में कोई जरूरत भी नहीं होती।

लेकिन अगर बालकों को उनके आसपास के वातावरण के अनुकूल किसी धंधे की शिक्षा दी जाय, तो न केवल उससे उन पर होने वाले खर्च की पूर्ति होगी, बल्कि वे भावी जीवन में इस शिक्षा से लाभ भी उठा सकेंगे। मैं एक ऐसी सम्पूर्ण स्वावलम्बी शाला की कल्पना कर सकता हूं, जिसमें हाथ का काम मसलन, कताई या बुनाई का काम सिखाया जाता हो, और साथ ही जिसके पास कपास का खेत भी हो।

—गांधी जी

हिन्दी-नवजीवन, ११-७-२९

ग्रामोन्मुखी शिक्षा-योजना

□ डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री
भूतपूर्व कुलपति
जबलपुर विश्वविद्यालय

ग्रामोन्मुखी शिक्षा योजना से हमारा तात्पर्य एक ऐसी शिक्षा पद्धति से है जो ग्रामीण शक्ति और साधनों को लाभकारी ढंग से गांवों में विनियोजित करने में सहायक हो और जो ग्रामों के पुनर्निर्माण एवं स्वस्थ प्रगति में दिशा-निर्देशन का काम कर सके। हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति का ढांचा औद्योगिक दृष्टि से विकसित या विकासमान राष्ट्रों को ध्यान में रखकर बनाया गया है और स्वभावतः नगरोन्मुखी है। यह ऐसे देशों से उधार लिया गया है, जहां भाषा, बोली, रहन-सहन, खानपान, आय और जीवन-यापन के स्तर में इतनी अधिक क्षेत्रीय विषमता नहीं है। इस शिक्षा के परिणामस्वरूप गांवों की प्रतिभा और शारीरिक क्षमता धीरे-धीरे नगरों की ओर प्रवाहित होती जा रही है। इससे जहां एक ओर गांव हर दृष्टि से दरिद्रतर होते जा रहे हैं, वहां नगरों में संकुलता और बेरोजगारी की समस्या बढ़ रही है। गत १५-२० वर्षों में इस समस्या का विकराल रूप सामने आया है। ग्रामोन्मुखी शिक्षा योजना का उद्देश्य इस समस्या का समाधान निकालना है।

ग्रामों का रूप क्या होगा ?

ग्रामों से संबंधित किसी योजना पर विचार करने से पूर्व दो बातों पर पहले ध्यान दिया जाना आवश्यक है। प्रथम यह कि अगले वर्षों में हम गांवों को कौन-सा स्वरूप देना चाहते हैं। उन्हें स्वावलंबी और स्वतंत्र इकाई के रूप में विकसित करना चाहते हैं या उन्हें छोटे-छोटे नगरों के रूप में किसी बड़े नगर या कस्बे की पूंछ के रूप में विकसित करना चाहते हैं ? गांवों का सारा अर्थतंत्र और व्यवस्थात्मक ढांचा या राजनीति-तंत्र इस पर निर्भर करेगा। यदि हमें गांवों को आत्मनिर्भर इकाई के रूप में उन्नत करना है, जैसी कि गांधीजी की कल्पना थी, तो हमें ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का ढांचा और सम्बद्ध व्यवसायों का प्रशिक्षण नगरों तथा शासन पर कम से कम निर्भर रहे, शिक्षा संस्थायें स्वावलम्बी हों या केवल ग्राम या कुछ सीमित ग्रामों के एकक पर ही निर्भर रहें और उनमें ऐसे व्यवसायों की शिक्षा दी जाये जिनके उत्पादन की खपत उस सीमित क्षेत्र में हो सके। साथ ही ऐसे प्रत्येक क्षेत्र का राजनीतिक तंत्र भी स्वतंत्र और आत्मावलम्बी हो। किन्तु यदि हम गांवों को शहरों के नमूने पर आगे बढ़ाना चाहते हैं तो हमें अधिक सर खपाने की आवश्यकता नहीं होगी। शहरों की योजना का ही संक्षिप्त (मिनी) रूप गांवों के लिए पर्याप्त होगा। अन्तर केवल इतना होगा कि जहां नगरों की जीविका का प्रमुख साधन कल-कारखाने हैं, वहां ग्रामों की जीविका का स्रोत कृषि रहेगी किन्तु धीरे-धीरे उसकी भी आनुपातिक महत्ता कम होती जायेगी। इन बातों पर गंभीर विचार इस लिए आवश्यक है कि शिक्षा को यदि राष्ट्रीय जीवन के साथ जुड़ना है (और जुड़ना आवश्यक तो है ही) तो उसे राष्ट्र की भावी विकास योजनाओं और अर्थतंत्र एवं राजनीतिक पद्धति के अनुरूप स्वयं को ढालना होगा। हमारी शिक्षा पद्धति का एक बड़ा दोष, अतीत में उसका देश की विकास योजनाओं और कल्पनादर्शों के समन्वित अंग के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठापित न कर पाना रहा है। राष्ट्रीय निर्माण के हमारे स्वप्नों के साथ उसकी संगति नहीं जम पायी है।

और दूसरा महत्वपूर्ण विचार-बिन्दु यह है कि गांवों के लिए बनने वाली किसी भी योजना में गांवों की सीधी भागेदारी हो। सीधी भागेदारी से मेरा आशय यह है कि उसके निर्माण में उन लोगों का सीधा हाथ हो, जो गांवों में रहते हैं और जिन्हें गांवों में रहना है। साथ ही वह योजना गांवों के बीच, गांव में बैठकर बनाई जाय। गांवों के नाम पर बनाई गई हमारी सारी योजनाओं के पूर्णतः या

बहुलांशतः विफल होने का एक प्रमुख कारण है: उनका शहरी लोगों द्वारा शहरों के वातानुकूलित कमरों में बैठकर तैयार किया जाना। ग्रामोन्मुखी शिक्षा योजना गांधीजी ने गांव में बैठकर बनाई थी किन्तु उसका कार्यान्वयन सचिवालयों के कर्मचारियों पर छोड़ दिये जाने से वह भी निष्प्राण हो गई।

ग्राम्य जीवन की समस्याएँ व आवश्यकताएँ

ग्रामों का प्रमुख व्यवसाय कृषि है और यह आगे भी रहने वाला है। यह अलग बात है कि कृषि अब धीरे-धीरे यंत्रों पर अधिक निर्भर होती जायेगी। फिर भी भारतीय ग्रामों की तात्कालिक और काफी दिनों टिकने वाली आवश्यकता है—भूमि को क्षरण से रोकना, भूमि को समतल बनाना, भूमि को बंजर खण्डों से कृषि योग्य बनाना, उर्वरीकरण, वृक्षारोपण और चरागाह। शायद ही कोई गांव होगा जिसमें इनमें से कोई न कोई समस्या न हो। इसके लिए भूमि रसायन, अभियंत्रिका और वानिकी—तीनों की जानकारी रखने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। भूमि से ही सम्बद्ध है—सिंचाई का प्रश्न, जिसका हल केन्द्रीय कार्यालय से संभव नहीं है। कुओं, तालाबों, नालों, नदियों का पानी मशीन और उद्वहन के अन्य साधनों द्वारा उपयोग में आता है और पक्की नालियों की अपेक्षा करता है। प्रत्येक गांव में सिंचाई यांत्रिकी में निपुण साक्षरों की आवश्यकता है। पशु खेती से सीधे सम्बन्धित हैं। स्वस्थ, पुष्ट बैल, भैंसे, ऊंट हल जोतने के लिए, तथा गायें, भैंसें, बकरी और भेड़ें दूध के लिए चाहियें। इनके पालन और रक्षण के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी। जोतने, बोने, निराने, काटने, गाहने, सैलाने, घास छीलने, चारा काटने आदि कृषि सम्बन्धी यंत्रों के निर्माण एवं सुधार की सतत आवश्यकता गांव को रहती है। कुओं के पम्प, ट्रैक्टर तथा अन्य मशीनें बराबर खराब होती रहती हैं। इनके निर्माण और सुधार तथा अभिरक्षण के लिए हर गांव को अभियांत्रियों की आवश्यकता होगी और तदर्थ छोटे-छोटे कारखाने लगाने होंगे। बीजों (जो बीसियों जाति के होंगे) का उत्पादन, सुरक्षा, अन्न का सामूहिक भंडारण, विपणन, आदि आदि विषयों की जानकारी की अपेक्षा होगी। यातायात और परिवहन की समस्या बड़ी जटिल है। बैलगाड़ियों का निर्माण, मरम्मत और उनमें गुणात्मक सुधार देश की महती आवश्यकता है। बैलगाड़ियां परिवहन और माल ढोने के लिए अलग होती हैं। इनके लिए आवश्यक कारखाना प्रत्येक गांव की मांग है। इसी प्रकार गांवों को दूसरे गांव और शहर से जोड़े बिना माल के ले जाने और लाने में बड़ी बाधा है। गांव के भीतर तथा चारों ओर जाने वाली बाहरी सड़कों की, भले ही वे पक्की न हों, व्यवस्था करनी होगी क्योंकि वर्तमान व्यवस्था बहुत कष्टकारी और अपर्याप्त है। यह तो हुई खेती की बात, जिसके लिए इंजीनियरिंग और कृषि की प्रायः सभी प्रमुख शाखाओं का एक या अधिक प्रशिक्षित व्यक्ति प्रत्येक गांव के लिए आवश्यक होगा और उसमें प्रत्येक के अधीन कई लोगों के लिए काम बना रहेगा।

ग्रामीण कारीगर

अब हम गांवों की दस्तकारी या कारीगरी को लें। गांवों के उपयोग में आने वाली सारी चीजों का निर्माण यदि गांवों में किया जाय तो खाली समय का उपयोग तो किसान कर ही सकेगा और सारे शिक्षित लोगों को काम भी मिल जायेगा। बागवानी, फलों और सब्जियों का उत्पादन, सामान्य फर्नीचर, चटाई, टोकरी, चप्पल, जूता, मामूली बर्तन, चाकू, छुरी, हलों के फल, मिट्टी के बर्तन आदि अनेकों ऐसी वस्तुयें हैं जिनके क्रय में गांव का पैसा शहर में आ जाता है। इन सारे उद्योगों को, जिनमें हथकरघा भी शामिल है और राज-मिस्त्री, ईंट-गारे का काम भी, यदि गांवों में योजनाबद्ध ढंग से ग्रामीण जनशक्ति द्वारा सम्पन्न कराया जाय तो गांवों का कायापलट हो सकता है। इसके लिए दक्ष जनशक्ति की आवश्यकता है।

ऊपर जो चर्चा की गई है वह केवल यह बतलाने के लिए कि केन्द्रीय सरकार का योजना विभाग और राज्य के लोक निर्माण, उद्योग, व्यापार, कृषि, स्वास्थ्य और शिक्षा विभाग में परस्पर तालमेल हो और वे एक इकाई के रूप में काम करें तभी कोई शिक्षा योजना उपयोगी ढंग से काम कर सकती

है। प्रति एक हजार की आबादी पर एक प्राथमिक शाला, ढाई हजार पर माध्यमिक शाला और चार से पांच हजार की आबादी पर एक उच्चतर माध्यमिक शाला बनानी होगी और प्रति दस सहस्र पर एक कार्मिक प्रशिक्षण विद्यालय तथा बीस-पच्चीस हजार की जनसंख्या पर अभियांत्रिकी कृषि और उद्योग आदि के लिए बहुउद्देशीय प्रशिक्षण विद्यालय बनाने होंगे।

जीवनोपयोगी शिक्षा

उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में कृषि अनिवार्य विषय होना चाहिए, जिसके विकल्प के रूप में नगरीय छात्रों को नगर-निवेश और औद्योगिक अभियोजन जैसी नगरोपयोगी बातों की जानकारी दी जानी चाहिए। कृषि की प्रायौगिक शिक्षा में फलों और शाक-सब्जियों की शिक्षा भी शामिल है। इन विद्यालयों के पास कृषि फार्म होना जरूरी नहीं है क्योंकि उसके लिए सारा गांव खुला होगा। सैद्धांतिक जानकारी ही इस सोपान पर आवश्यक है, जिससे छात्र चाहे तो अपने खेतों में उसका उपयोग कर सकें। इससे इस विषय के लिए पूंजीनिवेश की आवश्यकता पड़ेगी। पूर्व माध्यमिक स्तर पर जो उद्योग सिखाया गया हो उसके उन्नत रूप को कृषि के विकल्प के रूप में पढ़ाया जा सकता है। निश्चय ही एक विद्यालय एक उद्योग का चयन करेगा।

कार्मिक शालाओं में कुटीर उद्योगों यथा लुहार, बढ़ई, चमार, कुम्हार, मामूली वाहनों, बिजली की चीजों के सुधार जैसी बातों का प्रशिक्षण ग्रामीण साधनों के द्वारा दिया जाना चाहिए और बहुउद्देशीय संस्थाओं में ग्रामोपयुक्त भवन, सिंचाई की नालियों, छोटी पुलिया, कुएं, कच्ची अधपक्की सड़कें, बैलगाड़ी, साइकिल बनाना, ट्रैक्टर सुधार तथा किसानी औजारों को बनाना, सुधारना, सिंचाई की मशीनों का ठीक करना, बढ़ईगिरी और लुहारी के उन्नत काम, सूत के तकुए चलाना, बुनाई, बिजली के काम, उससे चलने वाली सामान्य मशीनों का ठीक करना, पुर्जे बदलना, जैसी बातों की शिक्षा दी जानी चाहिए।

इन उद्योगों के साथ सामान्य बैंकिंग, भंडारण, विपणन जैसी बातों की शिक्षा वाणिज्य विद्यालयों में दी जानी आवश्यक है। वहां ग्रामीण अर्थशास्त्र से सम्बन्धित बातों का पाठ्यक्रम औद्योगिक अर्थशास्त्र के विकल्प के रूप में होना चाहिए। चिकित्सा महाविद्यालयों में ग्राम चिकित्सक का एक मिलाजुला डिप्लोमा कोर्स, जिसमें भारतीय चिकित्सा पद्धति की उपयोगी बातों का भी समावेश रहे, पढ़ाया जाना चाहिए। वाणिज्य (कामर्स), इंजीनियरिंग और मानव-चिकित्सा एवं पशुपालन और पशु-चिकित्सा के ग्रामीण आवश्यकताओं पर आधारित डिप्लोमा कोर्स स्वतंत्र रूप से इन्हीं महाविद्यालयों में पढ़ाये जाने चाहिए, जिससे व्यय को बचाया जा सके। पर यह आवश्यक है कि ऐसे डिप्लोमा कोर्सों के पठन की व्यवस्था के लिए प्रत्येक जिले में स्वतंत्र संस्थान हों, विशेषतः उन जिलों में जहां इनके लिए स्वतंत्र महाविद्यालय नहीं हैं।

आवश्यक दिशाएं

भारतीय संस्कृति से घनिष्ठ परिचय हमारी शिक्षा का महत्वपूर्ण अंश होना चाहिए क्योंकि भारत की संस्कृति कृषि पर निर्भर ग्रामों की संस्कृति है। इसके उज्ज्वल एवं दुर्बल दोनों पक्षों पर ध्यान दिया जाना चाहिए जिसके प्रकाश में संस्कृति के अध्ययन का लक्ष्य आदिकाल से यथाविधि जीवन-पद्धति के प्रकाश में भविष्य के लिए मार्ग निर्धारित करना है। आज भारतीय ग्राम अंधविश्वासों और औचित्यहीन पारम्परिक संबंधों से बंधे हुए हैं। शिक्षा का लक्ष्य उन्हें इस स्थिति से निकाल कर मनुष्य मात्र के सम्मान, नारी प्रतिष्ठा और सर्व-धर्म-समादर की भावभूमि पर खड़ा करना है। आर्थिक विषमताओं को पाटकर समतल सामाजिक पीठिका का निर्माण, लोकतंत्र के लिए अपेक्षित जागरूकता, सहिष्णुता और कर्तव्यबोध उत्पन्न करना—ये सब बातें ग्रामोन्मुखी शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। भारत में लोकतंत्र की सफलता ग्रामों पर निर्भर है। जातिवाद, अस्पृश्यता, पर्दा, दहेज जैसे रोगों से छुटकारा और राष्ट्र के प्रति निष्ठा इस सबकी प्रेरणा देना मानविकी से सम्बद्ध

विषयों के अध्यापन का लक्ष्य होना चाहिए। कला के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उसका मुख समाज की ओर हो और वह ग्रामश्री एवं ग्राम्य समाज से झिझकती हुई न रहे एवं ग्रामीण संस्कृति की उक्त वस्तुओं को संरक्षित करने में सहायक हो। यही बात विज्ञान के विषय में है। विज्ञान का पाठ्यक्रम, जिसमें गणित भी सम्मिलित है, मिला जुला, परस्पर सम्बद्ध और ग्रामीण आवश्यकताओं पर आधारित होगा। अर्थशास्त्र के समान ग्रामों के लिए विज्ञान का भी पृथक् पाठ्यक्रम होगा, जिसमें आवश्यकता के अनुरूप जीव विज्ञान, रसायन और भौतिकी पर परस्पर सम्बद्ध, प्रयोजित (अप्लाइड) पाठ्यक्रम होगा। गणित और सांख्यिकी भी उपयोग की दृष्टि में रखकर पढ़ाये जायेंगे।

उच्च शिक्षा

स्वाभाविक है कि गांव के बालक उच्च शासकीय पदों पर काम करने के लिए अथवा विशेष विषय में और ऊंची योग्यता प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयों में जाना चाहेंगे। ऐसे छात्रों के लिए चाहे वे ग्रामीण हों या शहरी—एक प्रवेश परीक्षा की व्यवस्था करनी होगी, जिसके प्रश्न-पत्र दोनों के लिए समान रूप से अनुकूल होंगे। भारत जैसे गरीब देश में शिक्षा विलासिता की वस्तु नहीं बनायी जा सकती और न अठारह से पच्चीस वर्ष तक के यौवनकाल को निरुद्देश्य घूमने एवं तोड़फोड़ के लिए सड़कों पर छोड़ा जा सकता है। उच्च शिक्षा के द्वार केवल विशिष्ट प्रतिभा के छात्रों के लिए खुले होने चाहिएं। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की समाप्ति पर प्रत्येक युवा को किसी न किसी काम में लगा दिया जाना चाहिए और कामों के लिए प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं पर वह धनराशि व्यय होनी चाहिए जो आज सामान्य स्नातक और स्नातकोत्तर परीक्षाओं पर व्यय की जा रही है। केवल परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों की कोई उपयोगिता नहीं है। परीक्षाओं को नौकरियों से जितनी जल्दी असम्बद्ध कर लिया जाय, अच्छा है।

उपर्युक्त शिक्षा योजना के लिए प्रथम आवश्यकता है—ग्रामीणों के मन में इस योजना के प्रति ललक उत्पन्न होना और इसका ऐसे व्यक्तियों के द्वारा कार्यान्वित किया जाना जिनकी श्रद्धा इस राष्ट्र पर, विशेषतः ग्रामों पर हो। अच्छी से अच्छी योजनायें, जो देश का कायापलट कर सकती थीं, फाइलपरस्त बाबूनुमा अफसरों और दोहरे मुखौटे के राजनीतिज्ञों एवं उनके चट्टे-बट्टों के हाथ में पड़कर नष्ट हो गई हैं। भले ही हम इस योजना को एक छोटे भूभाग में प्रारंभ करें किन्तु कार्यान्वयन सम्बन्धित शासकीय विभागों के समन्वय एवं निष्ठावान कार्यकर्ताओं द्वारा ही होना चाहिए। □

काफी अनुभव के बिना ग्रामसेवकों को पुराने औजारों, पुराने तरीकों और पुराने नमूनों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। पुरानी मौजूदा भूमिका को कायम रखकर अगर वे सुधार की बात सोचेंगे तो सलामत रहेंगे। वे देखेंगे कि यही सच्चा अर्थशास्त्र है।

—गांधी जी

हरिजन, २६-३-३५

देहात का शहरीकरण या शहर का देहातीकरण ?

□ डा० राजेन्द्र प्रसाद*

ग्राम-विकास के बारे में चर्चा करना तो आजकल जैसे एक फैशन हो गया है। ग्राम-विकास के नाम पर हजारों की संख्या में सरकारी विभाग और गैर-सरकारी संस्थाएं काम में जुटी हैं। लेकिन सवाल तो यह है कि ये सब लोग करना क्या चाहते हैं? उन छः अंधों की तरह जो हाथी के शरीर को हाथों से टटोलकर हाथी का बखान करना चाहते हैं, हर आदमी ने ग्राम-विकास का अर्थ अपने हिसाब से और अपनी सुविधा से लगा लिया है। परन्तु इनके कार्यक्रमों और गतिविधियों की तह में जाने पर इन सब प्रयासों में एक ही समानता दीख पड़ती है और वह है देहाती क्षेत्रों व उनकी समस्याओं के प्रति सर्वव्यापक औपनिवेशिक दृष्टिकोण। ऐसे सब प्रयासों के पीछे मूल मान्यता यह रहती है कि शहरी क्षेत्र को विकसित होने के कारण देहात का भार अपने कंधों पर ढोना पड़ेगा क्योंकि वह पिछड़ा हुआ है। लेकिन क्यों? ग्रामीणों की मदद के पीछे उनके मन में दानभावना प्रबल है या अपने स्वार्थ-साधन की आकांक्षा? कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि ग्राम-विकास के नाम पर एक बड़ा भारी षड्यन्त्र चल रहा है। देहाती समाज व उसके साधनों का शोषण सुनियोजित ढंग से किया जा रहा है ताकि शहरों में शीर्ष स्थानों पर आसीन सुविधाभोगी श्रेष्ठि वर्ग के स्वार्थों की पूर्ति की जा सके। वास्तव में इस समय समूची विकास पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह शहरों में रहने वालों और धनिकों के लिये बनी नजर आती है। गांव के आदमी, खास तौर से निर्धन वर्ग की भलाई केवल तभी की जा सकती है जब इस सारी व्यवस्था में ही परिवर्तन लाया जाए। लेकिन इस व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन से तात्पर्य क्या है? इसका अर्थ क्या देहात का शहरीकरण है या फिर शहरों का देहातीकरण?

गांवों का शहरीकरण न तो संभव है न ही वांछित। संभव इसलिए नहीं है कि शहर आम तौर पर जिन आधुनिक संसाधनों पर टिके हैं वे बहुत ही सीमित हैं। आज जब केवल २० प्रतिशत लोग ही शहरों में रहते हैं, तब भी उपभोग-दर इतनी ऊंची पहुंच गई है कि कुछ साधन तो दस-बीस साल के बाद बाकी ही नहीं बचेंगे। अगर शहरीकरण को और अधिक फैलने की इजाजत दे दी गई तो बर्बादी के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगेगा। आज कम से कम ऐसी जगह तो मौजूद है जहां आदमी चैन की सांस ले सके व प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द ले सके। यदि इसका भी शहरीकरण हो गया तो औद्योगिक व अन्य दूषणों से ग्रस्त हो जाने पर ताजी हवा के झोंके को भी तरसना पड़ेगा। शहर भीड़ से भरे हैं, वहां हर काम तेजी से हो रहा है, पर किसी को यह नहीं पता कि उसके बराबर वाले घर में कोई जिन्दा है या मर गया। लाखों लोगों के बीच आदमी अपने आपको अकेला पाता है। न कोई उसकी खुशी बांटने के लिए है न दुःख। गांव में कम से कम इतना तो है कि इकट्ठे रहने और एक समाज के रूप में जीवन जीने को मिलता है, जहां अपनेपन की तरंगे लहराती हैं।

मैं नहीं समझता कि शहरों का देहातीकरण भी किसी प्रकार से किया जा सकता है। एक सीमा तक तो शहरों का होना भी जरूरी है। यह ऐसे केन्द्रों के रूप में काम करते हैं जहां क्रय-विक्रय और वस्तुओं का वितरण आदि विशिष्ट काम होते हैं। इसके अलावा केन्द्रीय प्रशासन, रक्षा संस्थानों

* प्रवक्ता, आइ॰आइ.टी. दिल्ली.

और भारी उद्योगों आदि के चारों ओर भी शहरों का निर्माण हो सकता है। किन्तु इनका आकार भी इस हद से ज्यादा नहीं बढ़ने दिया जाना चाहिए जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो। आज शहरों का जो विकास हो रहा है वह पूर्णतः अवांछित, अनियोजित और अस्वाभाविक है। उनका आकार इतना बढ़ गया है कि वे खुद अपने लिए ही एक चुनौती बन कर खड़े हो गये हैं। पिछड़ी बस्तियों और अपराधों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। बेरोजगारी सिर उठाए खड़ी है। सिर छिपाने की भी कहीं जगह नहीं मिलती। कीमतें शैतान की आंत की तरह बढ़ रही है और मुद्रा-स्फीति काबू में नहीं आ रही। भ्रष्टाचार दैत्याकार होता जा रहा है। यातायात इतना तेज और भारी हो गया है कि आये दिन दुर्घटनाएं होती रहती हैं। प्रदूषण बढ़ रहा है। कोई चीज बिना मिलावट के नहीं मिलती। न कोई सुरक्षा है न मदद, कहीं कोई सहानुभूति के दो शब्द बोलने वाला भी नहीं। इन्सान की एक मशीन से भी ज्यादा बुरी हालत हो गई है। वह भागना चाहता है पर टांगें जवाब दे जाती हैं। घेराव, हड़ताल, खून-खराबा, लूट-मार सब कितना आम हो गया है। क्या यही जिन्दगी है? आखिर यह सब किसके लिए? क्या बड़ी कारों, सिनेमाघरों, होटलों, नाइट क्लबों से जड़ी सुविधाभोगी जिन्दगी सिर्फ इसलिए है कि इन्सान को ऐसे नरक में पहुंचा दिया जाए जहां तनाव और यातनाओं के सिवा कुछ न हो?

स्पष्ट है कि सही मायनों में यदि गांवों का विकास करना है तो हमें जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को ही बदलना होगा। ग्राम-विकास सिर्फ क्षेत्रीय असमानताओं को मिटाने या वर्ग-भेद दूर कर देने का मसला नहीं है। अपितु मूल प्रश्न तो यह है कि क्या हम देहाती गरीबी के विशाल समुद्र के बीच सुविधाभोगी धनी शहरों के छोटे-छोटे टापू बनाना चाहते हैं? ऐसे टापू, जो दुनिया के उपलब्ध सीमित साधनों का एक बड़ा भाग चट कर जाएंगे और गिने-चुने लोगों के लिए जन-सामान्य का शोषण जारी रखेंगे। या फिर हम एक ऐसे ग्रामीण समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो ऐसे साधनों पर आधारित हो, जो कभी समाप्त न होने वाले हैं और प्रकृति से खसोटने का नहीं बल्कि मेल-जोल का संबंध रखते हैं, ऐसा समाज जहां उत्पादन में ज्यादा से ज्यादा लोगों को भागीदार बनाया जाए और उसके लाभों को सामाजिक न्याय और सामाजिक आवश्यकताओं के आधार पर समान रूप से वितरित किया जाए।

जीवन के विभिन्न पहलुओं की दार्शनिक विवेचनाओं में जाए बिना यह आसानी से समझा जा सकता है कि ढेरों रुपया-पैसा और आराम देने वाली भौतिक सुविधाएं जुटा लेने से ही सुख प्राप्त नहीं होता। इसके उदाहरण हम अपने रोजमर्रा के जीवन में देख सकते हैं। यदि पैसे से ही सुख मिल सकता तो धनवान परिवारों में ही ज्यादातर आत्महत्या और मानसिक-विकारों की दुर्घटनाएं क्यों देखने को मिलतीं? अमेरिका, जापान और जर्मनी जैसे संपन्न देशों में आत्महत्याओं, पागलपन, नशीले पदार्थों के सेवन, अपराधों, युवा-असंतोष इत्यादि के मामले तेजी से बढ़ते क्यों नजर आते?

अतः यह कहा जा सकता है कि ग्राम-विकास का प्रश्न सही अर्थों में सांस्कृतिक-मनोवृत्तियों में परिवर्तन का प्रश्न है।

ग्राम-जीवन की व्यथा

ग्राम-जीवन दोहरी व्यथा से पीड़ित है। एक ओर तो इसे पिछड़ा हुआ कहा जाता है क्योंकि यह जादिवाद, छुआछूत, बाल-विवाह जैसी अव्यावहारिक व रूढ़िवादी परंपराओं से ग्रस्त है। महिलाओं के लिए पर्दा, विधवा-विवाह पर रोक, पुरुषों का आधिपत्य, झूठे दिखावे के रीति-रिवाज आदि का प्रचलन है। वहां विकराल निरक्षरता है। उत्पादन के तरीके और तकनॉलॉजी अत्यंत पुरानी और बेकार है और इसमें सुधारकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। यातायात के साधन बहुत ही धीमे और अक्षम हैं। गांवों में भी थोड़े से लोग सम्पन्न और ज्यादातर लोग गरीब हैं, जो चुपचाप शोषण का शिकार होते रहते हैं। निर्धन, बिखरे हुए व असंगठित होने के कारण वे बड़े जमींदारों के दमन का प्रतिकार नहीं कर पाते।

ग्राम-पुनर्रचना विशेषांक

ग्राम-विकास के नाम प
तो नौकरशाही के जेब
वर्ग उसके लाभों पर हा
ग्रामीण मुख्य-धारा से
और राष्ट्रीय योजनाओं
कार्यक्रमों के लागू होने
उनमें उसका सहभाग हो

दूसरी ओर, पिछ
गांवों को धीरे-धीरे निर्ज
इस तेज होती प्रक्रिया
हैं। शहर प्रमुख गतिवि
रहे हैं और गांव केवल
करने का साधन—चाहे
भी कीमत क्यों न दे
की भारी खपत वाली
भारी विनियोग के बल
जा रहे हैं जिनमें तैया
के लिए गांवों के कच्चे म
अधिकाधिक इस्तेमाल
प्रक्रिया ने गांव के दस्तक
उखाड़ दिया है क्योंकि
योगिता में एकदम पिछ
तलाश में वह तेजी से श
लेकिन उसके हाथ ल
लम्बी-लम्बी कतारें या फि
पिछड़ी बस्तियों में रहने
आधुनिक शिक्षा व्यवस्था
गांवों से काट कर अलग
लिखा नवयुवक अपने आ
अजनबी पाता है। शहर
उसे हर चौखट पर माथा
पब्लिक स्कूलों में अंग्रेजी
किए हुए शहरी तौर-तर
के सामने उसकी बिसात
मुकाबले ठहरता ही नहीं।
शिक्षा ने जो सपने उसे दि
के सामने चूर-चूर होकर
की सच्चाइयों का सामना
मर्थ पाता है। आज उसके

ग्राम-विकास के नाम पर जो कुछ होता है वह या तो नौकरशाही के जेब में चला जाता है या धनी-वर्ग उसके लाभों पर हाथ साफ कर लेता है। आम ग्रामीण मुख्य-धारा से बिल्कुल कटा हुआ रहता है और राष्ट्रीय योजनाओं के निर्माण या विकास-कार्यक्रमों के लागू होने की न उसे खबर होती है न उनमें उसका सहभाग होता है।

दूसरी ओर, पिछली कई शताब्दियों से शहर गांवों को धीरे-धीरे निगल रहे हैं। शहरीकरण की इस तेज होती प्रक्रिया से गांवों में तनाव बढ़ रहे हैं। शहर प्रमुख गतिविधियों का केन्द्र बनते जा रहे हैं और गांव केवल उनकी आवश्यकता पूर्ति करने का साधन—चाहे इसके लिए देहात को कोई भी कीमत क्यों न देनी पड़े। शहरों में ऊर्जा की भारी खपत वाली आधुनिक तकनॉलॉजी और भारी विनियोग के बल पर बड़े-बड़े उद्योग चलाए जा रहे हैं जिनमें तैयार माल का उत्पादन करने के लिए गांवों के कच्चे माल और मानव-शक्ति का अधिकाधिक इस्तेमाल किया जा रहा है। इस प्रक्रिया ने गांव के दस्तकार को बिल्कुल जड़ से ही उखाड़ दिया है क्योंकि वह बड़े उद्योगों की प्रतियोगिता में एकदम पिछड़ गया है। रोजगार की तलाश में वह तेजी से शहरों की ओर भाग रहा है लेकिन उसके हाथ लगती हैं बेरोजगारों की लम्बी-लम्बी कतारें या फिर अर्द्ध-रोजगार जो उसे पिछड़ी बस्तियों में रहने को मजबूर कर देता है। आधुनिक शिक्षा व्यवस्था भी गांव के नवयुवकों को गांवों से काट कर अलग कर रही है। एक पढ़ा-लिखा नवयुवक अपने आप को अपने गांव में ही अजनबी पाता है। शहरों में नौकरी की तलाश में उसे हर चौखट पर माथा रगड़ना पड़ता है परन्तु पब्लिक स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त किए हुए शहरी तौर-तरीकों से सुसज्जित युवकों के सामने उसकी बिसात ही क्या है! वह उनके मुकाबले ठहरता ही नहीं। और फलस्वरूप आधुनिक शिक्षा ने जो सपने उसे दिखाये थे वे उसकी आंखों के सामने चूर-चूर होकर बिखर जाते हैं। जिंदगी की सच्चाइयों का सामना करने में वह खुद को असमर्थ पाता है। आज उसके लिए न गांव में जगह है न शहर में। इस स्थिति की व्यथा उसे घसीटकर कहीं भी ले जा सकती है—यहां तक कि अपराध करने को भी विवश कर सकती है। यद्यपि कृषि हमारे देहाती जीवन का प्रमुख व्यवसाय है और ग्रामीण-अर्थव्यवस्था की रीढ़ है परन्तु यहां भी जिस तकनीक का विकास किया जा रहा है उसमें मशीनें व्यक्तियों का स्थान ले रही हैं। बेरोजगारी और बढ़ रही है। गरीब और गरीब तथा अमीर और अधिक अमीर होता जा रहा है। कारण साफ है। इन मशीनों को खरीदना केवल धनी किसानों के बस की बात है और इससे उन्हीं की क्षमता में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप धन छोटे किसानों के हाथ से निकल कर और तेजी से बड़े जमींदारों तक पहुंचता है। उपज बढ़ाने के नए अच्छे बीज और आधुनिक-खाद ऐसी चीजें हैं जिसे केवल धनी किसान ही अपना सकते हैं, क्योंकि इनके लिए जिस प्रकार की सिंचाई सुविधाएं जरूरी होंगी वह निर्धन किसानों के पास आमतौर पर नहीं होती। इस प्रकार ट्रैक्टर, ट्यूबवैल, बीज, खाद, इत्यादि वस्तुओं के लिए सरकार की ओर से जो सुविधाएं दी जाती हैं वे सब बड़े जमींदारों तक ही सीमित रह जाती हैं।

गांव के औद्योगिक-क्षेत्र पर इसका सबसे ज्यादा बुरा प्रभाव पड़ा है। इसे पुनर्स्थापित करने के सभी प्रयास एकदम बेकार हो गए हैं क्योंकि ये विकास की मुख्यधारा से जुड़ नहीं पाए। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन, दस्तकारी बोर्ड, हथकरघा बोर्ड आदि संस्थाएं इस दिशाओं में बरसों से काम कर रही हैं, लेकिन उनके उत्पादनों को अगर बाजार में कोई जगह मिल पाई है तो उसकी वजह सरकार से छूट के रूप में प्राप्त भारी सहायता है। कई स्थानों पर तो ऐसी वस्तुओं को खरीदना सरकारी विभागों के लिए अनिवार्य कर दिया गया है। इसके बावजूद एक-दो स्थानों को छोड़कर ग्रामीण जीवन पर इन उद्योगों का असर कहीं ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता।

ग्रामीण तकनॉलॉजी किसके लिये ?

आजकल "उपयुक्त तकनॉलॉजी और ग्रामीण

तकनॉलॉजी" की भी बहुत चर्चा की जा रही है। इन शब्दों ने ग्राम-विकास के लिये कोई रास्ता खोजने में मदद नहीं की है बल्कि और अधिक भटकाव पैदा कर दिया है। अपनी सुविधा के अनुसार जिसके मन में जो आया उसी को "उपयुक्त तकनॉलॉजी" में शामिल कर लिया जाता है। और असल में हो क्या रहा है? गोबर-गैस को ही उदाहरण के रूप में लें जिसे आमतौर पर उपयुक्त तकनॉलॉजी के अनुरूप माना गया है। सरकार भी इसे प्रोत्साहन देना चाहती है। परंतु वास्तव में इसका प्रयोग कितना हो रहा है? क्या यह सही अर्थों में कामयाब होगी? क्या गरीबों को इससे कोई लाभ होगा? इस क्षेत्र में काम करने वाले लोगों का कहना है कि अनुभव यह आया है कि साधारणतया इसे स्वीकार नहीं किया जा रहा है। पहली बात तो यह कि एक गरीब आदमी इस चीज के लिए पांच-छः हजार रुपये खर्च नहीं कर सकता, अगर कर भी दे तो ईंधन के रूप में गैस के अलावा उसे क्या मिलेगा। और ईंधन का काम तो वह सीधे उपले जलाकर भी चला सकता है। गैस की पूर्ति भी हमेशा एक जैसी नहीं रहती। सर्दियों में यह बहुत कम हो जाती है, उसके लिये कई प्रकार के काम करने पड़ते हैं। गोबर इकट्ठा करना, टैंक में भरना, उसे सुखाना व मैदानों तक पहुंचाना इत्यादि। इस झंझट में पड़ने की जरूरत ही क्या है? कोई भी आदमी, जिसके पास थोड़ा बहुत पैसा है, पांच-छः गाय-बैल हैं और वह लकड़ी जलाकर चलने वाले चूल्हे को बदलकर अपनी रसोई में गैस का चूल्हा जलाना चाहता है, वही इस चक्कर में पड़ेगा। यह सब सिर्फ एक धनी जमींदार के बस की बात है और असल में यही हो भी रहा है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि इस तकनॉलॉजी में ही कुछ कमी है। इतना तो जरूर है कि हमेशा ही सुधार और शोध की गुंजाइश तो रहती ही है। परंतु आज तकनॉलॉजी जिस अवस्था में है वह ग्रामीण, क्षेत्रों में गरीब लोगों के लिये काफी हद तक मददगार सिद्ध हो सकती है। यह तभी संभव है जबकि विकास की प्रक्रिया तकनॉलॉजी से अलग कटी हुई न हो तथा स्थिति की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए एक सही दृष्टिकोण सामने रख कर आगे बढ़ा जाए। यह साफ तौर पर समझना होगा कि यह समस्या तकनॉलॉजी की है, सामाजिक है या आर्थिक? प्राथमिकताएं सही तौर पर तय करनी होंगी। हमारे पास बड़ी संख्या में युवा-शक्ति मौजूद है, वैज्ञानिक मानव-शक्ति है, प्रशासन का आधारभूत ढांचा है और देश का एक औद्योगिक आधार भी है। इन सब स्रोतों को एक समयबद्ध कार्यक्रम के अंतर्गत सुनिश्चित व ठोस रास्ते से ग्रामीण क्षेत्रों तक ले जाना होगा।

एक ही रास्ता

इन सब चीजों की अच्छी तरह योजना बनानी होगी। इसकी शुरूआत शिक्षण-संस्थाओं से हो तो अच्छा रहेगा। प्रत्येक संस्था को कम से कम एक जिले के सर्वांगीण विकास की जिम्मेदारी लेनी पड़ेगी। विद्यार्थियों को बिल्कुल नीचे के स्तर से काम करना होगा, तभी वे लोगों की वास्तविक समस्याओं को समझ पायेंगे।

यहां तकनॉलॉजी, चिकित्सा, कृषि आदि से संबंधित कॉलेज व विश्वविद्यालय जो कि व्यावसायिक संस्थाएं हैं, एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती हैं। प्रत्येक जिले की जिम्मेदारी लेने के अलावा उन्हें अपनी शक्ति दूसरी संस्थाओं तक पहुंचानी पड़ेगी, ताकि उनके विषयों में महारत हासिल की जा सके। समय के साथ-साथ एक अंतः—संस्थागत कार्य-प्रणाली भी तैयार करनी पड़ेगी। इससे संस्थाओं के मूल-स्वरूप में बड़ा भारी परिवर्तन आएगा। आज तो उन्हें इस बात की जानकारी ही नहीं है कि लोगों की समस्याओं के प्रति क्या रुख अपनाया जाए। जब वे लोगों के निकट जाकर उनकी समस्याओं को समझेंगे, तभी उन्हें पता चलेगा कि समस्या का स्वरूप क्या है और इसका व्यावहारिक समाधान क्या होगा। तभी उन्हें पता चलेगा कि सारे क्षेत्रों में, चाहे वह तकनॉलॉजी हो या चिकित्सा, कृषि हो या अन्य क्षेत्र कितनी अव्यवस्था फैली हुई है। इन व्यवसायों का इतिहास भी काफी पुराना है और हमें काफी सबक दे सकता है। उन्हें त्यागने, स्वीकारने या सुधारने से पहले उनका भरपूर ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। इसके बिना शोध,

मंथन

कर आगे बढ़ा जाए। यह साफ
कि यह समस्या तकनॉलॉजी
आधिक ? प्राथमिकताएं सही
गी। हमारे पास बड़ी संख्या में
वैज्ञानिक मानव-शक्ति है,
ढांचा है और देश का एक
है। इन सब स्रोतों को एक
तर्गत सुनिश्चित व ठोस रास्ते
जाना होगा।

अच्छी तरह योजना बनानी
शिक्षण-संस्थाओं से हो तो
संस्था को कम से कम एक
कास की जिम्मेदारी लेनी
को बिल्कुल नीचे के स्तर से
भी वे लोगों की वास्तविक
येंगे।

चिकित्सा, कृषि आदि से
विद्यालय जो कि व्यावसायिक
र्ण भूमिका अदा कर सकती
जिम्मेदारी लेने के अलावा
री संस्थाओं तक पहुंचानी
पयों में महारत हासिल की
साथ एक अंतः—संस्थागत
र करनी पड़ेगी। इससे
में बड़ा भारी परिवर्तन
इस बात की जानकारी ही
समस्याओं के प्रति क्या रुख
लोगों के निकट जाकर
झेंगे, तभी उन्हें पता चलेगा
है और इसका व्यावहारिक
तभी उन्हें पता चलेगा कि
कनॉलॉजी हो या चिकित्सा,
कितनी अव्यवस्था फैली
का इतिहास भी काफी
सबक दे सकता है। उन्हें
सुधारने से पहले उनका
जरूरी है। इसके बिना शोध,

अन्वेषण आदि के नाम पर किये जाने वाले कामों के कुछ मायने नहीं होंगे। यह थोपी हुई चीज बन जायेगी और स्थानीय व्यवस्था में जम नहीं पाएगी। आज उपयुक्त तकनॉलॉजी के बारे में विभिन्न शालियों को लेकर, कृषि में नई खोजों के विषय आदि पर जो गर्मागर्म बहस चल रही है वह अपने आप ही एक सर्वसम्मति की ओर मुड़ जाएगी। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि इस विवाद का जिदगी की सच्चाइयों से सामना हो और इसे खुद को उन समस्याओं के हल में लगाना पड़े। इससे समाज में नई प्रतिभाओं को खोज निकालने के अवसर भी बढ़ेंगे। जैसे-जैसे समय बीतता जाएगा, यही संस्थाएं उन नई प्रतिभाओं को संबंधित कार्य क्षेत्रों में बिना आज की औपचारिकताएं पूरा किये खपा लेंगी। लोगों को भी इन संस्थाओं के बारे में बेहतर जानकारी मिलेगी और जिनमें एक विशिष्ट क्षेत्र की प्रतिभा है उन्हें वहां जाने का अवसर मिलेगा। तभी वास्तव में ये संस्थायें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जनाकांक्षाओं की पूर्ति करने वाली एवं जीवन की वास्तविक समस्याओं के बारे में सही जानकारी प्रदान करने वाली सच्ची जन-संस्थायें बन सकेंगी। यह उपलब्धि किसी भी सम्पूर्ण क्रान्ति से कम नहीं होगी। □

AMRIT BANASPATI COMPANY LIMITED

GHAZIABAD (U.P.)

MANUFACTURERS OF

Quality Vanaspati

"GAGAN" in 4 kg. 2 kg. & 1 kg. packs,

"AMRIT" in 16.5 kg. tins

"GINNI" Groundnut Refined Oil,

"KARBOL" Health Soap

"ALFA" Washing Soap

and

"AMRIT" Washing Soap.

मदनी के लिये :

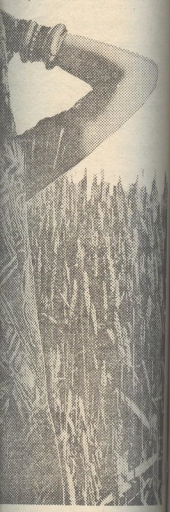

है, क्योंकि
की मात्रा है।
यह फसल
र खेती में
है। ● यह

यूरिया।

ग्राम-पुनर्रचना

किन हाथों में ?

* सरकार
* बैंक
* स्वयंसेवी संस्थाएं
* बुद्धिजीवी

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद का आह्वान

भारत विशेषकर गांवों में ही बसता है और यद्यपि इन दिनों शहरी जनसंख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही है, पर यह आज भी सच है कि भारत बहुत करके गांवों में ही बसता है। गांवों और गांव वालों की उन्नति के लिए जो कुछ भी किया जाये उसका केवल स्वागत ही नहीं होना चाहिए बल्कि उसको प्रोत्साहन देने के लिए सरकार और लोगों को प्रत्येक संभव प्रयत्न करना चाहिए। महात्मा गांधी इसीलिए गांवों के विकास पर बहुत जोर दिया करते थे।

इस काम में सफलता तभी मिल सकती है जब सरकारी व्यवस्था, गैरसरकारी नेतृत्व और जनता के उत्साह में परस्पर सहयोग हो और खेती शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, पशु सुधार तथा बेकारी दूर करना इत्यादि सभी प्रकार के काम एक साथ हाथ में लिए जायें।

इसको एक महान सेवा का काम मानकर उत्साह के साथ हाथ में लेना चाहिए। महात्मा गांधी सार्वजनिक कल्याण के सभी कामों को यज्ञ समझते थे। उसी यज्ञ की भावना के साथ हमें इस काम को भी हाथ में लेना और पूरा करना है। आशा है कि सरकार और लोग इस महान उद्देश्य की पूर्ति में एक-दूसरे के साथ पूर्ण सहयोग से कार्य करेंगे।

हमें जो काम करना है वह कठिन अवश्य है। परन्तु यदि हम सच्चा प्रयत्न करें तो जो छोटा-सा बीज आज बो रहे हैं वह समय पाकर एक बड़ा विशाल वृक्ष हो सकता है। इसलिए सब लोगों से मेरा अनुरोध है कि वे इस प्रयत्न को सफल बनाने में जो कुछ उनसे हो सकता है अवश्य करें। इन योजनाओं से लाभान्वित होने वाले लोगों को समझना चाहिए कि वे बड़े भाग्यशाली हैं, किन्तु साथ ही उन्हें अपने उत्तरदायित्व को भी अनुभव करना चाहिए क्योंकि इन योजनाओं की सफलता पर ही उनका अपना भविष्य भी निर्भर करता है।

[सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्घाटन के अवसर पर नई दिल्ली में २ अक्टूबर, १९५२ को भारत के राष्ट्रपति का भाषण]

सरकार की ग्राम-विकास योजनाएं
प्रयास और क्रमावस्थाएं

□ डा० आर० एल० पटनी*

विकासशील देशों में भारत ही गर्व के साथ यह दावा कर सकता है कि उसने अपनी जनता के सामाजिक-आर्थिक विकास के बारे में सबसे पहले चिन्ता की। स्वाधीनता प्राप्ति के बहुत पूर्व सन् १९३८ में ही देश के तत्कालीन राजनेताओं ने भारतीय समाज के आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए आयोजना (Planning) को एक शक्तिशाली साधन के रूप में स्वीकार कर लिया था। १९४७ में भारत के स्वतन्त्र होते ही हमारी राष्ट्रीय सरकार ने अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए आयोजना को एक मूलभूत नीति के रूप में अपनाने का निश्चय कर लिया। १९५०-५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ किये जाने से लेकर अब तक पांच पंचवर्षीय योजनाओं एवं तीन वार्षिक योजनाओं को देश पूरा कर चुका है और सन् १९७९ से छठी पंचवर्षीय योजना लागू है।

भारत में ग्राम-विकास कार्यक्रम सामाजिक-आर्थिक आयोजना का सदा से अविभाज्य अंग रहा है। देश में संगठित रूप से आयोजना की शुरूआत से ही, लाखों ग्रामवासियों की उन्नति के लिए सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा सतत प्रयास होते रहे हैं। छः पंचवर्षीय योजनाओं एवं तीन वार्षिक योजनाओं का अध्ययन करने पर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि ग्रामीण भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से अनेक कार्यक्रम समय-समय पर अपनाये गये हैं। भारत की ग्रामीण जनता के लिए अब तक जो विभिन्न कार्यक्रम अपनाये गए हैं, उन्हें मोटे तौर पर दो वर्गों में रखा जा सकता है :

१. क्षेत्रीय कार्यक्रम

सामुदायिक विकास कार्यक्रम

देश में २ अक्टूबर १९५२ को सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अभियान का श्रीगणेश किया गया। इस कार्यक्रम का मूलभूत उद्देश्य ग्रामीण भारत का सर्वांगीण विकास करना था। इसी के अन्तर्गत स्थानीय साधनों का विकास एवं सामुदायिक जीवन के सांस्कृतिक एवं आर्थिक पक्ष भी आते हैं। इसे स्थानीय स्तर पर भौतिक संसाधनों तथा जन-शक्ति के अधिकतम उपयोग द्वारा पूरा करने और इस प्रकार जनता की स्वप्रेरणा और सक्रिय सहभाग द्वारा ग्रामीण समुदाय के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का विचार किया गया। प्रारम्भ में विभिन्न १६५ क्षेत्र इकाइयों में ५५ चुने हुए प्रकल्पों के रूप में सामुदायिक विकास कार्यक्रम की शुरुआत की गई। प्रत्येक इकाई को 'सामुदायिक विकास खण्ड' का नाम दिया गया, जिसके अन्तर्गत लगभग २ लाख की आबादी, करीब ३०० गांव और १३०० वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र आता है। प्रत्येक प्रकल्प का कार्यकाल तीन वर्ष निर्धारित किया गया था।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत कृषि को उच्च प्राथमिकता प्रदान करने का प्रस्ताव रखा गया, क्योंकि खाद्यान्न तथा अन्य कृषि उत्पादनों के

---

* प्रकल्प अधिकारी, दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली।

* नेशनल कमीशन आफ एग्रीकल्चर, १९७६ की रिपोर्ट, भाग १४, प्लानिंग स्टैटिस्टिक्स एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० १, भारत सरकार, कृषि एवं सिंचाई मन्त्रालय, नई दिल्ली।

अभाव से देश में एक विकट समस्या उत्पन्न हो रही थी। गैर कृषि क्षेत्र के बेरोजगार और अल्प रोजगार वाले ग्रामीणों के लिए रोजगार के अवसर पैदा करने हेतु कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास पर भी बल दिया गया। ग्रामीण जनता के सर्वांगीण विकास के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में आवासीय सुविधा उपलब्ध कराने, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता को उत्तम बनाने, शैक्षणिक तथा समाज कल्याण संबंधी अन्य कार्यकलापों को उन्नत करने और यातायात तथा संचार के साधन विकसित करने के लिए कदम उठाये गए। कृषकों, ग्रामीण कारीगरों तथा ग्रामीण समुदाय के अन्य वर्गों को प्रशिक्षण देने की व्यवस्थाएं भी आयोजित की गईं, लेकिन श्रेष्ठतर जीवन की आकांक्षा उत्पन्न करने और स्वावलम्बी कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेने के लिए ग्रामीण जनता के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य था जिसके लिए दीर्घ एवं सबल प्रयासों की आवश्यकता थी।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा

विकास की गतिविधियों को तेज करने और विभिन्न क्षेत्रीय योजनाओं को तैयार करने के लिए सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम के विस्तार को कम करने का निश्चय किया और १९५२ की 'अधिक अन्न उपजाओ समिति' की सिफारिशों के अनुसार २ अक्टूबर, १९५३ को राष्ट्रीय विस्तार सेवा के नाम से एक दूसरा कार्यक्रम प्रारंभ किया गया। इस समिति का मत था कि "ग्रामीण जीवन के सभी पहलू परस्पर संबंधित हैं" और किसी एक समस्या पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हो सकती है लेकिन "इन सब समस्याओं के लिए योजनाएं व्यापक उद्देश्यों को पूरा करने वाली योजना के हिस्सों के रूप में अथवा उसके अविभाज्य अंग के रूप में होनी चाहिये।" यह अनुभव किया गया कि यदि सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य 'व्यक्ति' पर निवेश है तो इसे पूरा करने के लिए समन्वित विस्तार सेवा को मुख्य माध्यम के रूप में काम करना चाहिए और वैज्ञानिक जानकारी तथा पद्धतियों को विस्तार-संस्थाओं के माध्यम से जनता तक पहुंचाया जाना चाहिए। इस नये प्रस्ताव का प्रथम पंचवर्षीय योजना में निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख किया गया है :[२]

"सामुदायिक विकास कार्यक्रम एक पद्धति है और ग्रामीण विस्तार एक माध्यम, जिसके द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना गांवों के सामाजिक-आर्थिक जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ करना चाहती है।"

राष्ट्रीय विस्तार सेवा के उद्घाटन के साथ ही सामुदायिक प्रकल्पों का कार्यकाल ३ वर्ष से बढ़ाकर ४ वर्ष कर दिया गया। प्रारम्भ में ३ वर्ष के लिए 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' के रूप में विकास-के नये क्षेत्र चुने गये और जिन खण्डों में लोग विकास संबंधी गतिविधियों को चलाये रखने को उत्साहित और पर्याप्त सहयोग देने के इच्छुक थे, वहां इसे 'सामुदायिक विकास खण्ड' की सीमा तक बढ़ा दिया गया। अगले तीन वर्षों के बाद खण्डों के इन प्रकल्पों ने विशाल स्वरूप ग्रहण कर लिया। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय विस्तार सेवा संगठनात्मक ढांचे ने स्थिर रूप ले लिया। तीव्र-विकास के लिए चुने गए राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों की संख्या संसाधनों की उपलब्धता, और जनता के समर्थन एवं सहयोग पर आधारित थी। फिर भी मई १९५७ में हुए "पांचवें विकास आयुक्तों के अधिवेशन" की सिफारिशों पर निर्णय लिया गया कि राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खण्डों का पूरे देश में और सघन विकास खण्डों का विस्तार आधे देश में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अर्थात् मार्च १९६१ तक पूरा किया जाय। [यहां यह उल्लेखनीय है कि १९६३-६४ तक राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों का विस्तार सभी ग्राम-वासियों तक हो चुका था।]

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के इतिहास में एक दूसरा महत्वपूर्ण कदम था 'योजना प्रकल्प

२. एवैल्यूएशन आफ कम्यूनिटी डिवलपमेंट प्रोग्राम इन इण्डिया, १९७८, पृ० ९८, कृषि मन्त्रालय (सामुदायिक विकास एवं सहकारिता विकास) भारत सरकार, नई दिल्ली।

समिति' की नियुक्ति। इस समिति द्वारा १९५७ में गठित अध्ययन-दल (बलवंतराय मेहता समिति) की सिफारिशों से सामुदायिक विकास कार्यक्रम के ढांचे में परिवर्तन आया। संशोधित ढांचे के अनुसार एक सामुदायिक विकास खण्ड का विस्तार सामान्यतः १०० गांवों तक होता है और इसके अन्तर्गत ६० हजार की आबादी तथा लगभग ४००-५०० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र आता है। उस समय तक विकास की दृष्टि से खण्ड तीन स्तरों में विभाजित था: (१) राष्ट्रीय विस्तार सेवा अवस्था (२) केन्द्रित विकास अवस्था(३)पूर्ण विकास अवस्था। इसे यथार्थ-वादी न मानते हुए समिति ने विकास अवस्थाओं के प्रचलित ढांचे को समाप्त करने की सिफारिश की और छः वर्ष की दो अवस्थाओं में काम आरंभ करने का सुझाव दिया। परन्तु अन्त में ५-५ वर्ष वाली सक्रिय-अवस्थाओं में विकास का संचालन करने का निर्णय हुआ। इसके अतिरिक्त, एक विस्तार-पूर्व-अवस्था को भी स्वीकार किया गया। दस वर्ष के अन्त में, खण्ड का प्रवेश 'उत्तरार्द्ध अवस्था दो' में हो जाना था। यह आशा की गई कि एक-वर्षीय विस्तार-पूर्व अवस्था एवं दस-वर्षीय प्रथम तथा द्वितीय अवस्थाओं के बाद 'द्वितीय विकासोत्तर अवस्था' में खण्ड में स्वावलम्बी आयोजना और विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन को अपने हाथ में लेने के लिए जन-संस्थाएं पर्याप्त जनशक्ति और संसाधन जुटाने में समर्थ हो सकेंगी।

पंचायती राज

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए एक दूसरा कदम ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक विकास के लिए लोकतान्त्रिक नेतृत्व प्रदान करने का प्रयास था। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए योजना प्रकल्प समिति के अध्ययन दल (बलवन्त राय मेहता समिति) की सिफारिशों को पुनः स्वीकार किया गया। कुछ संशोधनों के बाद एक त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था देश के विभिन्न राज्यों में २ अक्टूबर १९५९ से प्रारम्भ की गई। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय विकास प्रशासन के ढांचे को तीन स्तरों पर गठित किया गया—(१) एक गांव या गांवों के एक समूह के स्तर पर (२) एक खण्ड या खण्डों के एक समूह के स्तर पर (३) जिला स्तर पर। गांव, खण्ड और जिला स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं जैसे: ग्राम पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद के माध्यम से ग्राम-विकास संबंधी कुछ चुने हुए कार्यकलापों को पूरा करने के लिए स्थानीय ग्रामीण स्वशासित इकाइयों का जाल बिछाने का विचार सामने रखा गया।

इन संस्थाओं ने गांव से जिला स्तर तक प्रशासन को लोकतान्त्रिक बनाने, विकास कार्यक्रमों को तैयार करने तथा उनके कियान्वयन में जन-प्रतिनिधियों को सक्रिय भाग लेने के अवसर प्रदान करने का लक्ष्य सामने रखा।

कृषि सघनीकरण

देश में खाद्यान्न संकट को हल करने के लिए १९६० के आसपास कृषि के तीव्र विकास के लिए एक नयी योजना विकसित की गई और 'जिला सघन कृषि कार्यक्रम' को जो 'पैकेज प्रोग्राम' के नाम से भी जाना जाताहै, १९६१ में सात चुनेहुए जिलों में प्रयोग के तौर पर चलाया गया। आगे चलकर १९७० तक ३७ जिलों में इनका विस्तार किया गया। १९६५ में "अधिकतम उत्पादन-क्षम बीज-किस्मों के कार्यक्रम" की परिकल्पना की गई और इसे कृषि उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से जिला रणनीति के रूप में शुरू किया गया। इन कार्यक्रमों को उनकी प्रकृति के अनुसार शीघ्र फलदायी क्षेत्रों में केन्द्रित किया गया। इसका अनुगमन 'सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम' द्वारा हुआ, जिसमें 'सघन कृषि विकास कार्यक्रम' की रणनीति को भी अपनाया गया। इन कार्यक्रमों का विस्तार १९६६ तक २१७ जिलों में तथा १९७० तक १५० जिलों में हो गया। सघन कृषि के लिए 'सघन कृषि-विकास कार्यक्रम' 'अधिकतम उत्पादन-क्षम बीज-किस्मों का कार्यक्रम' और 'सघन कृषि-क्षेत्र कार्यक्रम' का आग्रह करते हुए, किसानों को कृषि की उन्नत पद्धतियों की जानकारी देने का भी प्रयास किया गया। रासायनिक खाद, अच्छे बीज और सिंचाई सुविधाओं जैसी सहायता अधिक से अधिक प्रदान की गई।

इसके अतिरिक्त, इन कार्यक्रमों के पूरक रूप में सूत, गन्ना, पटसन जैसी वस्तुओं के उत्पादन-कार्यक्रम भी विकसित किये गये।

वर्गगत एवं क्षेत्रीय असमानताएं

सघन कृषि कार्यक्रम की प्रक्रिया में अल्पसाधन-युक्त तथा मूल संरचनात्मक सुविधाओं से रहित विशाल क्षेत्र पीछे रह गए। इसी प्रकार कृषि तकनीक में बदल के कारण छोटे और औसत किसान अधिक लाभ नहीं उठा पाये। इससे उत्पन्न असमानताओं का निराकरण चौथी और पांचवीं पंचवर्षीय योजना में किया गया। इन प्रयासों में अल्पसुविधायुक्त जन-समूह और अल्प-उत्पादन वाले क्षेत्रों के निमित्त अनेक विशेष कार्यक्रम शामिल थे। इनमें से कुछ कार्यक्रमों द्वारा लघु कृषक विकास अभिकरण, सामान्य कृषक एवं मजदूर विकास अभिकरण, नियन्त्रण क्षेत्र-विकास कार्यक्रमों और समन्वित आदिवासी विकास कार्यक्रमों की स्थापना हुई।

लघु-कृषक विकास अभिकरण और सामान्य कृषक एवं कृषि-मजदूर विकास अभिकरण का प्रारंभ भारत सरकार द्वारा आर्थिक स्थितियों में सुधार, छोटे तथा सामान्य किसानों, कृषि मजदूरों और कटाई-बंटाई करने वालों के लिए स्वरोजगार के अवसर पैदा करने के लिए हुआ था। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए ये अभिकरण विशेष कार्यक्रमों के माध्यम से कमजोर वर्गों की समस्याओं का समाधान करते हैं। कृषि क्षेत्रों में ग्रामीण आबादी को सुविधा प्रदान करने के लिए चौथी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत लघु-कृषक विकास अभिकरण के ४६ प्रकल्प और सामान्य-कृषक एवं कृषि-मजदूर विकास अभिकरण के ४१ प्रकल्प संचालित किये गए। पांचवी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इन दोनों अभिकरणों के सभी प्रकल्पों को संयुक्त कर दिया गया और प्रत्येक के लिए क्षेत्र निश्चित कर दिया गया। प्रत्येक नये अभिकरण से ५०,००० व्यक्तियों को लाभान्वित करने की अपेक्षा की गई, जबकि चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में जन्मे अभिकरण १९७६-७७ से १९७८-७९ तक के काल-विस्तार में केवल ३०,००० लोगों को लाभान्वित कर पाये थे। उपरोक्त अभिकरणों के कार्य की दृष्टि में ५ एकड़ या उससे कम जमीन का मालिक किसान एक लघु-कृषक है। राज्य भूमि सीमा बंदी कानून के अनुसार प्रथम श्रेणी की सिंचाई-सुविधा प्राप्त ढाई एकड़ या इससे कम के भूमिधर को भी लघु-कृषक माना जायेगा। जहां भूमि सिंचाई वाली है लेकिन प्रथम श्रेणी की नहीं, वहां पर ५ एकड़ की सीमा तक राज्य सरकार एक उचित परिवर्तन अनुपात अपना सकती है। एक सामान्य कृषक उसे कहा जा सकता है जिसके पास २.५ एकड़ या प्रथम श्रेणी की सिंचित-भूमि की सीमा १.२५ एकड़ है। कृषि मजदूर वह व्यक्ति है जिसके पास खेत की जमीन न हो परन्तु वासभूमि हो, और वह अपनी आय का ५० प्रतिशत से अधिक अंश कृषि-मजदूरी से कमाता हो। एक गैर-कृषि मजदूर वह व्यक्ति है जिसकी मजदूरी से मासिक आय कुल २०० रुपये से अधिक न हो। इस श्रेणी में वे व्यक्ति भी आते हैं जो अपनी आय का कुछ भाग कृषि से कमाते हैं और कुछ भाग अन्य स्रोतों से, बशर्ते कि वे अपनी आय का ५० प्रतिशत गैर-कृषि स्रोतों से कमाते हों। उनके पास वासभूमि न भी हो तो भी वे गांव के नामांकित निवासी होने चाहिएं।

इसी प्रकार "सूखा संभावित क्षेत्र कार्यक्रम" का उद्देश्य है १३ राज्यों के ७४ जिलों में भू-संरक्षण, भूमि, जल, पशुओं एवं मानवीय संसाधनों का विकास तथा उनका उपयोग। इन जिलों के चुनाव के विभिन्न मानदण्ड हैं, सूखे का जल्दी जल्दी पड़ना और अनियमित वर्षा और व्यवस्थित सिंचाई की कमी। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत चलाई गई योजनाएं सिंचाई, भू-संरक्षण वनरोपण और ग्रामीण संचार-व्यवस्था से संबंधित थीं। पांचवी पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत समन्वित क्षेत्र विकास सिंचाई साधनों का प्रबंध, सूखी भूमि का विकास, सिंचित कृषि, पशु-पालन एवं दुग्ध विकास, भेड़ और चरागाह विकास, वनरोपण, बागवानी, मत्स्य-पालन और रेशम कीट-पालन आदि कार्यक्रम लिये गये।

देश में सिंचाई विकास-क्षमता का शीघ्र एवं अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए "नियन्त्रण क्षेत्र

करणों के कार्य की दृष्टि में ५ एकड़
मीन का मालिक किसान एक लघु-
मि सीमा बंदी कानून के अनुसार
सिंचाई-सुविधा प्राप्त ढाई एकड़
मिधर को भी लघु-कृषक माना
में सिंचाई वाली है लेकिन प्रथम
हां पर ५ एकड़ की सीमा तक
उचित परिवर्तन अनुपात अपना
मान्य कृषक उसे कहा जा सकता
एकड़ या प्रथम श्रेणी की सिंचित-
२५ एकड़ है। कृषि मजदूर वह
पास खेत की जमीन न हो
हो, और वह अपनी आय
से अधिक अंश कृषि-मजदूरी
क गैर-कृषि मजदूर वह व्यक्ति
से मासिक आय कुल २०० रुपये
स श्रेणी में वे व्यक्ति भी आते हैं
कुछ भाग कृषि से कमाते हैं और
ों से, बशर्ते कि वे अपनी आय
र-कृषि स्रोतों से कमाते हों।
मि न भी हो तो भी वे गांव के
होने चाहिएं।

खा संभावित क्षेत्र कार्यक्रम"
ज्यों के ७४ जिलों में भू-संरक्षण,
एवं मानवीय संसाधनों का
उपयोग। इन जिलों के चुनाव
हैं, सूखे का जल्दी जल्दी पड़ना
ं और व्यवस्थित सिंचाई की
ीय योजना में इस कार्यक्रम के
योजनाएं सिंचाई, भू-संरक्षण
ीण संचार-व्यवस्था से संबंधित
ीय योजना में इस कार्यक्रम के
त्र विकास सिंचाई साधनों का
ा विकास, सिंचित कृषि, पशु-
स, भेड़ और चरागाह विकास,
मत्स्य-पालन और रेशम कीट-
लिये गये।

विकास-क्षमता का शीघ्र एवं
करने के लिए "नियन्त्रण क्षेत्र

विकास कार्यक्रम" १९७४ में प्रस्तुत किया गया, जिसमें जल-निकास कार्यक्रमों के सुधार पर जोर दिया गया। यह कार्यक्रम उन विविध विकास-कार्यों पर भी जोर देता है, जो खेतों में चलाये जा रहे हैं। कमजोर वर्गों पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जिससे वे उनमें पूरी तरह भाग ले सकें।

आदिवासी - विकास - अभिकरण - कार्यक्रम १९७१-७२ में चलाया गया जिसका उद्देश्य था चार राज्यों के चुने हुए छः आदिवासी क्षेत्रों का विकास करना।

आलोचनात्मक विश्लेषण

कुल मिलाकर ये सामुदायिक विकास कार्यक्रम राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा पंचायत राज सभी अग्रगामी प्रयास थे जिनका उद्देश्य केवल संकीर्ण आर्थिक भावना से ग्राम्य परिस्थितियों का विकास न होकर ग्रामीण क्षेत्रों का संतुलित सामाजिक एवं आर्थिक विकास था। इनके अन्तर्गत आयोजना विकास कार्यों के निर्माण एवं क्रियान्वयन में ग्रामीण जनता का सक्रिय सहयोग लिया गया है। इन कार्यक्रमों में स्थानीय प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों के अधिकतम उपयोग और विकास के लाभों के विस्तृत वितरण पर विशेष जोर दिया गया है। लेकिन वास्तव में जितने कार्यक्रम एवं योजनाएं चलाई गईं, उनके परिणाम आवश्यकतानुकूल नहीं निकले। ऐसा क्यों हुआ, इसका विश्लेषण निम्न-लिखित है :

अपर्याप्त धनराशि

ग्रामीण विकास सरकारी नीति का एक मान्य अंग रहा है और नेताओं का भी इसे पूर्ण समर्थन मिलता रहा है। लेकिन व्यवहार में धनराशि-निर्धारण इसके ठीक विपरीत है। सारिणी (क) में दिखाया गया कुछ खर्चा, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय विस्तार सेवा, पंचायत राज संस्थाओं तथा अन्य स्थानीय विकास कार्यों (सभी को मिलाकर) कृषि एवं संबंधित क्षेत्रों, जिनमें सामुदायिक विकास कार्यक्रम, राष्ट्रीय विस्तार सेवा, पंचायती राज संस्थायें और अन्य कार्यों का कुल खर्चा प्रथम पंचवर्षीय योजना में ३९.७७, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ४२.८६, तृतीय पंचवर्षीय योजना में २४.५८, तीन वार्षिक योजनाओं में ८.५२, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ४.२३ और पांचवी पंचवर्षीय योजना में ४.०८ करोड़ रुपये हुआ था। दूसरी ओर कृषि तथा संबंधित क्षेत्रों का खर्चा उसी योजना-काल में लगभग नौ गुना बढ़ गया। चाहे हम निरपेक्ष निरीक्षण करें या तुलनात्मक, ग्रामीण अर्थव्यस्था पर यथेष्ट प्रभाव डालने के लिए धनराशि का निर्धारण अपर्याप्त था। इसी प्रकार हमारे देश की विषमता और सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत आने वाली योजनाओं की व्यापकता को देखते हुए, स्वीकृत धनराशि बहुत ही कम थी।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत विविध योजनाओं के लिए स्वीकृत राशि भी जनता के लाभ के लिए खर्च नहीं की गई। विभिन्न योजनाओं के मूल्यांकन के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर नियुक्त की जाने वाली समितियों ने भी अपव्यय, गैर-आर्थिक तथा अनियमित खर्च के अनगिनत उदाहरणों की ओर ध्यान दिलाया है।

बहुत सारे मामलों में तो विभिन्न विकास योजनाओं के निमित्त धनराशि खर्च ही नहीं की गई। उदाहरणस्वरूप प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक विकास प्रकल्प के लिये निर्धारित ९० करोड़ रुपये की राशि में से वास्तविक खर्च लगभग ४६ करोड़ रुपये ही किया गया।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय विस्तार सेवा के लिए आय-व्यय का लेखा-जोखा बहुत ही दोषपूर्ण था। योजना प्रकल्प समिति द्वारा १९५७ में गठित अध्ययन दल (बलवन्त राय मेहता समिति) के अनुसार इस कार्य-पद्धति के अन्तर्गत, जो आज भी चल रही है, थोड़े समय के लिए भारी राशि उपलब्ध थी, परन्तु इसके पहले और बाद में संसाधन नितांत अपर्याप्त थे। इससे दुगुना अपव्यय एवं निराशा हुई, क्योंकि पूर्व-चरमोत्कर्ष तथा पश्च-चरमोत्कर्ष की अवधि में संसाधन उपलब्ध नहीं थे, परन्तु चरमोत्कर्ष के समय उपलब्ध राशि को समय

ग्राम-पुनर्रचना विधे
समिति में पूर्व ही

सामुदायिक वि
अवस्था में खण्ड स्त
माध्यम से कार्यक्रम
वाली पंचायती राज
संस्थाओं को क्रमश
विचार से दी गई वि
ति पर स्थानीय संस
के लिए संसाधन जुट
इकट्ठी हो जायेगी वि
रिक्त धनराशि की
भी मान लिया गय
कार्यक्रम के लिए आ
योजना बनानी नहीं
चल-चुते पर चलेगा
व्यावहारिक तौर
कार्यक्रम सरकारी
तिभर रहा। जहां
बन्द हो गया अथवा
हो गई या बिल्कुल
में तो स्थानीय सहा
था।[3]

कठोर सामाजिक-आ
देश में वर्तमान
का विश्लेषण करने
समाज की संरचना,
सीमा तक गरीबी,
स्तर की सामाजिक
वार है। ग्रामीण इ
विरोधी, अशानी
विरोधी है, बल्कि
कठोर सामाजिक-आ
विरोधात्मक प्रभाव
भारत जैसे वि
आर्थिक विकास के
उत्पादन और आय
है। इस परिभाषा

३. चतुर्थ पंच

सारिणी-क

(१) कृषि एवं संबंधित क्षेत्र
व्यय (२) सामुदायिक विकास कार्यक्रम
राष्ट्रीय विस्तार सेवा
पंचायत राज संस्थान

(करोड़ों में)

क्षेत्र	१९५१-५२ से १९५५-५६ प्रथम योजना	१९५६-५७ से १९६०-६१ द्वितीय योजना	१९६१-६२ से १९६५-६६ तृतीय योजना	१९६६-६७ से १९६८-६९ तीन वार्षिक योजनाएं	१९६९-७० से १९७३-७४ चतुर्थ योजना	१९७४-७५ से १९७८-७९ पंचम योजना
१. कृषि एवं संबंधित क्षेत्र १.१ सा. वि. का.	३५७.००	५६८.००	१,०९०.२१	१,१६६.६०	२,७२८.२०	३,१०९.००
रा. वि. सेवा एवं पं. रा. सेवा	१४२.००	२४४.००	३२२.४७	९९.४०	११५.५०	१२७.००
१ का १.१ प्रतिशत	३९.७७	४२.९६	२९.५८	८.५२	४.२३	४.०८

समाप्ति से पूर्व ही जल्दी-जल्दी खर्च करना पड़ा।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम को पंचवर्षीय अवस्था में खण्ड स्तर पर राष्ट्रीय विस्तार सेवा के माध्यम से कार्यरूप दिया गया जो कि तीन स्तरों वाली पंचायती राज संस्थाओं से जुड़ा हुआ है। इन संस्थाओं को क्रमशः घटती आर्थिक सहायता इस विचार से दी गई कि प्रारम्भिक दस वर्षों की समाप्ति पर स्थानीय संस्थाएं अपनी गतिविधियां चलाने के लिए संसाधन जुटा लेंगी और अन्य योजना राशि इकट्ठी हो जायेगी जिससे खण्डों के लिए बाद में अतिरिक्त धनराशि की व्यवस्था अनावश्यक रहेगी। यह भी मान लिया गया था कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के लिए आगे कोई सहायता देनी अथवा योजना बनानी नहीं पड़ेगी बल्कि यह अपने स्थानीय बल-बूते पर चलेगा। दुर्भाग्यवश ये सभी अनुमान व्यावहारिक तौर पर निराशाजनक रहे और यह कार्यक्रम सरकारी पहल और सरकारी खर्चे पर निर्भर रहा। जहां और जब कभी सरकारी अनुदान बन्द हो गया अथवा कम पड़ गया, गतिविधियां कम हो गई या बिल्कुल बन्द हो गई। बहुत सारे मामलों में तो स्थानीय सहायता का सहयोग नहीं के बराबर था।[३]

कठोर सामाजिक-आर्थिक ढांचा

देश में वर्तमान वास्तविक ग्रामीण-परिस्थितियों का विश्लेषण करने पर देखा गया कि भारतीय समाज की संरचना, विशेषकर ग्रामीण स्तर पर बहुत सीमा तक गरीबी, अन्याय और ग्रामीणों के निम्न स्तर की सामाजिक-आर्थिक अवस्था के लिए जिम्मेवार है। ग्रामीण इसलिए गरीब नहीं हैं कि वे विकास-विरोधी, अज्ञानी, रूढ़िवादी और परिवर्तन के विरोधी हैं, बल्कि इसलिये कि भारतीय समाज के कठोर सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक ढांचे का विपरीत प्रभाव उन पर हुआ है।

भारत जैसे विकासशील देशों में "विकास" को आर्थिक विकास के रूप में मान लिया गया है, जिसमें उत्पादन और आय बढ़ाने पर ही जोर दिया जाता है। इस परिभाषा के अनुसार विकास का मुख्य उद्देश्य कुल राष्ट्रीय उत्पादन को इस बात की परवाह किये बिना बढ़ाना है कि इस वृद्धि से किसको लाभ हो रहा है। भारत में विकास का यही रूप पिछले कई वर्षों से चला आ रहा है। इस आग्रह का परिणाम यह रहा है कि "हरित-क्रान्ति" तथा थोड़े औद्योगीकरण से उत्पादन में वृद्धि अवश्य हुई है, लेकिन इस विकास के लाभ प्रत्येक को समान रूप से नहीं मिले। बहुत सारे लाभ तो पहले से ही खुशहाल और प्रगतिशील कहे जाने वाले लोगों को मिले क्योंकि उन्हें कुशल "प्राप्ति-साधन" सुलभ थे। ऐसी बड़ी मछलियां सारे सहायता-कार्यक्रमों को निगल गई और साथ ही छोटी मछलियों को भी।

इस सारी प्रक्रिया का परिणाम यह रहा कि अमीर अधिक अमीर होते गये तथा गरीब या तो उसी अवस्था में रहे या और भी गरीब हो गए। इस प्रकार असमानता बढ़ती गई है। लगता है स्रवण (ट्रिकल डाउन) सिद्धांत के स्थान पर, जिसके अनुसार समाज के प्रगतिशील तत्वों को मिलने वाले लाभ अपने आप कम खुशहाल लोगों को मिल जायेंगे, "वाष्पीकरण सिद्धांत" लागू हो गया। "विकास के परिणामस्वरूप गरीबों के पास जो कुछ भी था, वह "वाष्पीकरण" द्वारा बड़े अथवा "खुशहाल लोगों" के पास चला गया।

स्थिति का अध्ययन एक और पहलू से भी किया जा सकता है। पिछले वर्षों में कल्याण गतिविधियों को आर्थिक विकास गतिविधियों की बजाय अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति रही है। उसका एक कारण यह भी रहा है कि प्रथम प्रकार की गतिविधियां शीघ्र प्रसिद्धि पा जाती हैं, शीघ्र क्रियान्वित हो जाती हैं और दूसरे प्रकार की गतिविधियों के मुकाबले एक अतिथि-प्रेक्षक को अधिक प्रभावित करती हैं एक भारतीय निरक्षर ग्रामीण जो सामुदायिक विकास कार्यक्रमों और 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' का अर्थ नहीं जानता, वह उन लोगों की प्रशंसा करता है, उनका आभार मानता है, जिन्होंने उसके लिए ये सुख-सुविधाएं जुटाई हैं। संक्षेप में भारतीय समाज, विशेषकर ग्रामीण समुदाय का सारा सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढांचा ग्रामीण आबादी के

३. चतुर्थ पंचवर्षीय योजना, १९६९-७४, पृ०२२८-२२९ योजना आयोग, भारत सरकार।

कमजोर वर्गों के लिए कठोर सिद्ध हुआ है और वह ऐसी अवस्था में पहुंच चुका है जहां वह बाहरी सहायता के बिना खड़ा नहीं हो सकता।

ग्रामीण आबादी का भाग्यवादी दृष्टिकोण

ग्रामीण आबादी के अधिकतर कमजोर वर्ग ग्रामीण समुदाय के सामाजिक-आर्थिक तौर पर पिछड़े हुए निम्न वर्गों से सम्बन्धित हैं। निरक्षरता और आर्थिक कठिनाई के कारण वे अपने कार्यों और आदतों को बदलकर आधुनिक तकनीक को अपनाने के लिए तैयार नहीं होते। परम्परागत तरीकों पर दृढ़-विश्वास होने के कारण उन उन्नत यंत्रों तथा तकनीकों को वे स्वीकार नहीं करते, जो प्रभावशाली कार्य करने में कुछ समय लेते हैं।

देशभर में फैले विभिन्न व्यवसायों के ग्रामीण लोगों के साथ सामूहिक बैठकें आयोजित करने के बाद हम कह सकते हैं कि बहुत ही थोड़े ग्रामीण अपनी परम्परागत एवं पैतृक कार्य-पद्धति को सुधारने का प्रशिक्षण लेने के इच्छुक हैं। इस तथ्य के बावजूद भी कि बेहतर प्रशिक्षण उन्हें वर्तमान आय के मुकाबले, दुगना लाभ प्राप्त करवाने में बहुत लाभदायक सिद्ध होगा, उनमें से बहुतेरों को "अपना भाग्य संवारने के लिए कुछ सीखने" का विचार भी स्वीकार्य नहीं है।

जन-सहयोग का अभाव

अब तक भारत में विकास आयोजना की दिशा ऊपर से दी गई है। इसका अभिप्राय है—बहुत सारी योजना, प्रत्यक्ष रूप में, जिन लोगों के लिए बनाई गई थी, वे लोग आयोजना एवं परिणति-कार्यों में शामिल नहीं हुए। योजनाकारों के अनुसार जन-सहयोग का अभिप्राय था कि उनके लिए निर्दिष्ट एवं बनाये गए कार्यक्रमों में लोग भाग लेंगे, किंतु योजनाकारों ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया कि आयोजना अथवा निर्णय लेने के किसी भी स्तर पर लोगों को शामिल किया जाये। साथ ही, सामुदायिक विकास प्रकल्प जैविक विकास नहीं बन पाया और अधिकारी विकास-कार्य समझने एवं लोगों में स्वावलंबन एवं उन्नति का दृष्टिकोण उत्पन्न करने में असफल रहे।

ग्रामीण विकास के किसी भी कार्यक्रम के लिए लक्ष्यांकित लोगों और उनके नेताओं को कार्यक्रम-आयोजना, क्रियान्वयन और इसके मूल्यांकन में पूरी तरह शामिल करना चाहिए। लोग वास्तव में क्या चाहते हैं, उनकी क्या जरूरतें हैं और किस प्रकार की गतिविधियों में रुचि रखते हैं – इन सब बातों का पता लगाने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिएं। लोगों, उनके नेताओं और समुदायों के अनेक समूहों को संगठित किये बिना, यथार्थवादी कार्यक्रम आयोजना सम्भव नहीं।

क्षेत्रीय तथा/अथवा लाभकारी दृष्टिकोण

सामान्य तौर पर ग्रामीणों और उनमें भी विशेषकर ग्रामीण समुदाय के कमजोर वर्गों की गिरती हुई सामाजिक-आर्थिक अवस्था ने पूर्वानुमान के बारे में गम्भीर रूप से पुनर्विचार के लिए मजबूर किया है, जिसके अनुसार जनता की भलाई आम आर्थिक विकास के प्राकृतिक परिणामस्वरूप होगी तथा घोर-निर्धनता सीधे आक्रमण से निरस्त नहीं होती।[४] छठी पंचवर्षीय योजना इन प्रश्नों का पूर्ण समर्थन करती है और ग्रामीणों की घोर निर्धनता की समस्या पर होने वाले सीधे आक्रमण की जगह दूसरी रणनीति लेकर सामने आई है। लाखों ग्रामीणों के पक्ष में सारी विकास रणनीति के पुनर्निर्माण की दलील देकर वह ग्रामीण-व्यवस्था की गतिशीलता पर प्रभाव डालने वाले महत्वपूर्ण तत्वों की पहचान पर जोर देती है, जिससे आवश्यक परिवर्तन लाया जा सके। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास से सम्बन्धित तीन मुख्य वर्गों की अन्तः निर्भरता को मान्यता देना भी बहुत महत्वपूर्ण है :

(१) कृषि अर्थ-व्यवस्था।
(२) मानवीय संसाधन।
(३) गैर-कृषि उत्पादन और सेवाएं।

४. जोशी, पी०सी० "आर्गेनाइजिंग द रूरल पूअर, रिक्लेक्शंस आन सम बेसिक इशूज" नेशनल सैमिनार, पीपल्स ऐक्शन फार डिवलपमेंट, नई दिल्ली में १९७८ में पठित निबन्ध।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह योजना ग्रामीण विकास को बहुमुखी प्रक्रिया मानती है जिसे समय रहते, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों के सभी वर्गों को अपने में समेट लेना चाहिए। इस योजना का आधार यह विश्वास है कि वर्तमान पद्धति में प्रभावशाली आयोजना तथा महत्वपूर्ण परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ग्रामीण परिवारों का जीवन-यापन ऊंचा तथा अधिक समतापूर्ण होगा।[5]

समन्वित ग्रामीण विकास

उपर्युक्त चेष्टाएं एक व्यापक रणनीति की अपेक्षा करती हैं जिसका नाम है 'समन्वित ग्रामीण विकास' (स० ग्रा० वि०)। इस आयोजना की अवधारणा का उद्देश्य है अधिकांश ग्रामीण आबादी, उसमें भी विशेषकर गरीब ग्रामीणों का आर्थिक एवं सामाजिक विकास। कृषि उत्पादन बढ़ाने, मानवीय संसाधनों तथा गैर-कृषि गतिविधियों और सेवाओं द्वारा ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के आधार को विस्तृत करने के साधनों का समन्वय इसमें शामिल है।

क्षेत्र आयोजना

क्षेत्र विकास कार्यक्रम समन्वित ग्रामीण विकास का एक आवश्यक अंग है और चुने हुए क्षेत्रों में सघन आयोजना तथा कार्य-परिणति में समन्वय स्थापित करता है। यह समन्वित ग्रामीण विकास के विभिन्न अंगों के मूल संबंधों की अनुभूति में सहायता करता है तथा ऐसी नीति तैयार करता है जिसे प्रभावशाली तरीके से मूर्तरूप दिया जा सके। गांव की छोटे स्तर की आयोजना और विस्तृत लक्ष्य आयोजना के संयोजक कार्यकारी ढांचे को स्थापित करने में क्षेत्र आयोजना प्रकल्प काफी सहायक हो सकते हैं। व्यापक आयोजना के लिए सामुदायिक विकास खण्ड बहुत ही लाभकारी है। आयोजना के लिए क्षेत्र इकाई के रूप में सामुदायिक खण्ड बनाये जाने के काफी कारण गिनाये जा सकते हैं :

(क) राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय योजना अनिवार्यतः बड़ी और तात्विक दृष्टि से सामान्य होती है तथा सामुदायिक विकास खण्ड जैसे घने क्षेत्र की लघु-आयोजना का स्थान नहीं ले सकती। प्रत्येक सघन क्षेत्र इकाई एक दूसरी से प्राप्त संसाधनों, लोगों के कार्य-कलापों और आने वाली समस्याओं के आधार पर भिन्न होती हैं और उसकी स्थानीय आवश्यकताओं के उपयुक्त आयोजना आवश्यक होती है। इस प्रकार की क्षेत्र इकाई के लिए सामान्य रूप में आयोजना नहीं की जानी चाहिए बल्कि वह स्थानीय परिस्थितियों तथा लोगों की आवश्यकताओं की विस्तृत तथा गहरी जानकारी पर आधारित होनी चाहिए।

(ख) इसी तरह प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड की कृषि, ग्रामीण उद्योगों तथा संबंद्ध क्षेत्रों के बारे में अपनी क्षमताएं हैं जो स्थानीय संसाधन अवस्था की संबंधित जानकारी के गहरे एवं विस्तृत प्रयत्नों के आधार पर विकसित की जा सकती हैं। इस उद्देश्य-प्राप्ति में खण्ड स्तर की योजना सर्वोत्तम साधन है।

(ग) इसके अलावा भी विशिष्ट उद्देश्य वाली राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय योजना, उदाहरणार्थ, ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिए उपयुक्त परिवारों को लक्ष्य समूह मानकर विस्तृत आयोजना बनाने की आवश्यकता है। इस अवस्था में भी खण्ड स्तर की आयोजना अधिक उपयुक्त हो सकती है।

(घ) क्षेत्र तथा आबादी के लिहाज से सामुदायिक विकास खण्ड एक छोटी क्षेत्र इकाई है, जो योजनाकारों को समुचित अवसर प्रदान करती है। यही लोग योजना को कार्यरूप देने तथा लक्ष्यांकित समूहों के आपसी ताल-मेल और एक दूसरे को अच्छी तरह समझने की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए उत्तरदायी हैं, जो कि आयोजना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार की क्षेत्र-इकाइयां सभी योजनाकारों और काम करने वाले अधिकारियों को लाभान्वित लोगों के सान्निध्य में ला सकती हैं। इससे वे उनके निकट रहकर काम करेंगे, उनकी समस्याओं को समझेंगे, विचार विमर्श करेंगे और उनकी समस्याओं को हल करने के कार्य तथा आयोजना में उनके सक्रिय सहयोग के लिए प्रयत्नशील होंगे। इस

५. छठी पंचवर्षीय योजना, १९७८-८३ पृ० १—५, योजना आयोग।

प्रकार खण्ड-स्तर की आयोजना निम्नलिखित रूपों में सहायक है।

(१) इससे योजनाकारों को जरूरतमन्दों और लक्ष्यांकित समूहों की समस्याओं तथा उनके पिछड़ेपन के उत्तरदायी कारणों को स्पष्ट रूप से समझने में सहायता मिलती है।

(२) इससे कार्यपालिका अधिकारियों और कामगारों को योजनाओं को सच्चे रूप में क्रियान्वित करने में सहायता मिलेगी।

(३) यह योजनाकारों तथा औरों को खण्ड की क्षमता का अनुमान, मूल्यांकन, निर्धारण एवं चयन करने में और उनके उचित उपयोग को विकसित करने में सहायता करती है।

(४) समुदाय के कमजोर वर्गों के उत्थान में रुकावट डालने वाले अवरोधों की जांच-पड़ताल में सहायता करती है।

(५) यह लाभान्वित समूहों के अपने लाभ के लिए योजना बनाने तथा क्रियान्वित करने में भाग लेने के द्वार खोलती है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम अथवा विशेष कार्यक्रम ?

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम और लघु किसान विकास अभिकरण कार्यक्रम, लाभान्वित लोगों को ढूंढने के काम पर जोर देते हैं तथा उनके आर्थिक स्तर को सुधारने की योजनाओं के निर्माण एवं क्रियान्वयन में ये दोनों समान हैं। लेकिन दोनों कार्यक्रम तत्वों, प्रसार और प्रभाव की दृष्टि से निम्नलिखित रूपों में भिन्न हैं :—

(१) लघु किसान विकास अभिकरण कार्यक्रम का प्रसार सीमित है तथा केवल कृषि क्षेत्र तक सीमाबद्ध है। दूसरी ओर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का विस्तृत प्रसार है, जिसमें गैर कृषि क्षेत्र अर्थात् औद्योगिक एवं तीसरे किस्म के क्षेत्र भी शामिल हैं।

(२) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम केवल कुछ लाभान्वित लोगों को थोड़ी बहुत सहायता देने तक ही सीमित नहीं बल्कि ज्ञात लाभान्वित लोगों को प्रभावशाली सहायता देता है, जिससे उनकी आय इस सीमा तक बढ़ जाए कि वे एक बार हमेशा के लिए गरीबी की सीमा-रेखा पार कर जायें। गरीबी की सीमा-रेखा इस मत पर आधारित है कि पांच या छः सदस्यों के परिवार की मासिक आय ३०० से ३५० रुपये होनी चाहिए अर्थात्, ६० रुपये प्रतिमास प्रति व्यक्ति के लिए।

(३) लघु कृषक विकास अभिकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत आने वाले जिन लाभान्वित लोगों के पास अधिक जमीन है उन्हें अधिकतम लाभ मिलता है। दूसरी ओर 'अंत्योदय' कार्यक्रम में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम गरीबों में सर्वाधिक गरीब को लाभ पहुंचाता है।

(४) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, प्रत्येक भागीदार की अर्जित अतिरिक्त आय पर नियन्त्रण रखता है।

(५) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत परिवार आयोजना विकास की आधारभूत इकाई है और सभी प्रकार के आर्थिक कार्यक्रम संपूर्ण परिवार के लिए बनाये जाते हैं।

(६) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का उद्देश्य परिवार को गरीबी सीमा-रेखा पार करने के लिए सभी आवश्यक सेवाएं प्रदान करना है, न कि केवल बीज-वितरण तथा यन्त्र-वितरण जैसे सामान्य कार्य करना।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम एक ओर रूप में लघु कृषक विकास अभिकरण, सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम और नियन्त्रण क्षेत्र विकास अभिकरण से भिन्न है। लाभान्वित लोगों को सहायता देने में सहायक तत्व ही नहीं बल्कि रियायत देने के मामले में भी शेष तीनों कार्यक्रमों में काफी भिन्नता है। लेकिन समन्वित ग्रामीण विकास के लिए अपनाये गये खण्ड

में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। संक्षेप में, समन्वित ग्रामीण विकास के अन्तर्गत चुने हुए खण्डों में चलाई गई योजनाएं समरूप प्रकृति की हैं, चाहे वे (खण्ड) लघु कृषक विकास अभिकरण, सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम अथवा नियन्त्रण क्षेत्र विकास कार्यक्रम के क्षेत्रों में हो अथवा ऐसे क्षेत्र में जहां इस समय कोई भी कार्यक्रम न चल रहा हो।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत चलाई गई या क्रियान्वित की गई विभिन्न योजनाओं को तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(१) व्यक्तिगत लाभान्वितों के लिए योजनाएं
(२) मूलभूत ढांचे के विकास की योजनाएं, और
(३) संस्थाओं की सहायता

परन्तु, लक्ष्यांकित समूहों के अन्तर्गत पहचाने हुए लाभान्वितों के आर्थिक स्तर को सुधारने और रोजगार करने के दोहरे उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत-लाभान्वितों से सम्बन्धित योजनाओं पर भी अधिकतम जोर दिया गया है।

क्रियान्वयन के लिए अभिकरण

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम उन क्षेत्रों में चलाये गये हैं, जहां लघु कृषक विकास अभिकरण, सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम अभिकरण और नियन्त्रण क्षेत्र विकास अभिकरण जैसे विशेष कार्यक्रम चल रहे हैं और उन क्षेत्रों में भी जहां उपर्युक्त कार्यक्रम नहीं चलते। विशेष कार्यक्रमों के क्षेत्र में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का क्रियान्वयन ल० कृ० वि० अ० और सू० ग्र० क्षेत्र० का० अ० और वि० क्षे० वि० का० अ० को सौंप दिया गया है। ल० कृ० वि० अ० और सू० ग्र० क्षे० का० अ० अपना कार्य जिला स्तर पर तथा खण्ड स्तर पर खण्ड अभिकरणों के माध्यम से चलाते हैं। नियन्त्रण क्षेत्र विकास अभिकरणों (नि० क्षे० वि० अ०) के पास और दूसरे काफी कार्य हैं तथा प्रायः उनका कार्यक्षेत्र जिला राजस्व सीमा को भी लांघ जाता है। इसलिए यह आवश्यक समझा गया है कि साधारण कार्यक्रम क्षेत्र वाले जिला स्तर के खण्डों और नियन्त्रण क्षेत्र विकास अभिकरण के कार्य क्षेत्र में आने वाले खण्डों में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के निर्माण एवं क्रियान्वयन के लिए आवश्यक संगठन-ढांचा खड़ा किया जाये।

कुछ राज्यों में जहां पर लघु कृषक विकास अभिकरण द्वारा ल० कृ० वि० अ० कार्यक्रम जिला-स्तर पर क्रियान्वित किये गए हैं और विकास-विभाग के माध्यम से खण्ड स्तर पर समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम चलाये गए हैं, वहां समन्वित ग्रामीण विकास का क्रियान्वयन अकेले एक अभिकरण को सौंपा गया है। इसी प्रकार राज्य स्तर पर ल० कृ० वि० अ०, सू० ग्र० क्षे० अ० द्वारा बनाये गये सभी कार्यक्रम और स० ग्रा० वि० का संचालन किसी एक सांझे विभाग द्वारा किया जा सकता है।

सब रोगों का एक इलाज

विस्तृत क्षेत्र एवं विशाल आबादी वाले भारत जैसे देश के लिए ग्रामीण विकास का कार्य बहुत जटिल है। इसकी सफलता केवल अच्छी संरचना और सुचारु संगठनों पर ही नहीं बल्कि नौकरशाही और उससे संबंधित परिवर्तनकारी-तत्वों के स्वभाव (गुणों) पर निर्भर करती है। अधिकारी और परिवर्तनकारी-तत्व ईमानदार, वफादार और समर्पित-भाव वाले होने चाहिएं। उन्हें ग्रामीणों से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने चाहिएं, जिनके लिए वे कार्य करना चाहते हैं। तभी वे उन्हें जान सकते हैं, उनकी जरूरतों के बारे में सोच सकते हैं और उनकी हालत बदलने के लिए उचित तरीके अपना सकते हैं। ग्रामीण लोगों के उत्थान में श्रद्धालु, ईमानदार, समझदार अधिकारियों और निस्वार्थ तथा निष्काम सुधारकों की कमी सबसे बड़ी रुकावट है। कृषि एवं दूसरे ग्रामीण व्यवसायों के सभी रोगों का निवारण खण्ड स्तर के ऐसे संगठन की स्थापना द्वारा हो सकता है, जिसके पास सोचने, काम करने और मूल्यांकन करने वाले अधिकारियों का दल हो।

खण्ड स्तर के संगठन के मन्त्रणात्मक विभाग में सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों, विभिन्न ग्रामीण व्यवसायों,

ग्रामीण विकास अभिकरणों के सदस्य और ग्रामीण समुदायों के प्रतिनिधि तथा विशेषज्ञ होने चाहिएं। अधिकतर विकास योजनाओं के परिणाम इच्छानुसार और आशानुकूल नहीं निकले, क्योंकि जिन लोगों के लिए ये योजनाएं चलाई जाती हैं वे कार्यवाही की आयोजना और क्रियान्वयन में बिल्कुल ही शामिल नहीं किये जाते। विकास के उद्देश्य से हमारा अभिप्राय: है, मानव-विकास, न कि भौतिक विकास। हमें देखना चाहिए कि लोग कार्यक्रम-विधि, आयोजना, इसके क्रियान्वयन और मूल्यांकन में भाग लें। लक्ष्यांकित लोगों, उनके नेताओं और ग्रामीण समुदाय के विभिन्न समूहों को संगठित किये बिना, आदर्शवादी कार्यक्रम आयोजना सम्भव नहीं। और यदि ऐसी योजना प्रस्तुत कर भी दी जाती है, तो वह पूर्णत: सफल नहीं हो सकती।

अधिकारियों और परिवर्तनकारी तत्वों में उद्देश्यों और अंगीकृत कार्यों के बारे में विचार-समन्वय होना चाहिए तथा आपसी सहयोग की भावना विकसित करनी चाहिए, तभी वे ग्रामीण समुदायों में सहयोग की भावना जागृत कर सकते हैं। अधिकारी निरंकुशता और दमनकारी व्यक्तित्व से पीड़ित नहीं होने चाहिएं। उन्हें एक सामाजिक-प्रयोगशाला और मूर्तिमान समुदाय के रूप में काम करना चाहिएं, जिससे जनता कामों में भाग ले, निर्णयों का विकेन्द्रीकरण हो, सहजीवन का अभ्यास और वेतन-भिन्नता इत्यादि भेदों से वे लेशमात्र भी ग्रस्त न हों। □

Made out of the Finest Materials.

MANGALORE GANESH BEEDIES

Smokers cannot afford to miss them.

DAILY SALES EXCEED 8 CRORE BEEDIES

Head Office:

MANGALORE GANESH BEEDI WORKS
VINOBA ROAD
MYSORE - 570 005

Telephone : 20241
Telegrams : 'AROMA'

ग्राम वि
बहुस्तरी
की भूमि

विगत दो दशकों में
धारणा, दर्शन,
स्पष्टत: एक परिवर्तन
आयोजना में बल कुल
आय में ऊंची वृद्धि-दर
था। इस आशा से कि
फैलने पर अन्ततोगत
न्वित होंगे, एक केन्द्रीह
जिसमें अर्थव्यवस्था के
क्षेत्रों (यथा सार्वजनि
सघन प्रयास किया
नीचे की ओर" वाले
लाभ नीचे तक नहीं
देशों के लोगों की
विषमता को बढ़ा
एकता विकास आय
बन गयी। साथ ही
जना के प्रभाव से
ऐतिहासिक और स
द्घाटन किया कि
को सीमांतीकरण
बात पर सहमति
विकास का कोई
समस्या की जड़
अर्थात्, समाज
विकास के लक्ष्य
विकास आयोजन
उभरे हैं। रोजग
के रूप में मान्य
में ऊंचे कुल राष्

* उप-सह

ग्राम विकास में बहुस्तरीय आयोजना की भूमिका

□ के०वी० सुन्दरन्*

विगत दो दशकों में विकास आयोजना की अवधारणा, दर्शन, लक्ष्यों और रणनीतियों में स्पष्टतः एक परिवर्तन आया है। प्रारम्भ में विकास आयोजना में बल कुल राष्ट्रीय उत्पाद या राष्ट्रीय आय में ऊंची वृद्धि-दर प्राप्त करने पर दिया जाता था। इस आशा से कि, ऊंची वृद्धि-दर का प्रभाव फैलने पर अन्ततोगत्वा समाज के सभी वर्ग लाभान्वित होंगे, एक केन्द्रीकृत नीति पर जोर दिया गया, जिसमें अर्थव्यवस्था के "उच्च वृद्धि" वाले आधुनिक क्षेत्रों (यथा सार्वजनिक क्षेत्र के पूंजीनिवेश) पर सघन प्रयास किया गया था; लेकिन चूंकि "ऊपर से नीचे की ओर" वाले इस दृष्टिकोण के परिणामजन्य लाभ नीचे तक नहीं पहुंचे, बल्कि उसने विकासशील देशों के लोगों की आय या जीवनस्तर में व्याप्त विषमता को बढ़ा दिया, इसलिए वितरणपरक एकता विकास आयोजना का एक महत्वपूर्ण विषय बन गयी। साथ ही विकासशील देशों में विकास आयोजना के प्रभाव से संबंधित विषय के अध्ययनों एवं ऐतिहासिक और समकालीन साक्ष्यों ने यह रहस्योद्घाटन किया कि इस प्रक्रिया ने ग्रामीण गरीबों को सीमांतीकरण की तरफ ढकेल दिया है। अब इस बात पर सहमति है कि यदि विकासशील देशों में विकास का कोई प्रभाव होना है, तो इसे गरीबी की समस्या की जड़ पर सीधे प्रहार करना होगा। अर्थात्, समाज के निर्धन वर्गों के परिवार ही विकास के लक्ष्य होने चाहिए। यह प्रतीति होने पर विकास आयोजना के कुछ अन्य आयाम भी सामने उभरे हैं। रोजगार को एक संरचनात्मक समस्या के रूप में मान्यता मिली है जिसे अधिकांश प्रसंगों में ऊंचे कुल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि-दर द्वारा हल नहीं किया जा सकता। जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ऐसे अन्य पहलू हैं : आय वितरण, जीवन का स्तर, ग्रामीण जनता की आधार-भूत न्यूनतम आवश्यकतायें और "नीचे से ऊपर की ओर" के दृष्टिकोण पर जोर देने वाली विकेन्द्रीकृत आयोजना।

आयोजना का "ऊपर से नीचे की ओर" वाला दृष्टिकोण अद्वितीय संसाधन-सम्पन्नता, वैशिष्ट्य और समस्याओं वाले देश में न केवल ग्रामीण गरीबों और कुछ तामाजिक वर्गों से, बल्कि कुछ 'क्षेत्रों' से भी कतरा कर निकल जाता था। देश के विभिन्न भागों में वर्तमान विभिन्न परिस्थितियों को दुर्लक्ष्य कर यह सभी स्थानों पर एक ही प्रकार का विकास थोपने की कोशिश करता था। अब यह अधिकाधिक मान्य किया जाने लगा है कि आयोजना में क्षेत्रीय न्याय भी सामाजिक न्याय की तरह ही महत्वपूर्ण है और किसी भी देश को एक ही इकाई मानकर आयोजना नहीं की जा सकती। बहुस्तरीय आयोजना का महत्व कई देशों में स्वीकार किया गया है।

भारत जैसे भौगोलिक दृष्टि से बड़े देशों के लिए सवाल केवल इतना ही नहीं है कि विकास का आयोजन ऊपर से होना चाहिए या नीचे से या मिलाकर। यहां आयोजना प्रक्रिया में अन्य मध्यवर्ती स्तरों या शासन के संघीय ढांचे में निहित क्षेत्रीय स्तरों का भी विचार होना चाहिए। इसलिए बहुस्तरीय आयोजना का दृष्टिकोण आवश्यक है। इसके लिए अत्यधिक जटिल विकेन्द्रीकृत आयोजना-प्रक्रिया की जरूरत है जिसमें देश के प्रशासन और राजनीतिक ढांचे में भी कुछ आधारभूत परिवर्तन या अनुकूलन हो सकता है। इस बहुस्तरीय आयोजना प्रक्रिया में निर्णायक मुद्दा

* उप-सलाहकार, योजना आयोग, भारत सरकार, नई दिल्ली

यह है कि निर्णय उस बिन्दु के यथासंभव निकट लिए जाने चाहिए जहां उसके प्रभाव-लाभ और लागत-सर्वाधिक उपयोगी हों। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आर्थिक आयोजना के संदर्भ में बहुस्तरीय आयोजन का आधारभूत लाभ विभिन्न क्षेत्रीय स्तरों के बीच "कार्य विभाजन" में होता है। इस प्रकार ऐसे कार्य केन्द्र द्वारा किए जायेंगे, जिनका आयाम राष्ट्रव्यापी है तथा जिनके निर्णय का प्रभाव पूरे देश में अनुभव किया जायगा। दूसरी ओर केवल स्थानीय प्रभाव उत्पन्न करने वाले कार्यों या निर्णयों का क्रियान्वयन स्थानीय स्तर पर किया जाएगा। इस प्रकार विभिन्न कार्यों या निर्णयों के लिए भौगोलिक सीमा या "क्षेत्रीय आवेष्टन" निश्चित किया जा सकता है। इस दिशा में की गई योजना को सर्वोत्तम कार्य-विभाजन और न्यूनतम संघर्ष या प्रयासों की परस्पर व्याप्ति का लाभ मिलेगा।

विकेन्द्रीकृत आयोजना का अनुभव

बहुस्तरीय आयोजना मूलतः आयोजना प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण का प्रयोग है। यद्यपि बहुस्तरीय आयोजना और उससे संबंधित समस्याओं की कुछ चर्चा और निकट से उसकी छानबीन अभी हाल के दिनों में ही हुई है, लेकिन विकेन्द्रीकरण का विचार काफी लम्बे अर्से से भारतीय योजनाओं और भारतीय आयोजना के साहित्य में प्रमुखता से स्थान पाता रहा है। यहां तक कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में भी कुछ मात्रा में विकेन्द्रित आयोजना की आवश्यकता का विचार किया गया था। लेकिन आयोजना के उन प्रारंभिक वर्षों में न तो बहुस्तरीय आयोजना के सिद्धांतों की स्पष्ट समझ थी और न ही सरकार में इस बात के लिए समझदारी कि विभिन्न क्षेत्रीय स्तरों के बीच किन अधिकारों और उत्तरदायित्वों का वितरण कैसे किया जाय या विभिन्न स्तरों के क्रिया-कलापों का समन्वय कैसे हो। अन्य कई बातों की तरह उसमें भी अनुभव सर्वोत्तम मार्गदर्शक रहा है। उदाहरणस्वरूप सामुदायिक विकास कार्यक्रम को विकेन्द्रीकरण का एक विशाल प्रयोग माना जा सकता है। लेकिन इस प्रयोग में आयोजना राज्य, जिला और तालुका के मध्यवर्ती स्तरों से कतराकर केन्द्र से सीधे नीचे गांव पर पहुंची। उन दिनों आयोजना में विभिन्न क्षेत्रीय/प्रशासकीय स्तरों—यथा राज्य बनाम केन्द्र, की भूमिका की कोई स्पष्ट रूप-रेखा नहीं थी। साथ ही आयोजना प्रक्रिया में अपनी वैध भूमिका पर जोर देने के लिए राज्य राजनीतिक और तकनीकी दृष्टि से उतने परिपक्व भी नहीं थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आयोजना का अत्यधिक केन्द्रित स्वरूप उभरा। आज जब हम सामुदायिक विकास कार्यक्रम का सिंहावलोकन करते हैं तो लगता है कि बहुस्तरीय आयोजना के सिद्धांतों की समझ का अभाव इस आंदोलन की असफलता का एक कारण था।

द्वितीय योजना ने विकेन्द्रीकरण के दो उपायों पर जोर दिया यथा —जिला विकास परिषदों और ग्राम विकास योजनाओं का निर्माण। जिला विकास परिषद निस्संदेह एक अच्छा विचार था, लेकिन कार्यरूप में यह भी असफल साबित हुआ क्योंकि इसकी कल्पना भी अलग से की गई थी। आयोजना की सर्वांगीण रूपरेखा, जिसमें आयोजना प्रक्रिया में सभी स्तरों के कार्यों की स्पष्ट व्याख्या और समन्वय हो, प्राप्त करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया। जिला विकास परिषद एक औपचारिकता की पूर्ति के लिए निर्मित प्रतीत हुए; विकेन्द्रीकरण की प्रतिबद्धता के लिये नहीं। जिला विकास परिषदों के अधिकार थोड़े से थे और उनमें भी थोड़े ही इस्तेमाल किए गए। मुख्यतः वे परामर्शदात्री संस्थाएं बनी रहीं। उनके पास तकनीकी ज्ञान भी कम था। सम्भवतः अनजाने में ही वे आधिकारिक और नौकरशाही संगठन बन गए।[1] आयोजना के लिए सर्वांगीण तंत्र तथा निर्देष कार्यपद्धति के अभाव में ग्राम उत्पादन योजनाएं परिस्थिति के यथार्थ से असंबंधित केवल कागजी कार्रवाई बनकर रह गईं। द्वितीय योजना के उत्तरार्द्ध में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और पंचायती राज संस्थाओं के गठन का आंदोलन हुआ। सन् १९५९ में पंचायती राज कार्यक्रम के शुभारम्भ के बाद गत वर्षों में इन मूलभूत

१. वी० के० नटराज : डीसेन्ट्रलाइजेशन आफ प्लॉनिंग इन इंडिया, इंस्टीट्यूट आफ डेवलपमेंट स्टडीज, मैसूर, जून १९७४

संस्थाओं का भाग्य इधर से उधर झूलता दिखाई पड़ा है। राज्यों द्वारा पंचायती संस्थाओं के पुनरीक्षण से पता चलता है कि महाराष्ट्र और गुजरात, केवल इन दो राज्यों को छोड़कर, जहां ये संस्थाएं कुछ दक्षता के साथ (यद्यपि अपनी सम्पूर्ण क्षमता से नहीं) कार्यरत हैं, देश के अनेक अन्य राज्यों में ये केवल एक या दो स्तर पर ही काम कर रही हैं।[२]

देश में पंचायती राज संरचना में खामियों के बावजूद आयोजना प्रशासन और निचले स्तर तक बजट बनाने में कुछ हद तक विकेन्द्रीकरण करने के लिए कई राज्य सरकारों द्वारा पर्याप्त प्रयास किए गए हैं। लेकिन यह प्रक्रिया अभी भी अधूरी है और विभिन्न राज्यों में उपलब्ध विकेन्द्रीकरण का स्तर असमान है। महाराष्ट्र जैसे कुछ राज्यों में विभिन्न उप राष्ट्रीय स्तरों, यथा राज्य, जिला आदि के बीच परस्परावलंबिता और क्रियान्वयन-साझेदारी की समझ लाने की कोशिश की गई है। कर्नाटक, उत्तर प्रदेश जैसे राज्य इस उदाहरण का अनुकरण करने की कोशिश कर रहे हैं। इस प्रकार उदाहरण-स्वरूप यह उल्लेख किया जा सकता है कि योजना बनाने के लिए जिला क्षेत्र और राज्य क्षेत्र की स्कीमों को अलग-अलग सोचा गया है और विभिन्न स्तरों पर कार्यक्रमों के आयोजना क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायित्व निम्नलिखित से सोचे गये हैं :—

राज्य क्षेत्र स्कीम

विद्युत् का उत्पादन और वितरण
बड़ी और मध्यम सिंचाई परियोजनायें
संगठित संस्थाओं में पूंजीनिवेश
विश्वविद्यालयीन शिक्षा
व्यावसायिक और तकनीकी शिक्षा
अनुसंधान और प्रशिक्षण
राज्य और राष्ट्रीय राजमार्ग
बड़ी और मध्यम परियोजनाओं के अंतर्गत विकास
बंदरगाह और अंतर्देशीय जल मार्ग

जिला क्षेत्र स्कीम

कृषि उत्पादन
भू-संरक्षण
वन
मत्स्य
पशुपालन
विपणन
लघु सिंचाई
लघु सिंचाई परियोजनाओं के अंतर्गत विकास
प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा
जिला और गांव की सड़कें
स्वास्थ्य
जल आपूर्ति और सिंचाई
नगरीय विकास
पिछड़े वर्गों का कल्याण
समाज कल्याण

१९७८ से स्थानीय (प्रखंड) स्तर विकास आयोजना का विचार हमारे देश में स्पष्ट हुआ है और निम्नलिखित ग्रामीण विकास कार्य विशेष रूप से स्थानीय स्तर योजना के अंतर्गत माने गये हैं :—

१. कृषि और संबंधित कार्य

२. असम, बिहार, हरियाणा, पंजाब, जम्मू और काश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में पंचायती राज केवल नाम के वास्ते हैं। आन्ध्र प्रदेश और राजस्थान में पंचायती राज सम्भवतः गांव और प्रखंड स्तर पर ही ठीक-ठाक काम कर रहा है, लेकिन लम्बे समय तक चुनाव न होने और जिला स्तर पर लोकतांत्रिक अधिकार के अभाव में संस्था ने गतिशीलता खो दी है। केरल में ग्राम पंचायतें काम कर रही हैं और जिला विकास परिषदों का अब गठन किया जा रहा है। कर्नाटक में ग्राम पंचातें काम कर रही हैं। तालुका पंचायतें निलम्बित हैं। जिला परिषद विधेयक को विधायिका परिषद की स्वीकृति नहीं मिल सकी है। तमिलनाडु में ग्राम पंचायतें और प्रखंड पंचायतें पर्याप्त दक्षता से काम कर रही हैं। जिला परिषदें भी है।

२. लघु सिंचाई
३. भू-संरक्षण और जल-व्यवस्था
४. पशुपालन और मुर्गीपालन
५. मत्स्य पालन
६. वन
७. कृषि उत्पाद की तैयारी
८. अंतर्धारितों की आपूर्ति, ऋण और विपणन का संगठन
९. कुटीर और लघु उद्योग
१०. स्थानीय अधोसंरचना
११. सामाजिक सेवाएं
  (क) पेयजल आपूर्ति
  (ख) स्वास्थ्य और आहार
  (ग) शिक्षा
  (घ) आवास
  (च) सफाई
  (छ) स्थानीय यातायात
  (ज) कल्याण कार्यक्रम
१२. स्थानीय युवकों का प्रशिक्षण और स्थानीय आबादी के कौशल का विकास।

जहां तक ग्रामीण विकास का सम्बन्ध है, इस विषय पर सभी ताजे विचारों ने ग्राम विकास की "सर्वांगीण" प्रकृति पर जोर दिया है जिसका लक्ष्य "अधिक उत्पादन अधिक रोजगार" और आय का 'अधिक समरूप वितरण' हो। किसी देश की बहु-स्तरीय आयोजना संरचना में ग्रामीण विकास का अधिकांश महत्वपूर्ण पहलू स्थानीय स्तर के अन्तर्गत होता है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि किसी सफल ग्रामीण विकास प्रभाव की कुंजी स्थानीय स्तर की आयोजना में है। प्रभावी स्थानीय आयोजना प्रभावी "विकेन्द्रीकरण" पर अवलम्बित होगी, जिसका अर्थ है कि अधिकार और उत्तर-दायित्व दोनों निचले क्षेत्रीय स्तरों को दिये जाएं और उन्हें अपने कार्य के लिये पूरा जवाबदेह बनाया जाय। अगर स्थानीय स्तर तक पर्याप्त मात्रा में विकेन्द्रीकरण करना है तो इसके लिये काफी सामंजस्य (अर्थात् प्रशासनिक अनुकूलन) की जरूरत होगी जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—मूल स्तर पर स्थानीय शासन और अन्य विकास संस्थाओं को मजबूत करना। इस संदर्भ में इस बात पर बल देने की जरूरत है कि जब तक ग्रामीण विकास परियोजनाओं के क्रियात्मक पहलू पूरी तरह शासन के निचले स्तरों को नहीं सौंपे जायेंगे, तब तक केन्द्रीय राज्य और स्थानीय शासकीय विभागों के कार्यों के एक दूसरे पर छाने से संबंधित समस्यायें उठती रहेंगी।

बदलती अवधारणायें

पिछले तीन दशकों में हमारे देश में ग्रामीण विकास की अवधारणा में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। समय-समय पर कई दृष्टिकोण और बल प्रस्तावित किये गये हैं जैसा सारणी क्र०१ में बताया गया है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि ग्रामीण विकास का उभरता हुआ आग्रह लक्ष्य समूहों, यानि ग्रामीण गरीबों के लिये आयोजना के पक्ष में है, और आय आयोजना का प्रमुख बदलाव "गरीबी और रोजगार पर केन्द्रित रणनीतियों" की ओर है। इस प्रकार वर्तमान ग्रामीण विकास किसी क्षेत्र के गरीब लोगों की ओर केन्द्रित है तथा उसके प्रमुख लक्ष्य हैं—उनकी गरीबी की हालत को दूर करना और उनके पास तक रोजगार के अवसर पहुंचाना। क्षेत्रीय स्तर पर इस कार्य के लिए सौंची गयी आयोजना क्षेत्र इकाई ऐसी होनी चाहिए कि लोग पहचाने जा सकें और भीड़ में बिना पहचान वाली भीड़ बनकर खो न जायें। इसका मतलब है कि "स्थानीय क्षेत्र" के साथ ही ग्रामीण विकास के लिये योजना में महत्वपूर्ण इकाई के नाते परिवार को भी चिन्हित किया जाना चाहिये।

भारत में परंपरागत रूप से जिला ही वह प्रशासनिक इकाई रहा है जिसमें स्थानीय स्तर की आयोजना के लिये कुछ जरूरी आधारभूत योग्यताएं मौजूद हैं। लेकिन जिलों का औसत क्षेत्रफल ९००० वर्ग कि० मी० और जनसंख्या १५ लाख है जो इस कार्य के लिये बहुत बड़े हैं। इधर हाल में उप-जिला-स्तर पर स्थानीय आयोजना की उपयुक्त इकाई के नाते औसत ६०० वर्ग कि० मी० क्षेत्रफल और

मंथन

और अन्य विकास संस्थाओं
इस संदर्भ में इस बात
है कि जब तक ग्रामीण
के क्रियात्मक पहलू पूरी
स्तरों को नहीं सौंपे जायेंगे,
प और स्थानीय शासकीय
क दूसरे पर छाने से संबंधित
।

कों में हमारे देश में ग्रामीण
में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है।
ष्टिकोण और बल प्रस्तावित
ी क्र०१ में बताया गया है।

खा जा सकता है कि ग्रामीण
आ आग्रह लक्ष्य समूहों, यानि
ये आयोजना के पक्ष में है,
का प्रमुख बदलाव "गरीबी
त रणनीतियों" की ओर है।
मीण विकास किसी क्षेत्र के
केन्द्रित है तथा उसके प्रमुख
ी की हालत को दूर करना
जगार के अवसर पहुंचाना।
कार्य के लिए सौंची गयी
ऐसी होनी चाहिए कि लोग
ड़ में बिना पहचान वाली
ायें। इसका मतलब है कि
थ ही ग्रामीण विकास के लिये
काई के नाते परिवार को भी
हिये।

ागत रूप से जिला ही वह
है जिसमें स्थानीय स्तर की
जरूरी आधारभूत योग्यताएं
ं का औसत क्षेत्रफल ९००० संख्या १५ लाख है जो इस हैं। इधर हाल में उप-जिला-योजना की उपयुक्त इकाई के कि० मी० क्षेत्रफल और१

लाख जनसंख्या वाले विकास प्रखंड प्रस्तावित किये गये हैं और प्रखंड को आधारभूत इकाई मानकर स्थानीय-स्तर आयोजना के लिये पद्धतियां देश के विभिन्न भागों में विकसित हो रही हैं। प्रभावी ग्रामीण विकास मूलतः विभिन्न क्षेत्रीय स्तरों को पहचानना और इन स्तरों पर अच्छी तरह क्रियान्वित होने वाले आयोजना कार्यों का दायरा निश्चित करना है। इस संदर्भ में आवश्यक प्रश्न यह है कि—भारत जैसे देश में विकेन्द्रीकरण की रूपरेखा क्या होनी चाहिये? ग्रामीण विकास की तकनीकी आवश्यकताओं को पूरा करने में चुनी गई क्षेत्रीय इकाइयों की क्षमता की दृष्टि से इस सवाल पर विशेष छानबीन की जरूरत है।

विकेन्द्रीकरण की रूपरेखा

विभिन्न कारणों से संपूर्ण रणनीति विकसित करने, ऋण सहित संसाधन आवंटन और विभिन्न प्रकार की परियोजनाओं के परिसीमन के लिए आधारभूत आयोजना इकाई के रूप में जिले का प्रयोग जारी रहना चाहिये। लेकिन चूंकि जिला एक बड़ी इकाई है, इसलिए क्षेत्र-आधारित विकास के लिए प्रखंड पर ही ध्यान दिया जाना चाहिए। "लक्ष्य समूह" पर बल और "ग्रामीण विकास के लिए प्रत्येक परिवार" दृष्टिकोण के कारण ग्रामीण ऋण संगठित करने और कृषि अंतर्धारितों को पहुंचाने के लिये प्रखंड भी अव्यवस्थानीय इकाई बन जाती है। इसी संदर्भ में हमें अपने देहातों के सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण के लिए गतिशील वाहक के रूप में गांवों के समूह को मिलाकर उप-प्रखंड इकाई का विचार करना पड़ता है। तमिलनाडु के सोमंगलम्* अनुभव जैसे हमारे देश में ग्रामीण विकास के कुछ सफल प्रयोगों ने गांव समूह पद्धति की उपयोगिता प्रदर्शित की है। अशोक मेहता कमेटी ने भी राज्य स्तर के नीचे विकेन्द्रीकरण के दो स्तरों—जिला और मंडल (गांव समूह) स्तर—को मान्यता दी है। उप-प्रखंड इकाई के नीचे गांव और खेत स्वयं ही आयोजना इकाई हो जायेंगे।

ऊपर के विचारों को संयोजित कर, भारतीय संदर्भ में ग्रामीण विकास के लिए बहुस्तरीय आयोजना संगठित करने के लिए निम्नलिखित पांचस्तरीय पद्धति का सुझाव दिया जा रहा है। (सारणी क्र० २)।

निष्कर्ष के रूप में हम यह देख सकते हैं कि ग्रामीण विकास की बदलती अवधारणाओं के स्थान पर निश्चित कार्रवाई स्तरों की संख्या में वृद्धि निहित है। इसके परिणामों को समझने और उसके अनुसार देश में आयोजना प्रक्रिया को संगठित करने को जोड़ने का काम व्यवहारिकता का है। यह लगता है कि ग्रामीण विकास कार्यक्रमों की सफलता मुख्यतः उस सीमा पर निर्भर है जहां तक अधिकार ग्रामीण गरीबों और उनकी संस्थाओं को दिये जाते हैं। अतएव इन संस्थाओं को विभिन्न भौगोलिक स्तरों के उपयुक्त विकसित करना आवश्यक है। ऐसी बहुस्तरीय संस्थागत आयोजना और विकास के बिना, ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन स्तर में सुधार केवल सीमित ही नहीं रह जायेंगे, बल्कि उलट भी सकते हैं।

---

* तमिलनाडु की सोमंगलम ग्रामीण विकास परियोजना एक सफल प्रयोग का उदाहरण है। परियोजना का लक्ष्य था: चुने हुए ११ गाँवों में विभिन्न विकास विभागों के क्रियाकलापों को केन्द्रित कर और रचनात्मक स्वयंसेवी-संस्थाओं का सहयोग लेकर तथा जरूरी मात्रा तक संस्थागत वित्त की व्यवस्था कर सर्वांगीण विकास लाना। परियोजना क्षेत्र में २२४० परिवार थे। प्रारम्भिक चरण में ६४४ परिवारों की मासिक आय १०० रुपये प्रति परिवार से कम और ९६ परिवारों की ४०० रुपये प्रति परिवार से अधिक थी। तीन वर्ष बाद (१९७६-७९) केवल ३६ परिवारों की आय १००.०० रुपये से कम थी और ६४४ परिवारों की आय ४०० रुपये से अधिक। लाभकारी आर्थिक व्यवसाय उपलब्ध कराकर और आर्थिक सहयोग का दायरा विस्तृत कर क्षेत्र की वृद्धि क्षमता के रूपायन से ही यह संभव हुआ।

सारणी-१

दिशा	वरीयता
१. ग्रामीण पुनर्निर्माण	स्वयंसेवी प्रयास के सिद्धांतों पर आधारित ग्राम-केन्द्रित आंदोलन ।
२. सामुदायिक विकास	प्रेरणा, आत्म-सहायता और आत्मनिर्भरता के विचारों पर आधारित ग्रामीण विकास
३. लक्ष्य क्षेत्र	सक्रियता के चुने हुए क्षेत्र या क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक लाभ के क्षेत्रों पर एकाग्रता होने पर बल के साथ सघन विकास ।
४. लक्ष्य समूह	आबादी के कमजोर वर्गों के लिये सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि
५. वृद्धि केन्द्र	क्षेत्रीय आयोजना और विकास
६. पिछड़े क्षेत्र का विकास	विकास में क्षेत्रीय असंतुलन को कम करना
७. न्यूनतम आवश्यकतायें	सामाजिक उपभोग का समानीकरण
८. पूर्ण रोजगार सहित क्षेत्र आयोजना	बेरोजगारी (गरीबी) उन्मूलन को प्रमुख लक्ष्य मानकर एक क्षेत्र में ग्रामीण विकास ।

सारणी-२

स्तर	आयोजना अंग	आयोजना लक्ष्य (उदाहरण)
१. खेत	खेत आधारित क्रिया कलापों सहित खेत की आयोजना	(१) खेत अधिसंरचना और औजार एवं (२) खेत अंतर्धारितों के लिये (१) फसल ढांचा और (२) फसल चक्र का निश्चय
२. गांव	(क) ग्राम पुनर्निर्माण आयोजना	(क) नेतृत्व (ख) सार्वजनिक सुविधाओं (बिजली और संचार, यातायात और किराये एर औजार) (ग) आवसा सार्वजनिक भवन, स्थानीय सड़कों की सफाई के लिये आयोजना ।
	(ख) ग्राम उत्पादकता आयोजना	(क) खेत उत्पादन (ख) जल आपूर्ति प्रणाली (ग) सामुदायिक स्वास्थ्य
		(घ) लघु उद्योगों और स्थानीय व्यापार तथा वाणिज्य क्रिया कलापों के लिए आयोजना

	(ग) मानवीय संसाधन आयोजना	(क) बुनियादी शिक्षा और साक्षरता कार्यक्रम (ख) किसानों और कारीगरों के प्रशिक्षण सहित पूरक रोजगार कौशलों का कार्य प्रशिक्षण
३. उप-प्रखंड	(क) कृषि विस्तार आयोजना	प्रदर्शन, किसानों का प्रशिक्षण
	(ख) सामान्य आर्थिक सेवा आयोजना	कृषि समर्थक सेवाओं के लिये आयोजना
	(ग) यातायात आयोजना	अंतर्ग्रामीण सड़कों के लिये आयोजना
	(घ) मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए आयोजना	जल आपूर्ति, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य, ग्रामीण विद्युतीकरण, शिक्षा, आवास और अन्य सामुदायिक तथा तृतीयक सेवाओं के लिये आयोजना।
४. प्रखंड	(क) भूमि-उपयोग आयोजना	प्राकृतिक संसाधन भंडार, प्रखंड आयोजना का निर्माण
	(ख) पूर्ण रोजगार आयोजना	रोजगार स्थिति का सर्वेक्षण और कौशलों की पहचान
	(ग) स्थानपरक आयोजना सेवायें	बुनियादी न्यूनतम आवश्यकताओं का सर्वेक्षण, आवश्यकताओं का आकलन और बैंक-योग्य परियोजना का निर्माण
५. जिला	(क) परिप्रेक्ष्य आयोजना	संसाधन सूची, लक्ष्य निर्धारण और पूर्व सूचना संधान, कार्यक्रम निर्धारण कमांकन, संपूर्ण रणनीति का विकास
	(ख) वार्षिक कार्यक्रम बनाना	ऋण परियोजना निर्माण सहित संसाधन आवटन, जिला परिप्रेक्ष्य आयोजना और राज्य वार्षिक आयोजना के प्रकरश में प्रखंड स्तर योजनाओं तथा जिला योजनाओं का समन्वय
	(ग) कार्यशक्ति बजट	पूर्ण रोजगार के लिये आयोजना

□

ग्राम-विकास में

व्यावसायिक बैंकों की भूमिका

□ बैंकमैन

यदि भारत में ग्राम-विकास को सफल बनाना है तो कृषि और संबद्ध उद्योगों में निवेश के साथ-साथ आधारभूत ढांचे की समस्याओं को भी ध्यान में रखना होगा। कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था में यह आवश्यक है कि ठीक समय पर अधिकांश किसानों को पर्याप्त निवेश उचित दामों पर सुलभ करने का प्रबन्ध किया जाए। साथ ही भूमिगत जल की निकासी और सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करने के अलावा परिवहन और विपणन के रास्ते भी निकालने पड़ेंगे, ताकि छोटे किसान के लिये पर्याप्त प्रतिफल सुनिश्चित हो सके। यदि वह अपनी उपज अधिकतम मात्रा में करना चाहता है तो मिश्रित और उच्च कोटि के बीजों, खादों, बिजली इत्यादि की उपलब्धि भी उसके लिए सुनिश्चित करनी होगी। उसकी रोटी चलाने लायक कीमतें उसे मिल सकें इसका भी उसे भरोसा दिलाना होगा। भूमिहीन श्रमिकों को वर्ष में ज्यादातर समय तथा औसत और छोटे किसानों को गर्मियों के दौरान बेरोजगार रहना पड़ता है इसका विचार भी करना होगा। हमारे देश में परिवार नियोजन, शिक्षा और स्वास्थ्य का भी गंभीर महत्व है।

ग्राम पुनर्रचना में ऋण की एक महत्वपूर्ण भूमिका है चूंकि यह निवेश का एक बड़ा भाग है। पर्याप्त ऋण के बिना कृषि की प्रक्रिया सुगमता से नहीं चल सकती। किसानों को केवल पूंजी-निर्माण के लिये ही नहीं बल्कि खरीफ की फसल के समय दिन-प्रतिदिन के खर्चों के लिये भी ऋण की आवश्यकता होती है। ऋण धनवान किसानों के हाथ में एक ऐसे रचनातंत्र के रूप में रहा है जिससे वे गरीब किसानों की बचत हथिया लेते हैं और यह इस बात से स्पष्ट है कि ग्रामीण-ऋण के एक बड़े भारी भाग की पूर्ति गैर-संस्थागत साधनों से होती है। १९५१-५२ में यह अनुमान लगाया गया था कि ७५० करोड़ रुपये के आवश्यक ऋण में से ९० प्रतिशत से अधिक गैर-संस्थागत साधनों द्वारा दिया गया था। १९५० और १९६० के दशकों में, हालांकि संस्थागत साधनों द्वारा मिलने वाले ऋण के प्रतिशत में थोड़ी वृद्धि हुई, तो भी महाजनों और ऐसे ही वित्तीय ग्रामीण साधनों की ग्रामीण ऋण-बाजार में प्रमुख भूमिका बनी ही रही।

बैंकों का क्षेत्र

भारत में बैंकों ने अनेक उल्लेखनीय सफलताएं प्राप्त की हैं। बैंकों की शाखाओं की संख्या ८,००० से बढ़कर २५,००० हो गई है। प्रति शाखा जन-संख्या घटकर १८,००० रह गई है। बैंकों में जमा राशि ४,६४६ करोड़ रुपये से बढ़कर १५,०३६ करोड़ रुपये हो गई है। प्रति व्यक्ति जमा १८८ रुपये से बढ़कर २४७ रुपये हो गई है। प्रति व्यक्ति ऋण ६८ रुपये से बढ़कर १६८ रुपये और राष्ट्रीय आय की प्रतिशत जमा १५.३ से बढ़कर २२.२ हो गई है। ऋण जमा अनुपात लगभग ६७ प्रतिशत है। परंतु वास्तव में यह सभी स्थानों पर समान रूप से नहीं हुआ है। ग्रामीण-क्षेत्र को इससे यथेष्ट फायदा नहीं पहुंचा है और बैंकों की कुल ऋण-राशि का केवल एक छोटा सा भाग इसे उपलब्ध हुआ है। यद्यपि सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन का ५० प्रतिशत कृषि क्षेत्र से आता है, तो भी व्यावसायिक बैंक ग्रामीण-ऋण के केवल ९.४ प्रतिशत की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार ग्राम-विकास में व्यावसायिक बैंकों की भूमिका को पूर्वकालीन उपलब्धियों, परिवीक्षण की चालू योजनाओं और विकास के भावी क्षेत्रों के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

भारत के अतीत की जड़ें तो कृषि की सफलताओं से बड़े गहरे तक जुड़ी रही हैं। परन्तु वर्तमान को यह सुनिश्चित करना होगा कि भविष्य की प्राथ-

मिकताएं स्पष्ट तौर पर निर्धारित कर दी जाएं ताकि समय रहते उपयुक्त कदम उठाए जा सकें। कृषि तो देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ रहेगी ही, परन्तु भविष्य ग्रामों के औद्योगीकरण में निहित है। अतः हालांकि आज ग्रामीण क्षेत्र की प्रगति में व्यावसायिक बैंकों का सहभाग बहुत कम है, तो भी बैंकों की शाखाओं में वृद्धि, जमानत पर उधार देने की बजाय उत्पादकता-आधारित ऋणों के प्रचलन तथा गैर-संस्थागत साधनों के मुकाबले सस्ते दामों पर वित्त की उपलब्धि में तेजी से वृद्धि होने के कारण व्यावसायिक बैंकों द्वारा ग्राम-विकास कोई बहुत दूर की बात नहीं लगती। लेकिन बैंकिंग एक विकासमूलक प्रक्रिया है और बैंकिंग-प्रणाली में ऐसे सभी परिवर्तनों का समावेश करना पड़ेगा।

अदायगी की समस्या

परंतु बैंक ग्राम-विकास के लिये किस सीमा तक वित्तीय प्रबंध कर सकते हैं? व्यावसायिक बैंकों की अपने जमाकर्ताओं के प्रति भी एक जिम्मेदारी है कि उनके धन का सुरक्षित तरीके से इस प्रकार विनियोग किया जाए कि उनके लाभ (ब्याज के रूप में) सुनिश्चित रहें। महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्र-प्रदेश इत्यादि राज्यों में छोटे किसानों पर काफी समय से बकाया सहकारी ऋणों को बट्टे-खाते डाल दिये जाने का संबद्ध राज्यों के साधनों पर घोर असर पड़ना अवश्यम्भावी है। संस्थागत ऋण लेने वालों के बीच एक मनोविकृति का निर्माण होता है कि ज्यादातर धन लौटाये जाने की आवश्यकता नहीं है। तमिलनाडु में तो किसान संगठन ने, जो कि एक शक्तिशाली गुट है, पहले ही राष्ट्रीयकृत बैंकों से लिये ऋण की अदायगी स्थगित करने की मांग की है। यदि यह मांग मान ली जाए तो अन्य ऋण लेने वालों को, जो नियमित रूप से अदायगी करते हैं, भी ऋणों को वापस न करने के लिये प्रेरणा मिलेगी। असल में केवल वास्तविक परेशानी के मामलों में ही राशि लौटाने में पांच-दस साल की छूट दी जा सकती है और कृषि के लिये ताजा ऋण दिया जा सकता है। जानबूझकर भुगतान न करने वालों की संख्या में चौंका देने वाली वृद्धि हुई है, और डा० डेरे का यह आकलन सही है कि सहकारी-क्षेत्र में जो दोष पैदा हुए हैं वे राजनीतिक हस्तक्षेप के सहयोग से जानबूझकर अदायगी न करने वालों के कारण हैं। अच्छा होगा कि इस बीमारी को यहीं रोक दिया जाय और व्यावसायिक बैंकों के क्षेत्र में न फैलने दिया जाए।

यह बड़ी हानिप्रद स्थिति है कि एस.डी.ओ. और बैंक मैनेजर के लक्ष्यों में भारी अंतर रहता है। लक्ष्य-अभिमुख ऋण देना तथा ऋण लेने वालों की अंतर्निहित शक्ति की पहचान करना ग्रामीण शाखाओं के मैनेजरों को स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि ऋण देते समय सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें सावधानियां बरतनी होती हैं। यदि बिना यह सुनिश्चित किये ऋण स्वीकृत कर दिये जाएं कि, उनका प्रयोग उत्पादक कार्यों के लिये होगा तथा उनसे इतना लाभ मिल सकेगा कि उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ब्याज देने के लिये राशि बच रहेगी, तो यह आत्महत्या जैसा होगा। "तलवार कमेटी की रिपोर्ट" में दिये गये सुझावों के आधार पर परिवर्तन लाने में भी ज्यादातर राज्यों को हिचकिचाहट है। एक कारण यह भी है कि व्यावसायिक बैंक बाध्य करने के ऐसे साधन इस्तेमाल नहीं कर सकते जो सहकारी संस्थाओं को उपलब्ध हैं।

व्यावसायिक बैंकों को कृषि-संबंधी कार्यों के लिये वित्त-व्यवस्था में किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है यह समझने के बाद हम यह अध्ययन करेंगे कि व्यावसायिक बैंकों ने कृषि को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वित्त द्वारा किस प्रकार की ऋण सुविधाएं प्रदान की हैं।

कृषि क्षेत्र को वित्तीय सुविधाएं

व्यावसायिक बैंक कई प्रकार की ऋण योजनाओं के द्वारा कृषि क्षेत्र को प्रत्यक्ष वित्त प्रदान करते हैं। पांच प्रमुख प्रस्ताव हैं: १. फसल २. लघु-सिंचाई ३. ट्रैक्टर ४. डेरी चालन और ५. मुर्गीपालन। इसके अतिरिक्त स्थानीय विशिष्टता पर आधारित योजनाएं तथा विश्व बैंक के सहयोग से चलने वाले प्रकल्प, कुछ विशिष्ट कार्यक्रम जैसे **स्माल फारमर्स**

ी है कि सहकारी-क्षेत्र में
ं राजनीतिक हस्तक्षेप के
अदायगी न करने वालों के
ग्रा कि इस बीमारी को यहीं
ावसायिक बैंकों के क्षेत्र में

स्थिति है कि एस.डी.ओ. और
में भारी अंतर रहता है।
ा तथा ऋण लेने वालों की
चान करना ग्रामीण शाखाओं
र्य नहीं हो सकता क्योंकि
की दृष्टि से उन्हें सावधानियां
द बिना यह सुनिश्चित किये
ये जाएं कि, उनका प्रयोग
होगा तथा उनसे इतना लाभ
क्ता की आवश्यकताओं की
के लिये राशि बच्च रहेगी,
होगा। "तलवार कमेटी की
सुझावों के आधार पर परि-
तर राज्यों को हिचकिचाहट
ी है कि व्यावसायिक बैंक
न इस्तेमाल नहीं कर सकते
को उपलब्ध हैं।

ं को कृषि-संबंधी कार्यों के
किन समस्याओं का सामना
झने के बाद हम यह अध्ययन
बैंकों ने कृषि को प्रत्यक्ष और
स प्रकार की ऋण सुविधाएं

सुविधाएं

कई प्रकार की ऋण योजनाओं
प्रत्यक्ष वित्त प्रदान करते हैं।
हैं: १. फसल २. लघु-सिंचाई
ालन और ५. मुर्गीपालन।
ोष विशिष्टता पर आधारित
बैंक के सहयोग से चलने वाले
कार्यक्रम जैसे **स्माल फारमर्स**

डेवलपमेंट एजेंसीज (SFDA), **मार्जिनल फारमर्स एन्ड एग्रीकल्चर लेबरर्स एजेंसीज** (MFAL) **और ड्रॉट प्रोन एरियाज प्रोग्राम** (DPAD), विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा तैयार क्षेत्र-अभिमुख योजनाएं और कृषि वित्त निगम द्वारा व्यावसायिक बैंकों के लिए तैयार योजनाएं। ए. आर. डी. सी. के मार्गदर्शक सिद्धांतों पर तैयार क्षेत्र-अभिमुख योजनाएं व्यावसायिक बैंकों द्वारा पुनर्वित्त के लिये योग्य मानी गई हैं। इस प्रकार व्यावसायिक बैंकों की ऐसी योजनाएं, जिनके द्वारा कृषकों को उत्पादक और विकास कार्यों के लिये प्रत्यक्ष ऋण दिया जाता है, प्रत्यक्ष वित्त ऋण योजनाओं के अंतर्गत श्रेणीकृत की गई हैं।

अप्रत्यक्ष वित्त योजनाएं रिजर्व बैंक द्वारा निम्न-लिखित रूप से श्रेणीकृत की गई हैं :

१. खादों, कीटनाशकों और बीजों के लिये वित्त-वितरण के लिए उधार।
२. कुंओं द्वारा सिंचाई के लिए खेतों को बिजली देने के उद्देश्य से विद्युत् बोर्डों को ऋण।
३. किसानों के प्राथमिक कृषि ऋण-संगठनों (पी. ए. सी. एस.) के माध्यम से ऋण।
४. किराये पर वितरण के लिये कृषि संबंधी संयत्र खरीदने के लिए ऋण।
५. गोदाम आदि के निर्माण के लिए ऋण।
६. दवाओं के छिड़काव आदि के कामों के लिए ऋण।
७. सहकारी बाजार संगठनों को ऋण।
८. सहकारी बैंकों को ऋण।
९. कृषकों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से सहकारी वित्त व्यवस्था।
१०. कृषि उद्योग सहकारी कार्यों के लिए ऋण।
११. राज्यों द्वारा संचालित कृषि ऋण निगमों के लिए उधार।
१२. कृषि वित्त निगम के लिए अग्रिम धन-व्यवस्था।

"लीड बैंक स्कीम"

ग्राम विकास के कार्यों में बैंकों को ज्यादा निकटता से शामिल करने के लिए सन् १९६९ में "लीड बैंक स्कीम" तैयार की गई। देश के सभी ३५० जिलों में सार्वजनिक क्षेत्र या निजी क्षेत्र दोनों के बैंकों को सौंप दिया गया है जो कि उस जिले में काम कर रहे व्यावसायिक बैंकों की शाखाओं और जिले के विकास के लिए जिम्मेदार विभिन्न सरकारी संस्थाओं के साथ संयुक्त रूप में और उनके अग्रणी बैंक के रूप में काम करेंगे। जिलों की सर्वे रिपोर्टों पर आधारित एक जिला ऋण योजना तैयार की गई है जिसमें जिला स्तर पर काम कर रही सभी वित्त संस्थाओं को शामिल करने के साथ-साथ सहकारी संस्थाओं को भी सम्मिलित किया गया है। प्रथम योजना १९७९ में समाप्त हुई, इसके परिणामों का अंदाजा लगाया जाना अभी शेष है, तो भी यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक द्वारा एक सामंजस्यपूर्ण और आयोजित प्रयास का प्रबोधन किया गया है जिसमें कुछ मात्रा में सफलता भी प्राप्त हुई है। दूसरी जिला ऋण योजना १९८०-८२ में लागू की जानी है और कृषि क्षेत्र तथा ग्रामीण उद्योग क्षेत्र में प्रत्येक बैंक के लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये हैं। तकनीकी और आर्थिक मुद्दों पर विश्वस्त आंकड़ों का उपलब्ध न होना, पर्याप्त विशेषज्ञों की कमी, प्रभाव-हीन निरीक्षण, योजना की महत्ता की स्वीकृति का अभाव आदि बातें खास तौर पर इस कारण से हैं कि इन क्षेत्रों के व्यावसायिक और सहकारी बैंकों के काम में पूरी तरह सहभागिता नहीं हैं और उनमें अर्थपूर्ण सामंजस्य का नितांत अभाव है। इसके अतिरिक्त सरकारी संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले सहायक काम उनमें से काफी अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाते।

एक बड़ी परेशानी तो उपयुक्त ऋण लेने वालों को पहचानने की ही है। सरकारी संस्थाओं से यह अपेक्षा तो की जाती है कि वे बैंकों को एक लक्ष्य-अभिमुखी कार्यप्रणाली अपनाने में मदद करें परंतु यह नहीं कि वे उन ऋणों की अवधि समाप्त हो जाने पर उगाही में भी मदद करें। आम तौर पर व्यावसायिक

और सहकारी बैंकों द्वारा दोहरी वित्त-व्यवस्था भी देखने को मिलती है और कई बार ऋण लेने वाले दिये गए पते पर ढूंढने से भी नहीं मिलते। "जिला सलाहकार समितियों" की बैठक त्रैमासिक समयांतर पर होनी चाहिये, परंतु न केवल ये समितियां काम नहीं करतीं बल्कि इन योजनाओं के आधारभूत पहलुओं के लिये भी ये महत्वहीन हैं। भू-राजस्व के सही रिकार्डों को रख-रखाव पर भी तुरंत ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

ऋण-योजनाओं की कमियां

प्रत्यक्ष-वित्त से संबंधित ऋण-योजनाओं में जो महत्वपूर्ण कमियां हैं, उन्हें रिजर्व बैंक के इस अध्ययन में इस प्रकार बताया गया है :

१. ऋण योजनाओं द्वारा जिन लक्ष्यों की पूर्ति की जा रही है उनके लिये उपलब्ध आधारभूत ढांचे की सुविधाओं और पूरक गतिविधियों के प्रति उत्साहहीन रवैया।
२. स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना वार्षिक भविष्य और ऋण की अदायगी की कार्यप्रणाली के बारे में अवास्तविक मान्यताएं।
३. उपयुक्त ऋण लेने वालों के निर्धारण और सुरक्षा-अभिमुख ऋण के दस्तावेजों और अन्य औपचारिकताओं में अत्यधिक सावधानी बरतना।
४. ऋण लेने वालों की विभिन्न श्रेणियों, खास तौर पर कम आय वाले वर्गों को उधार देने और उनका ध्यान आकर्षित करने का अभाव।
५. ऋण देते समय केवल व्यक्तिगत संपत्ति पर ही ध्यान देना, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में आमतौर पर संपत्तिमें सह-स्वामित्व रहता है।
६. प्रत्यक्ष वित्त और अप्रत्यक्ष वित्त की योजनाओं में परस्पर सामंजस्य का अभाव।

इन कमियों के कारण अधिकांश ऋण योजनाएं मानक, परंपरागत उद्देश्यों तक ही सिमट कर रह जाती हैं और बंधी बंधाई लीक पर चलने के कारण क्षेत्रगत विशिष्टताओं से अछूती रह जाती हैं। ये कमियां इस लिये हैं कि व्यावसायिक बैंकों द्वारा योजना तैयार करने और उनका मूल्यांकन करने तथा योजनाओं की तैयारी के दौरान आनेवाली विभिन्न रूपात्मकताओं की सीमाओं को पर्याप्त महत्व नहीं दिया जाता। वैसे इन कमियों का सारा दोष केवल बैंकों पर ही नहीं थोपा जा सकता। कृषि-वित्त में अनुभव की कमी से उठने वाली इनकी परेशानियां और अधिक उलझ जाती हैं क्योंकि विकास कार्यों की सूक्ष्म-स्तरीय ऐसी प्रभावी योजनाओं का अभाव है जिनसे आत्मनिर्भर ऋण-योजनाएं निकल सकती थीं। बलवंत देसाई कमेटी, जिसने व्यावसायिक बैंकों की कृषि वित्त प्रक्रियाओं के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया था, ने भी क्षेत्रीय-आयोजना के तरीके का समर्थन किया था, जिसे १९६९ से चालू लीड बैंक योजना के बाद से अपनाया गया है। बैंक रहित स्थानों पर बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार के प्रति शाखा जनसंख्या में कमी आई है। प्रत्येक तालुका के अतिरिक्त स्थानीय चौकियों पर भी बैंक की शाखाओं की योजना है। यह सही है कि शाखाओं का विस्तार विकसित जिलों के मुकाबले पिछड़े जिलों में तुलनात्मक दृष्टि से कम तेजी से हुआ है। विभिन्न आर्थिक विकास के स्तर और बैंकिंग विकास के स्तरों में विभिन्न कारणों के आधार पर एक निश्चित संबंध अवश्य है। पिछड़े हुए जिलों की वास्तविक ऋण संबंधी आवश्यकताएं कठिनाई से पूरी हो पाती हैं।

ग्राम अभिग्रहण योजना

ग्राम अभिग्रहण योजना ग्राम विकास के क्षेत्र में एक अन्य महत्वपूर्ण खोज है। दिसम्बर १९७९ के अन्त तक ५५,०७० गांवों को हाथ में लिया गया था। इन गांवों में उधार दी गई कुल राशि २१५ करोड़ रुपये की थी और ऋण प्राप्तकर्ताओं के खातों की संख्या प्रति गांव २८ थी। इस प्रकार अभिग्रहण किये गए प्रत्येक गांव को दी गई राशि केवल ५३,००० रुपये बैठती है और ऋण लेने वालों के खातों की संख्या तो बहुत कम है। राज्य-स्तर के आंकड़ों पर एक सरसरी निगाह डालने से पता चलता है कि कम विकसित राज्यों के मुकाबले प्रगतिशील राज्यों में अधिक गांवों का अभिग्रहण

ग्राम-पुनर्रचना विशेष

किया गया। अतः य
समेटना है और
व्यवस्थाएं करनी हैं
ज्यादा जोर देना पड़
होगी जब कि व्यावस
गांव के सभी खेति
योजनाएं तैयार कर
वालों की ऋण की
ही वित्तीय संस्था
हों।

प्रेरणा और प्रशिक्षण

यदि बैंकों को
हाथ में लेने हैं तो
अनिवार्य है। जहां
सवाल है सरकारी
हैं। चुने गए गांवों
उत्साह जगा सकती
पाटने के लिये स
यह कर्त्तव्य व्यावस
संस्थाओं का है कि
प्रक्रियाओं के लिये
पहुंचाएं और ऋण
करें। अन्य संस्थाओं
ग्रहण किये गए गांव
में तेजी लानी पड़े

यह सुनिश्चित
में बैंकों द्वारा प्रदत्त
गए क्षेत्रों में ही हो
व्यावसायिक क्षेत्रों
ऋण प्रक्रियाओं से
स्पष्ट उल्लेख हो
अनुपात का ६० प्र
में लगाया जाए।
को अप्रत्यक्ष रूप से
में ऋण-जमा का
भी कम है। अ
अनुबंध यह है कि

किया गया। अतः यदि बैंकों के बिखरे हुए ऋण को समेटना है और दूर-दराज के क्षेत्रों में पर्याप्त व्यवस्थाएं करनी हैं तो क्षेत्र-आधारित कार्यक्रमों पर ज्यादा जोर देना पड़ेगा। आदर्श स्थिति तो तब होगी जब कि व्यावसायिक बैंक अभिग्रहण किये गए गांव के सभी खेतिहर परिवारों के लिये खेती की योजनाएं तैयार कर सकें और प्रयास करें कि गांव वालों की ऋण की समस्त आवश्यकताओं का एक ही वित्तीय संस्था द्वारा पूरा किया जाना सुनिश्चित हो।

प्रेरणा और प्रशिक्षण

यदि बैंकों को विकास कार्य गंभीरता-पूर्वक हाथ में लेने हैं तो प्रशिक्षित कर्मचारियों का होना अनिवार्य है। जहां तक विकासपूर्ण कार्यक्रमों का सवाल है सरकारी संस्थाएं पूर्णतः असफल सिद्ध हुई हैं। चुने गए गांवों में ऐच्छिक संस्थाएं आवश्यक उत्साह जगा सकती हैं और संपर्क की खाइयों को पाटने के लिये स्वयंसेवक प्रदान कर सकती हैं। यह कर्त्तव्य व्यावसायिक बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं का है कि ऋण और फसल तथा अन्य कृषि-प्रक्रियाओं के लिये विशेषज्ञों की सलाह लोगों तक पहुंचाएं और ऋणों के प्रभावी प्रयोग को सुलभ करें। अन्य संस्थाओं के सहयोग से बैंकों को अभिग्रहण किये गए गांवों में आर्थिक परिवर्तन की चाल में तेजी लानी पड़ेगी।

यह सुनिश्चित करने के लिये कि ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों द्वारा प्रदत्त संसाधनों का उपयोग तय किये गए क्षेत्रों में ही हो रहा है और इनकी सेवाओं को व्यावसायिक क्षेत्रों की ओर नहीं मोड़ा जा रहा है, ऋण प्रक्रियाओं से संबंधित सरकारी अनुबंध में यह स्पष्ट उल्लेख होना चाहिये कि बैंक ऋण-जमा अनुपात का ६० प्रतिशत ग्रामीण या अर्धशहरी क्षेत्रों में लगाया जाए। इस अनुबंध से पिछड़े हुए क्षेत्रों को अप्रत्यक्ष रूप से अत्यधिक लाभ होगा। इन क्षेत्रों में ऋण-जमा का अनुपात ३० से ४० प्रतिशत से भी कम है। अग्रिम राशि से संबंधित एक अन्य अनुबंध यह है कि ४० प्रतिशत अग्रिम राशि ग्रामीण क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों व जनजातियों को ही दी जानी चाहिये। इसके अलावा प्राथमिक क्षेत्रों (कृषि सहित) में दी जाने वाली अग्रिम राशि कुल अग्रिम दी जाने वाली राशि का ३० प्रतिशत होनी चाहिये। इस प्रकार बैंकों को सीधे तौर पर पिछड़े जिलों को ऋण देने के लिये कोई निर्देश नहीं दिया जा रहा। इन सब अनुबंधों का बैंकों के लाभ पर कुछ न कुछ असर जरूर पड़ता है। तो भी क्योंकि यह सब बैंकिंग उद्योग का सामाजिक-दायित्व है, अतः व्यावसायिक बैंकों को चाहिये कि समाज के उत्थान में सरकार की दिल खोल कर सहायता करें।

किसी विवेकपूर्ण द्रष्टा को यह लग सकता है कि ग्रामीण क्षेत्र में काम करने वाली वित्तीय संस्थाओं के बहुमुखी होने से काफी गड़बड़ियां पैदा होंगी क्योंकि कार्य क्षेत्रों की सीमाएं नहीं रहेंगी। व्यावसायिक बैंक पहले से ही एक दूसरे के प्रतियोगी हैं, प्राथमिक कृषि ऋण समितियां, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की शाखाएं भी हैं। सहकारी बैंकों के अलावा विभिन्न राज्य-संचालित विकास सहकारी संस्थाएं इत्यादि हैं। अब तक इस दिशा में एक सामंजस्यपूर्ण प्रयास संभव नहीं हुआ है और ग्रामीण क्षेत्रों के लिये ऋण राशि की मात्रा बढ़ रही है।

ग्राम-विकास के लिये एक शीर्ष-बैंक

लगता है कि १९७३ और १९८५ के दौरान कृषि क्षेत्र की ऋण आवश्यकताएं १५३७ करोड़ रुपये से ६,४०० करोड़ रुपये तक बढ़ेंगी। और जनवरी १९८० में केन्द्र और राज्यों द्वारा एक पुनर्गठित सर्वांगीण ग्राम-विकास कार्यक्रम लागू किया गया है। इस कार्यक्रम में कृषि-विकास और पशु-पालन ग्रामों के स्थापन एवं धरेलू और कृषि उद्योगों तथा ग्रामीण योजनाओं में सुधार पर जोर दिया गया है। शिवरामन समिति, जो कि ग्राम-विकास के लिये मार्गदर्शक योजना तैयार करने के लिये बनाई गई थी, ने कृषि और ग्राम विकास के लिये एक राष्ट्रीय बैंक (नेशनल बैंक फॉर एग्रीकल्चर एन्ड रूरल डेवलपमेंट) की स्थापना का सुझाव दिया है ताकि आवश्यक संसाधनों को प्रेरित कर उन्हें प्रयोग में लाया जा सके। यह केवल कृषि के लिये एक

राष्ट्रीय शीर्ष बैंक ही नहीं हो, बल्कि ग्राम विकास के सभी पहलुओं पर ध्यान भी दे। यह ग्रामीण बैंकों और व्यावसायिक बैंकों की ग्रामीण शाखाओं के लिये पुनर्वित्त का प्रबंध भी करेगा। ग्राम विकास कार्यों की सफलता इसी पर निर्भर करती है कि वित्तीय संस्थाएं इसे कैसे व्यवहार में लाती हैं। अपनी भूमिकाओं के परस्पर व्यापन से बचा जाना चाहिये और कार्य क्षेत्र अलग करने का आधार केवल तमाम क्षमता ही नहीं बल्कि विशिष्ट ऋण की चुनौतियों को हल करने की योग्यताओं के आधार पर होना चाहिये। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के सिद्धांतों को एक बार फिर से समझना होगा क्योंकि जमा इकट्ठा करने में ग्रामीण बैंक व्यावसायिक बैंकों की ग्रामीण शाखाओं से मुकाबला नहीं कर पाए हैं और अधिकांश क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अपेक्षाओं के अनुरूप सिद्ध नहीं हुए हैं, क्योंकि राज्य सरकारों ने दोषपूर्ण सहकारिताओं के स्थान पर ऐसे बैंक स्थापित करने में कोई उत्साह नहीं दिखाया है।

ग्राम विकास में कृषि की भूमिका पर तो खूब चर्चा की गई है, परंतु ग्राम विकास वास्तव में तब तक संभव नहीं होगा जब तक कि ग्रामीण उद्योगों का विकास नहीं होता। मशीनीकरण की ओर एक दौड़ चल रही है जिसमें कृषि प्रक्रियाओं के बढ़ते लाभ दिखाई पड़ते हैं – पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि इसके उदाहरण हैं। ऐसे श्रमिकों को रोजगार देने का काम हाथ में लेना पड़ेगा जिनके पास या तो अपनी भूमि नहीं है या फिर भूमि के बहुत छोटे टुकड़े हैं। सर्वांगीण ग्रामीण विकास के काम में इस पहलू पर ध्यान दिये बिना नहीं रहा जा सकता। □

MEET THE REVOLUTIONARY—IOB

Through its large scale financing of Agriculture

Indian Overseas Bank
Good people to grow with

IOB Sustains the Tempo of the Green Revolution

AND USHERS IN A WHITE REVOLUTION TOO

ग्राम विकास में स्वयंसेवी संगठन

□ के० के० मुखर्जी*

अपने देश में ग्राम विकास के स्वयंसेवी प्रयासों का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में कई महान व्यक्तियों एवं संगठनों, जिनमें ईसाई मिशनरी और अन्य धार्मिक संस्थाएं भी सम्मिलित थीं, द्वारा किया गया था। इस शताब्दी के चालीसवें दशक के अंत तक देश के लगभग सभी भागों में ग्राम पुनर्रचना के लिये सामुदायिक विकास के प्रमुख सिद्धांतों और दृष्टिकोणों को प्रतिबिम्बित करने वाली अनेक संस्थाएं अस्तित्व में आ चुकी थीं। ऐसे प्रयासों में श्री निकेतन के निकट ब्रिटेन निवासी एमहर्स्ट के सहयोग से रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किया गया कार्य तथा सेवाग्राम में महात्मा गांधी के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। डा० स्पेन्सर मैच ने मार्तण्डम् (मद्रास) में, श्री एफ० एल० ब्राहने ने गुड़गांव में और श्री वी० टी० कृष्णमाचारी ने पुरानी बड़ौदा रियासत में इस दिशा में कुछ मौलिक कार्य किया। कुछ चुने हुए ग्रामीण क्षेत्रों में समाज जीवन के विकास की दिशा में इन्हें प्रथम व्यवस्थित प्रयास कहा जा सकता है। इनका मुख्य उद्देश्य आधुनिक तकनीकी ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग था।

विविध ग्राम-पुनर्रचना-कार्यक्रमों का संगठन करने, विकास-कार्यक्रमों की योजना एवं कार्यान्वयन के प्रयोगों, विधियों तथा उनके सफल सम्पादन के तरीकों को सातत्य से चालू रखने और इन प्रयोगों को अन्यों के लिए उपलब्ध कराने की दृष्टि से, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् स्वयंसेवी संस्थायें भी ग्राम विकास के क्षेत्र में निरन्तर योगदान करती रही हैं।

मोटे तौर पर यह इसलिये संभव हुआ है कि उन्हें स्थानीय आवश्यकताओं, समस्याओं और संसाधनों की जानकारी है, उनमें स्थानीय लोगों में रुचि उत्पन्न करने और उनका सहयोग व सहभाग प्राप्त करने की क्षमता है, साथ ही उनमें बिना अधिक खर्चा किये ग्राम विकास के क्षेत्र में नये कार्यक्रमों, रण-नीतियों व तरीकों का प्रयोग करने की प्रबल इच्छा है।

इस लेख में ग्राम विकास के कार्य में जुटी हुई स्वयंसेवी संस्थाओं के इतिहास, प्रकृति, कार्यक्रमों, कार्यकर्ता-निर्माण की पद्धतियों, नेतृत्व, लाभान्वितों, साधन जुटाने और समस्याओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया जा रहा है। यह विश्लेषण लगभग १,८५० संस्थाओं पर लागू होता है जिनका क्षेत्रीय विवरण सारणी में दिया गया है। अन्य पहलुओं का अध्ययन लगभग ३६० संस्थाओं से उपलब्ध जानकारी पर आधारित है। यह जानकारी लगभग पांच वर्ष तक योजनाबद्ध ढंग से दस्तावेजों के अध्ययन, प्रश्नावलियों, यात्राओं और साक्षात्कारों के माध्यम से एकत्रित की गई है। यहां जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे निर्देशात्मक मात्र हैं।

विकास का इतिहास

स्वयंसेवी संस्थाओं का विकास कालक्रम से अथवा क्षेत्रशः एक सा नहीं रहा है। दूसरे विश्व युद्ध तक प्रगति बड़ी धीमी रही। १९४५-५५ के बाद कुछ तेजी आई, लेकिन फिर गति मंद हो गई और फिर सन् १९६५ के बाद इन प्रयासों ने गति पकड़ी। लगभग ७० प्रतिशत संगठनों का प्रादुर्भाव गतिशीलता के इन दो कालखण्डों के दौरान हुआ। १९४५-५५ की लहर मुख्यतया महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा भावे की प्रेरणा तथा ग्राम-पुनर्रचना के माध्यम से अपने देश को विदेशी जकड़ से मुक्त कराने की जनाकांक्षा के कारण पैदा हुई। केवल सरकारी प्रयासों से ही ग्राम विकास संभव नहीं है, धीरे-धीरे इस अनुभूति के कारण युवा मानसिकता में परिवर्तन, जयप्रकाश नारायण के आंदोलन और साधनों की सुगमता से उपलब्धि ने मिलकर १९६५ के पश्चात् इन संगठनों के निर्माण को गति प्रदान की।

ग्राम विकास के लिये सरकार के नवीन उत्साह के साथ स्वयंसेवी संगठनों से सहयोग एवं सहभाग के

* अध्यक्ष, शोध विभाग, गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

मिलन से पारस्परिक सहयोग व विश्वास के एक नए युग का सूत्रपात हुआ और इसने कई व्यक्तियों तथा संगठनों को बड़े पैमाने पर विस्तृत और सर्वांगीण ग्राम-विकास के कार्यक्रम हाथ में लेने के लिये प्रोत्साहित किया।

स्वयंसेवी संगठनों के इतिहास में १९३० से १९४५ और १९५५ से १५६५ के कालखण्डों को विशेष रूप से शिथिलता का समय कहा जा सकता है। पहले कालखण्ड में इसका कारण विश्व युद्ध और "युद्धोत्तर" समुत्थान को माना जा सकता है, जबकि दूसरे कालखण्ड में शिथिलता का कारण यह था कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमों की शुरूआत होने पर लोगों को यह लगने लगा कि ग्राम-विकास कार्यों को चलाना केवल सरकार की जिम्मेदारी है।

भिन्न-भिन्न प्रयोगों में भी स्वयंसेवी संगठनों के विकास का क्रम एक जैसा नहीं रहा है। स्वयंसेवी संगठनों की बड़ी संख्या, जो कि कुल संख्या का ६० प्रतिशत होगी, पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों में स्थित है। इनमें भी पश्चिमी क्षेत्र पहले स्थान पर आता है। इस का कारण संभवतः यह है कि समाज-सुधार और स्वाधीनता आंदोलन पहले पश्चिमी तथा पूर्वी क्षेत्रों में शुरू हुए और बाद में अन्य क्षेत्रों तक फैले। इन आंदोलनों ने पश्चिमी और पूर्वी भारत के लोगों को बाहरी जगत से अवगत कराया और उनमें समाज के दलित वर्गों के उत्थान के हेतु ग्राम-पुनर्रचना कार्यक्रमों को आयोजित करने की इच्छा जागृत की।

स्वयंसेवी संगठनों की संख्या उन जिलों में ज्यादा है, जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं। कुछ क्षेत्रों में तो इनका जमघट हो गया है और ऐसे अविकसित जिलों में जहां इनकी ज्यादा आवश्यकता है, स्वयंसेवी प्रयासों का अभाव सा दिखाई पड़ता है। जो जिले सदैव सूखे या बाढ़ की चपेट में फंसे रहते हैं, वहां इन संगठनों की संख्या लगभग नगण्य है। उदाहरण स्वरूप, आन्ध्र प्रदेश में अनन्तपुर, महबूब नगर और कडप्पा, उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर और हमीरपुर, गुजरात में पंचमहल, और बनासकांठा, पश्चिम बंगाल में पुरुलिया, आसाम में कछार व नौगांव ऐसे जिले हैं जहां इन्हीं राज्यों के अन्य जिलों की अपेक्षा ऐसे संगठनों

सारिणी-१

संस्थाओं का वर्गीकरण

(राज्यों व संघीय क्षेत्रों के अनुसार)

क्र. संख्या	राज्य	संगठनों की संख्या
१.	आन्ध्र प्रदेश	१०४
२.	आसाम	७९
३.	बिहार	१६९
४.	गुजरात	१४८
५.	हरियाणा	३१
६.	हिमाचल प्रदेश	३५
७.	जम्मू व कश्मीर	१७
८.	कर्नाटक	६५
९.	केरल	१३३
१०.	मध्य प्रदेश	९१
११.	महाराष्ट्र	१२७
१२.	मेघालय	३४
१३.	मणिपुर	४
१४.	नागालैण्ड	४
१५.	उड़ीसा	७०
१६.	पंजाब	२७
१७.	राजस्थान	२१६
१८.	सिक्किम	—
१९.	तमिलनाडु	८१
२०.	त्रिपुरा	१०
२१.	उत्तर-प्रदेश	१२५
२२.	पश्चिम बंगाल	१०१
	योग	१,६७१

केन्द्र शासित क्षेत्र

१.	अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	—
२.	अरुणाचल प्रदेश	११
३.	चंडीगढ़	४
४.	दिल्ली	६५
५.	गोआ, दमन, दीव	७४
६.	दादरा और नगर हवेली	३
७.	लक्षद्वीप	—
८.	मिजोरम	१८
९.	पांडिचेरी	२
	योग	१७७

कुल योग १६७१ + १७७ = १,८४८

णी-१
ा वर्गीकरण
क्षेत्रों के अनुसार)

संगठनों की संख्या
१०४
७६
१६६
१४८
३१
३५
१७
६५
१३३
६१
१२७
३४
४
४
७०
२७
२१६
८१
१०
१२५
१०१
योग १,६७१

सत क्षेत्र

बार द्वीप समूह —
११
४
६५
७४
ड़वेली ३
१८
२
योग १७७

६७१ + १७७ = १,८४८

की संख्या बहुत कम है। आर्थिक दृष्टि से संपन्न जिलों में इन संगठनों का जमघट होने के जो अनेक कारण हैं उनमें प्रमुख हैं : साधनों व सुविधाओं की सहज उपलब्धि। स्वयंसेवी संस्थाओं के प्रादुर्भाव का राज्य के क्षेत्रफल और जनसंख्या से दूर-दूर तक संबंध नहीं है। उदाहरणार्थ क्षेत्रफल तथा जनसंख्या की दृष्टि से भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में केवल १२५ संस्थायें हैं जबकि गुजरात और केरल जैसे छोटे-छोटे राज्यों में इनकी संख्या क्रमशः १४८ और १३३ है। इन राज्यों की जनता के साक्षरता-स्तर के साथ-साथ वहां की सामाजिक जागरूकता तथा सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों में जो भिन्नता विद्यमान है, उसका इस अन्तर को पैदा करने में भारी योगदान रहा है। जिन जिलों में राज्यों की राजधानियां स्थित हैं वहीं स्वयंसेवी संगठनों का जमघट ज्यादा दिखाई पड़ता है। इसका प्रमुख कारण सत्ता-केन्द्र की निकटता और सरकार पर निर्भरता की प्रवृत्ति व अन्य सुविधाओं की अपेक्षा है। उदाहरणस्वरूप, आंध्रप्रदेश की कुल संस्थाओं में से २५ प्रतिशत अकेले हैदराबाद जिले में हैं। उत्तर प्रदेश में भी स्वयंसेवी संस्थाओं की सर्वाधिक संख्या लखनऊ जिले में विद्यमान है। राजस्थान, अरुणाचल, हिमाचल प्रदेश, केरल, कर्नाटक, मणिपुर नागालैंड, मेघालय, पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा, तमिलनाडु, गोवा, मिजोरम और पांडिचेरी आदि राज्यों में भी यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

संस्थाओं का स्वरूप व कार्यक्षेत्र

अधिकांश संस्थाओं का पंजीकरण समितियों, न्यासों या सहकारिताओं के रूप में हुआ है। प्रमुख रूप से वे गैर-लाभकारी व गैर-राजनैतिक स्वरूप में कार्य करती हैं, परन्तु कई स्थानों पर इन संगठनों से संबंधित व्यक्तियों की राजनैतिक प्रतिबद्धता है। कुछ संगठन व्यक्तिविशेष अर्थात् संस्थापकों के चारों ओर घूमते हैं। ऐसे इन संस्थापकों ने स्वयं भी टैगोर, गांधी, विनोबा या जे० पी० जैसे व्यक्तियों से प्रेरणा प्राप्त की। इनमें से केवल १५ प्रतिशत संस्थाओं का कार्यक्षेत्र समूचा राष्ट्र अथवा समूचा राज्य है। शेष सभी संस्थायें मुख्यतया गांव के स्तर पर ही काम करने वाले संगठन हैं, यद्यपि उनमें से कुछ की गतिविधियां शहरी क्षेत्रों में भी चलती हैं। जड़ तक कार्य करने वाले इन आधारभूत संगठनों के कार्यक्षेत्र का विस्तार, साधनों की उपलब्धि तथा जन-सहयोग की मात्रा पर निर्भर करता है। इन कुल संस्थाओं में से १३ प्रतिशत १० से भी कम गांवों में हैं, १२ प्रतिशत १० से २० गांवों में, ४० प्रतिशत २० से ५० गांवों में है, २७ प्रतिशत ५० से १०० गांवों में और ८ प्रतिशत १०० से भी अधिक गांवों में काम करती हैं।

हाल ही में इन संगठनों में क्षेत्रफल तथा जनसंख्या दोनों दृष्टियों से कार्यक्षेत्र का विस्तार करने की प्रवृत्ति पैदा हुई है। जो संगठन पांच साल पहले तक केवल ५ या १० गांवों में कार्यरत थे, अब उन्होंने ४० गांवों तक, और कई जगह तो पूरे ब्लाक में व्याप्त कार्यक्रम हाथ में ले लिया है। इस स्थिति के लिए साधनों की, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से, सुगम उपलब्धि तथा ग्राम विकास के कार्य में स्वयंसेवी संगठनों को सम्मिलित करने की सरकार की इच्छा मुख्यतया उत्तरदायी है। अपने कार्यक्षेत्र का निर्धारण करते समय अधिकतर संस्थाएं अपने निजी साधनों और उद्देश्यों के अलावा उस क्षेत्र में आवागमन की सुविधा, स्थानीय आवश्यकता, उपलब्ध स्थानीय साधनों तथा स्थानीय सहयोग आदि का विचार करती हैं।

कार्यक्रम

स्वयंसेवी संगठनों का वर्गीकरण उनके कार्यक्रमों के आधार पर पांच श्रेणियों में किया जा सकता है। वे हैं—शिक्षा, सिंचाई व कृषि, खादी तथा ग्रामोद्योग, पशुधन का विकास, तथा स्वास्थ्य व समाज कल्याण। सबसे अधिक संस्थाएं कृषि व सिंचाई के कार्यों में लगी हैं। यह कुल संख्या का लगभग ४० प्रतिशत है। दूसरे स्थान पर वे संगठन आते हैं जो कि शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करते हैं। इनकी संख्या लगभग २६ प्रतिशत है। खादी एवम् ग्रामोद्योग कार्य में लगभग १५ प्रतिशत संगठन कार्यरत हैं। और शेष संगठन प्रमुख रूप से पशुधन विकास तथा स्वास्थ्य व समाज-

कल्याण के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। लगभग सभी संगठनों के कार्यक्रमों का उद्देश्य समान रहता है—अपने कार्यक्षेत्र तथा वहां के निवासियों का आर्थिक विकास। सामाजिक विकास के कार्यक्रमों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। कुल संस्थाओं में से लगभग ५० प्रतिशत संस्थाओं ने समाज-विकास का कोई कार्यक्रम इसलिए नहीं लिया है क्योंकि उनकी इच्छा है कि लोगों की आर्थिक दशा को सुधार कर फिर समाज-विकास के दीर्घकालीन कार्यक्रमों पर ध्यान दिया जाए, क्योंकि इसके लिये लोगों को लगातार समझाने बूझाने और उनके दृष्टि-कोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

नये-नये प्रयोग करने की प्रवृत्ति सभी संगठनों में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरणतः "किशोर भारती" और "फेन्ड्स रूरल सेंटर" विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग कर रहे हैं, जबकि "सोशल वर्क एन्ड रिसर्च सेंटर" तिलोनिया, भूमिगत जल-विकास में तथा "आनन्द निकेतन" व "समन्वय आश्रम" जीवन-शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग कर रहे हैं। "एग्रिन्डस" छोटे बांधों द्वारा सिचाई-सुविधाओं के विकास के अतिरिक्त ग्रामीण तकनीशियनों का जत्था तैयार करने में जुटा है, तो "सेवा भारती" ने आर्थिक विकास कार्यक्रमों को हाथ में लिया है। ये कार्यक्रम अधिकांशतः उस स्थान के निवासियों की आवश्यकताओं, उस क्षेत्र में उपलब्ध साधनों तथा विभिन्न संस्थाओं के मूल उद्देश्यों पर आधारित होते हैं, और इन कार्यक्रमों का विकास स्थानीय आवश्यकताओं की पहचान और प्राथमिकताओं के निर्धारण पर निर्भर करता है।

कार्य-पद्धति

ग्राम पुनर्रचना के कार्य में संलग्न ये संस्थाएं अब तक एक समान रणनीति को विकसित करने में सफल नहीं हुई हैं। इसका कारण यह है कि इन संस्थाओं में अपने भीतर और परस्पर विचारों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया का सर्वथा अभाव रहा है। उनके बीच समन्वय का अभाव भी एक अन्य कारण हो सकता है। विभिन्न संस्थाओं की कार्यपद्धति उनके कार्यकर्त्ताओं, परिस्थितियों और उद्देश्यों के आधार पर अलग-अलग होती है। कार्यपद्धतियों का निर्धारण अधिकतर नेतृत्व करता है।

कार्यक्रम के आयोजन में कई तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है। कार्यक्रमों का निरूपण व क्रियान्वयन विभिन्न चरणों में किया जाता है, जैसे आवश्यकताओं की पहचान, उनकी पूर्ति के लिए जनमत का निर्माण, कार्यक्रमों का स्वरूप निर्धारण, कार्यक्रमों का क्रियान्वयन व आकलन। यद्यपि प्रत्येक चरण में कार्यपद्धति भिन्न हो जाती है, तो भी इस सभी चरणों के लिये सभी स्तरों, यथा व्यक्ति समूह व समुदाय के स्तर पर उन्हीं गोष्ठियों में समान विचार विमर्श होता है।

कार्यकर्त्ता

स्वयंसेवी संस्थाओं में वैतनिक और अवैतनिक दोनों प्रकार के कार्यकर्त्ता होते हैं, पर वैतनिक कार्यकर्त्ताओं की संख्या काफी अधिक होती है। वैतनिक और अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं का अनुपात लगभग २ : १ का पाया गया है। कहीं कहीं कार्यकर्त्ताओं की संख्या अधिक होने पर यह अनुपात १ : १०० तक भी पहुंचता है। प्रशिक्षित कर्मचारियों के अभाव और अपर्याप्त साधनों के कारण ये कार्यकर्त्ता बहुधा बहुधन्धी कार्यकर्त्ता होते हैं। इसलिए कभी-कभी कार्यकर्त्ताओं को ऐसे कार्य करते हुए देखा जा सकता है जिनका उनकी शैक्षणिक पृष्ठभूमि व प्रशिक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। एक संगठक का कहना है, "हमारे पास अधिक कार्यकर्त्ताओं को रखने का सामर्थ्य नहीं है। अतः स्पष्ट ही हम ऐसे व्यक्तियों को पसंद करते हैं जो प्रत्यक्ष क्षेत्र व कार्यालय दोनों जगह काम कर सकें।"

कार्यकर्त्ताओं के चयन और नियुक्ति के लिए कई माध्यम अपनाये जाते हैं: जैसे व्यक्तिगत संपर्क, शिविर और कार्य-प्रकल्प, मित्रता के आधार पर या विज्ञापनों द्वारा। विज्ञापन के द्वारा कार्यकर्त्ता की भर्ती "सेवा मंदिर" और "सेंट जेवियर इन्स्टीट्यूट आफ सोशल सर्विस" जैसी बहुत ही कम संस्थाओं के द्वारा की जाती है। अधिकतर संगठन व्यक्तिगत

संपर्क या मित्रों के माध्यम से कार्यकर्त्ता का चयन अधिक पसंद करते हैं, क्योंकि आम तौर पर इन माध्यमों से उन्हें उपयुक्त कार्यकर्त्ता सरलता से मिल जाते हैं। वैतनिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करते समय ये संस्थायें अपने ही स्वयंसेवी कार्यकर्त्ताओं को वरीयता देती हैं। इसके साथ ही कार्यकर्त्ताओं की रुचियों तथा प्रेरणाओं को भी पूरा महत्व दिया जाता है व ग्रामीण समस्याओं की उनकी समझ, शिक्षा एवं प्रशिक्षण को भी ध्यान में रखा जाता है।

ऐसा लगता है कि अधिकांश वैतनिक कार्यकर्त्ताओं की मुख्य प्रेरणा नौकरी प्राप्त करना है। कुछ लोग स्वयंसेवी संगठनों में इसलिए भी जुट जाते हैं, क्योंकि उनमें देश और जनता की सेवा करने की लगन होती है, सामाजिक-आर्थिक ढांचे में परिवर्तन लाने की लालसा होती है, वे अपनी परोपकार-भावना व सृजनात्मक प्रेरणा की पुष्टि करना चाहते हैं, क्योंकि वे सरकारी सहायता के बिना भी स्वतंत्र रूप से प्रयोग करना चाहते हैं। इनमें से पहले चार प्रकार की प्रेरणायें समान रूप से पायी जाती हैं। जिन संगठनों का नमूने के तौर पर अध्ययन किया गया, उनके अधिकांश कार्यकर्त्ता हिंदू हैं। मुस्लिम व ईसाई कार्यकर्त्ताओं की संख्या बहुत कम है। कुल कार्यकर्त्ताओं में मात्र ५ प्रतिशत ही अल्पसंख्यक समुदायों से संबंधित हैं। कार्यकर्त्ताओं की कुल संख्या का ९० प्रतिशत भाग पुरुष है। महिला कार्यकर्ताओं की अपेक्षा पुरुषों का भारी बाहुल्य इस बात का परिचायक है कि स्वयंसेवी संगठनों में महिलाओं के लिए काम के अवसर बहुत कम हैं। इस कार्य में आने वाले जोखिमों और आवास आदि की प्राथमिक सुविधाओं के अभाव के कारण भी इस क्षेत्र में महिलाओं का प्रवेश बहुत सीमित रह गया है।

ऐसे भी बहुत से कार्यकर्ता होते हैं जो मूल रूप से उस क्षेत्र के निवासी नहीं होते जहां उन्हें काम करना है। इनमें से लगभग ५० प्रतिशत शहरी क्षेत्रों से लाये गए होते हैं। कार्यकर्ताओं की बहुसंख्या (लगभग ७० प्रतिशत) का आयु वर्ग ३० से ३५ वर्ष है, तथा औसत आयु ३७ वर्ष के लगभग है।

कार्यकर्ताओं की शैक्षणिक पृष्ठभूमि में काफी भिन्नता है किन्तु सामान्यतया उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण का स्तर अपेक्षाकृत कम होता है। "एग्रिन्डस", "किशोर-भारती" और "सेवा-मंदिर" जैसे कुछ अपवाद-स्वरूप संगठनों के अलावा, जिनके पास साधारण वेतन के बावजूद योग्य एवं प्रशिक्षित कार्यकर्ता हैं, अन्य संस्थायें प्रशिक्षित और अनुभवी कार्यकर्ताओं को अपनी ओर आकर्षित कर पाने में असमर्थ रही हैं। और इसका बहुत कुछ कारण उनके पास साधनों का अभाव है। कुछ अपवादों को छोड़कर ज्यादातर संगठनों का संचालन बूढ़े लोगों के हाथ में है जिनमें लोकतांत्रिक और अधिनायकवादी नेतृत्व का मिश्रण देखने को मिलता है। ऐसे नेता, जो अपेक्षाकृत युवा हैं, बूढ़े नेताओं की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक सिद्ध हुए हैं। इन युवा लोगों में भी जो बिल्कुल नये हैं, वे ज्यादा लोकतांत्रिक हैं। उत्तर-प्रदेश के एक स्वयंसेवी संगठन के मुखिया, जिन्होंने हाल ही में कार्य करना शुरू किया है, कहते हैं, "अधिनायकवादी होना अपने वश की बात नहीं है। पहली बात तो यह है कि मेरे पास पर्याप्त संख्या में कार्यकर्ता नहीं हैं, दूसरे, मैंने अभी काम करना शुरू ही किया है और दूसरों पर अधिकार जतलाने से पहले मुझे स्वयं ही बहुत कुछ सीखना बाकी है।"

जिन स्वयंसेवी संगठनों का अध्ययन किया गया, इनमें से लगभग सभी के पास नेतृत्व की दूसरी पंक्ति का अभाव है। वास्तव में यह सभी की समान रूप से समस्या है। संगठनों के स्थापित नेताओं के द्वारा अन्य कार्यकर्ताओं में कार्य का समुचित वितरण न करने, उन्हें प्रोत्साहन व श्रेय न देने के कारण यह समस्या पैदा हुई है। वस्तुतः नेतृत्व की एक स्वस्थ पंक्ति के खड़े होने में स्थापित नेताओं का यह रुख ही बहुधा आड़े आता है। यह देखा गया है कि कुछ संगठनों के नेताओं ने नेतृत्व को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है और इसलिये वे जाने या अनजाने नेतृत्व की दूसरी पंक्ति के उद्भव को टालते रहते हैं। जिन संस्थाओं के नेतृत्व की बागडोर जहाँ बहुत बूढ़े व्यक्तियों के हाथों में है, वहां दूसरी पंक्ति के नेतृत्व की समस्या गंभीर बन गयी है। एक सुप्रसिद्ध संगठन के बूढ़े नेता ने कहा—"मैं अपने कार्यकर्ताओं से कहता हूं कि मुझे ध्यान से सुनो और वैसा ही

करो जैसा मैं कहता हूं।"

अनेक संस्थाओं में नेतृत्व का कुछ चुने हुए व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीकरण समस्या का एक अन्य पहलू है। इसके कारण कार्य की समुचित देख-भाल नहीं हो पाती। राजस्थान के स्वयंसेवी संगठनों के अध्ययन से यह बात सामने आई है कि विभिन्न संगठनों के अध्यक्ष एवं सचिव पद कुछ ऐसे व्यक्तियों के हाथों में घूमते रहते हैं जो काफी प्रख्यात हैं और जिनका सरकार व जन-सामान्य पर कुछ प्रभाव है। फलस्वरूप एक संस्था का अध्यक्ष दूसरी संस्था के सचिव और तीसरी संस्था के कोषाध्यक्ष के रूप में कार्य करता हुआ दिखाई देता है।

साधनों का जुटाना

स्थानीय लोगों की ओर से प्राप्त होने वाले आर्थिक सहयोग में बढ़ती हुई गरीबी और अपेक्षाओं में परिवर्तन जैसे अनेक कारणों से क्रमशः कमी आती जा रही है। आजकल तो लोग चाहते हैं कि उनकी सेवा होती रहे और उन्हें सेवा के लिए कुछ देना या करना न पड़े। परोपकार व दया की भावना के कारण अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों से आर्थिक सहायता सरलता से उपलब्ध होने लगी है, जिसके फलस्वरूप स्थानीय साधनों को जुटाने की मजबूरी काफी कम हो गई है। अब लगभग सभी स्वयंसेवी संस्थायें अंतर्राष्ट्रीय दान संस्थाओं,एवं सरकार तथा बैंकों से प्राप्त अनुदान पर आश्रित होती जा रही हैं। इस वजह से इनमें से कुछ संस्थाओं ने तो चाहे जैसे कार्यक्रमों को हाथ में ले लिया है जिनका स्थानीय आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

□

With Best Compliments From

East India Transformer & Switchgear (P) Ltd.

Manufacturers of Power and Distribution Transformers

Factory at

107 Prakash Industrial Estate
Chikamberpur
P.O. Ghaziabad U.P.
Phone : 204020

Head Office at

18, Netaji Subhas Road
Calcutta 700 001
Phones : 22-3401 (5 li nes)
Gram : ALJUTLES

ग्राम विकास में महिलाओं का सहभाग

□ सुतपा मुखर्जी*

यद्यपि ग्राम विकास के क्षेत्र में स्वयंसेवी संगठनों की गतिविधियों तथा इनकी सहभागिता में वृद्धि हुई है, परंतु इसमें पुरुषों का ही आधिपत्य बना हुआ है। इन संगठनों में भाग लेने वाली स्त्रियों की संख्या सर्वथा नगण्य है जबकि देश की कुल जनसंख्या का ५० प्रतिशत महिलाएं हैं। यह तथ्य निम्नलिखित दो विश्लेषणों के प्रयासों से सामने आया :

१. ग्राम विकास के कामों में लगे कार्यकर्ताओं की पृष्ठभूमि, और
२. सन् १९७७-७८ के दौरान ग्राम विकास पर आयोजित सम्मेलनों, सेमिनारों तथा कार्यशालाओं में भाग लेने वालों का विवरण।

पहले अध्ययन से यह पता चला कि स्वयंसेवी संगठनों के कुल कार्यकर्ताओं में महिलाएं केवल १० प्रतिशत ही हैं, जबकि दूसरा अध्ययन यह बताता है कि केवल ५ प्रतिशत महिलाओं ने ऐसे कार्यक्रमों में भाग लिया।

केवल भारतीय ग्रामीण महिला संघ, कस्तूरबा मेमोरियल ट्रस्ट आदि कुछ संगठनों जैसे अपवादों को छोड़ कर जो कि महिलाओं के लिये व्यापक तौर पर कार्य करते हैं। इन संगठनों की संचालन समितियों में महिलाओं के प्रतिनिधित्व की स्थिति आज भी वैसी ही बदतर बनी हुई है। उपलब्ध जानकारी के अनुसार ५० प्रतिशत संगठनों में महिलाओं का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है।

अतः स्त्रियों का इन संगठनों में कार्यकर्त्री या कार्यक्रमों के आयोजन में एक अधिकारी के रूप में रहना दिखावा मात्र ही रह गया है तथा निर्णय लिये जाने में तो इनकी सहभागिता बिल्कुल ही नहीं है। जिन संगठनों में नीति के तौर पर एक या दो महिलाओं को प्रबंध-समिति में लेना आवश्यक हो जाता है वहां भी इससे भिन्न स्थिति देखने को नहीं मिलती। विरले अवसरों पर ही महिला प्रतिनिधि कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर पाती हैं। एक ऐसी महिला, जिसे किसी स्वयंसेवी संगठन की अध्यक्षा बना दिया गया था, के शब्दों में "मुझे अध्यक्ष इसलिये बनाया गया कि यह संस्था के हित में था, लेकिन मैं करती तो वही हूं जिसकी अन्य सदस्य मुझसे अपेक्षा करते हैं।"

यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यद्यपि सामान्य रूप से बहुत कम संख्या में ही महिलाएं ऐसे कामों से जुड़ पाती हैं फिर भी यह कितनी संख्या में भाग ले रही हैं यह संगठन के कार्यक्षेत्र और उसकी मान्यता पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि महिलाओं की सहभागिता ग्राम स्तर पर कार्यरत संस्थाओं की अपेक्षा राज्यीय व राष्ट्रीय स्तर पर काम कर रही संस्थाओं में अपेक्षाकृत अधिक है। ऐसी संस्थाएं, जो सुस्थापित हो चुकी हैं या मान्यता प्राप्त कर चुकी हैं, महिलाओं को अपने कार्यक्रमों के आयोजन कार्य में अधिक आकर्षित कर पाई हैं।

बाधाएं

महिलाओं के स्वयंसेवी प्रयासों में सम्मिलित न होने का प्रमुख कारण उनकी अपनी अरुचि है तथा इसके साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियां, व्यवहार तथा समाज पर पुरुष आधिपत्य भी इसके लिये जिम्मेदार हैं।

स्त्रियों में अपने परिवार से दूर रह कर कार्य करने के प्रति अनिच्छा की भावना इस बात की परिचायक है कि उनमें आत्मविश्वास की कमी है, ग्रामीण वातावरण में अनजाने या कम परिचित

* शोध सहायक, ग्राम-नियोजन केन्द्र, गाजियाबाद।

व्यक्तियों के साथ काम करने का भय उन्हें खाए जाता है। वे पुरुष के स्वभाव सहित बहुत सी अन्य चीजों से भी डरने लगती हैं। उन्ही कारणों से महिलाएं ऐसे कामों में शामिल नहीं होती जिनमें उन्हें गांवों में ऐसे स्थानों पर भी जाना पड़ सकता है जहां अन्य कोई महिला कार्यकर्त्री न हो।

वैसे भी महिलाओं में साहस व गतिशीलता की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत रूप से कम ही होती है। सामान्यतः महिलाएं बहुत कठोर और कठिन जीवन जीने की आदी नहीं होतीं। और ग्राम विकास का कार्य, कम से कम अपने आरंभिक दौर में तो, अत्यधिक कठिन और नीरस होता ही है।

जो महिलाएं गांवों में दलितों के उत्थान जैसे कार्य हाथ में लेती हैं उन्हें कदम कदम पर समाज की अस्वीकृति, प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों, व्यवहारों व मानदंडों का, कभी एक साथ और कभी अलग-अलग सामना करना पड़ता है जिससे ऐसे गैर परंपरावादी दायित्वों का निर्वाह करने में बाधाएं आती हैं। एक महिला संगठक के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, "मैं बचपन से ही लोगों के बीच रहकर सामाजिक कार्य करने में रुचि रखती थी। लेकिन मेरे माता-पिता चाहते थे कि मैं अध्यापिका या डॉक्टर बनूं। जब मैंने अपना वर्तमान कार्य, यानि ग्राम विकास कार्यों में संगठक का काम शुरू किया और मुझे गांव-गांव भटकना पड़ा तब मेरे माता-पिता को लगा कि मैंने उनकी व परिवार की प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया है।" एक प्रसिद्ध संगठन की एक अन्य महिला का कहना है कि, "जब मैं उस क्षेत्र में काम करने के लिये गई, तब वहां के लोगों ने सोचा कि जरूर मेरे व्यक्तित्व या चरित्र में कोई दोष होगा। मुझ पर ताने भी कसे गए। परंतु जब उन्होंने पाया कि मैं न केवल अपने कार्य को लगन से कर रही हूं बल्कि मेरा उद्देश्य केवल वही कार्य करना है तब उन्होंने उल्टा-सीधा बोलना छोड़ दिया।"

उपरोक्त समस्याओं के अलावा भी बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जो महिलाओं को इस क्षेत्र में आने से रोकती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

(अ) अपरिहार्य सुविधाओं का अभाव : स्वयंसेवी संगठन महिलाओं के लिये ऐसी अपरिहार्य सुविधाएं उपलब्ध नहीं करा पाते जो पुरुषों के लिये सामान्यतः अनिवार्य नहीं होती हैं, जैसे कि आवास आदि। यद्यपि इसका मुख्य कारण संगठनों के पास साधनों का अभाव है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसी वजह से बहुत सी महिलाएं स्वयंसेवी संगठनों में काम करने से वंचित रह जाती हैं।

(ब) संगठनों के कार्यक्रमों व गतिविधियों की अनिश्चितता: अधिकांश संगठन अपने कार्यक्रम तदर्थ रूप से चलाते हैं और वे यह विश्वास नहीं दिला पाते कि ये सतत रूप में चलेंगे। ऐसी महिलाएं, जो कि कार्यकर्त्री के रूप में काम करना चाहती हैं, साधारणतया सुरक्षित नौकरियों को प्राथमिकता देती हैं और ऐसे कामों को करने में स्वाभाविक रूप से हिचकिचाती हैं, जहां स्थायित्व और सातत्य का अभाव रहता है।

(स) उचित प्रोत्साहन का अभाव : उचित साधनों के अभाव में, संगठनों द्वारा आकर्षक वेतन दे पाने की तो दूर रही, वे कभी-कभी न्यूनतम मजदूरी तक नहीं दे पाते। ऐसी महिलाएं, जो आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कार्य करना चाहती हैं, उनके लिये उन संगठनों द्वारा दिये गए वेतन की दरें इतनी अनाकर्षक होती हैं कि वे उन्हें केवल उसी स्थिति में स्वीकार करती हैं जब उनके सामने कोई पारिवारिक विवशता खड़ी हो।

(द) कार्य की अरुचिकर प्रकृति : ग्रामों में काम करना न तो कोई प्रतिष्ठा का पद देता है, न प्रसिद्धि और प्रचार ही प्रदान करता है। अतः शिक्षित युवतियां इस काम को किसी भी स्थिति में वरीयता प्रदान नहीं करतीं और उनकी रुचि के कार्यों की सूची में इसका स्थान सबसे अंतिम ही रहता है।

महिलाओं की भागीदारी का वृत्तचित्र

केवल इतना ही नहीं है कि इस क्षेत्र में भाग

लेने वाली महिलाओं की संख्या कम है, अपितु समाज के विभिन्न भागों से भी महिलाओं का इस कार्य में प्रतिनिधित्व नहीं होता। दो भिन्न प्रकार की भागीदार महिलाएं, जिन्हें हम कार्यकर्त्री व संगठक कह सकते हैं, समाज के दो विभिन्न सामाजिक व आर्थिक वर्गों—मध्य वर्ग तथा उच्च वर्ग से आती हैं।

कार्यक्रमों को कार्य रूप देने वाली महिला कार्यकर्त्रियां अधिकतर मध्यवर्गीय परिवारों से आती हैं। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार इनमें लगभग सभी हिंदू परिवारों से (९६ प्रतिशत से भी अधिक) होती हैं। इनमें से लगभग १० प्रतिशत हरिजन एवं अनुसूचित जनजातियों की हैं। वे मुख्यतया २५-४० वर्ष के आयु वर्ग से आती हैं और उनकी शिक्षा का स्तर काफी कम होता है। उनमें से लगभग ८०% या तो दसवीं पास होती हैं या इस स्तर तक ही शिक्षित हैं। इनमें से अधिकांश या तो अविवाहित हैं या उपेक्षित हैं—एवं इन संगठनों में अपनी आर्थिक आवश्यकताओं के कारण ही कार्यरत हैं।

दूसरी तरफ प्रबन्धक वर्ग में जो महिलाएं हैं, वे ज्यादातर उच्चस्तरीय धनाढ्य वर्ग से आती हैं। उनमें भी सर्वाधिक संख्या सवर्ण हिंदुओं की ही है और हरिजन व अनुसूचित जनजातियों से आने वाली महिलाओं का अनुपात बहुत ही कम है, वे भली प्रकार से शिक्षित हैं, उनमें से कुछ तो उच्च प्रशिक्षण प्राप्त हैं और तुलनात्मक दृष्टि से कार्यकर्त्री स्त्रियों की अपेक्षा अधिक बड़े आयु वर्ग से संबंधित हैं। इनमें से ज्यादातर विवाहित हैं। कई कार्यकर्त्रियों की प्रतिष्ठा में उनके पतियों के पद व प्रतिष्ठा का बहुत योगदान है। अधिकांश कार्यकर्त्रियों का इन संगठनों से संबंध इसलिए है कि उनकी इच्छा समाज की सेवा करने की है और इससे उनकी अपने जीवन की आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। □

With Best Compliments from

Manufacturers of LPG Domestic & Industrial Gas Cylinders

INDIAN GAS CYLINDERS
14, Mathura Road
P.O. Amar Nagar
Faridabad

Phones : 825561-62-63
Grams : CYLINDERS

ESCORTS
से

त
स
र में
लोमीटर
ी है।
EL-6358 H.A

हमारे बुद्धिजीवी और गांव का यथार्थ

□ बंकर राय*

ग्राम विकास के क्षेत्र में हम आंकड़ों का इस्तेमाल बिल्कुल इस प्रकार कर रहे हैं, जिस प्रकार नशे में धुत्त किसी आदमी को खड़ा रहने के लिए खम्भे के सहारे की जरूरत पड़ती है। इन आँकड़ों का उपयोग सच्चाई को प्रकाशित करने के लिए नहीं, उसे प्रवंचित करने के लिए किया जाता है। अब तक हमने कितने लोगों को ऋण दिया, कितने गाँवों में बिजली पहुंचायी, कितने किसानों को बीज, खाद, कीटनाशक दवा, पम्पसेट की सहायता दी आदि-आदि आँकड़ों का ऐसा अम्बार लगा दिया जाता है कि समझ में नहीं आता कि विश्वास करें या नहीं। लेकिन क्या कभी किसी ने यह विचार करने का कष्ट किया है कि देहात में वस्तुतः हो क्या रहा है? क्या इस ढंग के विकास-कार्य से सचमुच कोई फायदा हो रहा है? क्या इस सब से वहाँ के लोगों का रच मात्र भी भला हो पा रहा है?

आंकड़ों की भूलभुलैया

ये सभी सवाल बुनियादी हैं। ये सब मुद्दे महत्व-पूर्ण हैं। मुझे तो लगता है कि हम ऐसे बेईमान, स्वार्थी, अज्ञानी लोगों के द्वारा बहकाये जा रहे हैं जो अपने आपको निर्धन ग्रामीणों का प्रवक्ता समझने की गलतफहमी में हैं। इनमें शामिल हैं, नौकरशाही की पूरी दुनिया, स्वयभू विशेषज्ञ, और देहाती धनिक तंत्र के सदस्य, अर्थात् वह प्रभावकारी गिने-चुने लोग जिनकी ग्रामीण निर्धनों और उनके विकास में जरा भी रुचि नहीं है। उन्हें सिर्फ अपने आपसे मतलब है। और चूंकि हमारे यहाँ भोले-भाले लोगों की कमी नहीं है, तथा साथ ही सब प्रकार के वित्तीय साधन हमारे दरवाजे पर पहुंच रहे हैं, इसलिये हम स्वेच्छा से एक भटकाव की ओर बढ़ रहे हैं। हम बड़े अंदाज के साथ प्रदर्शित कर रहे हैं कि हम कितने बड़े मूर्ख हैं! जरा सोचिये तो सही कि ये लम्बी-लम्बी रिपोर्टें, ये लम्बे चौड़े सर्वेक्षण, ये बड़ी-बड़ी योजनाएं-आखिर किसके लिए हैं ये सब? हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि ये सब उन तीस करोड़ लोगों के लिए निरर्थक हैं, जो गरीबी की सीमा-रेखा के भी नीचे जी रहे हैं (यदि ऐसी कोई रेखा कहीं है तो), जो साल भर में एक हजार रुपये भी नहीं कमा पाते, जिनकी मूल समस्या आज भी शाम का भोजन जैसे-तैसे जुटा पाने की है, जो शायद सिर्फ इसका इंतजार कर रहे हैं कि अब अगली बार उनकी पिटाई कब होती है, ऐसी पिटाई जिसका मजा लूटने के लिए मैजिस्ट्रेट और पुलिस खड़े देखते रहते हैं! और खड़े-खड़े मजा लूटते रहते हैं।

कितनी परेशानियां उठाते हैं हम लोग बजट को संतुलित करने में, या फिर अत्यन्त प्रभावशाली दिखने वाली स्वयंपूर्ण योजनाएं बनाने के लिए हजारों पृष्ठों के तारीखवार आंकड़े और तिथियां इकट्ठा करने में—पर यह सब किसलिए? क्या इसलिए कि एक छोटा और औसत श्रेणी का किसान भूमिहीन मजदूर बन जाये? क्या इसलिए कि प्राथमिक विद्यालय के बजट का ९९ प्रतिशत अंश किसी उदासीन, और लापरवाह अध्यापक की तनख्वाह पर खर्च किया जाय और बचा-खुचा अर्थात् प्रतिशत भाग किताबों, शिक्षण सामग्री, प्रशिक्षण, स्कूलों की मरम्मत व शैक्षणिक पर्यटनों आदि के लिए छोड़ दिया जाये? इन ग्राम-विकास के तथाकथित विशेषज्ञों को भारी खर्चा उठाकर हम शायद इसलिए जुटाते हैं कि वे लाखों रुपया खाने वाली हास्यास्पद योजनाएं तैयार करें जिनका कि प्रकट उद्देश्य ग्रामीण दस्तकारों की सहायता करना है। हम समझ बैठे हैं कि प्लास्टिक के लघु उद्योग की स्थापना ही प्रगति और विकास की अंतिम पीढ़ी है। सबकी एक ही रट है कि गाँवों में पॉवरलूम का इस्तेमाल किया जाये क्योंकि इससे अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा और सस्ता कपड़ा बन सकेगा।

और परिणाम? इससे बुरा और क्या हो सकता है कि गांधी जी के सपनों के आदमी को अपना घर छोड़कर शहर में घोर दारिद्र्य और अभावों के बीच

* निदेशक, सोशल वर्क एण्ड रिसर्च सेंटर (SWRC) तिलोनिया, राजस्थान।

जीना पड़ रहा है क्योंकि कुम्हार, चमार या जुलाहे के रूप में उसका धंधा उसे अब रोटी नहीं दे सकता। यह है भारतीय प्रगति का प्रकार। इससे बुरा और क्या होगा कि ज्ञान, कला-कौशल और बरसों का अनुभव दिल्ली की गंदी बस्तियों में दम तोड़ रहा है और इन कुशल दस्तकारों के पास किसी निर्माणाधीन भवन के किनारे पत्थर ढोने के अलावा और कोई चारा नहीं बचा है। इस अपरिहार्य प्रक्रिया के विरुद्ध लड़ना कितना असंभव हो गया है। लेकिन क्यों? इसलिये कि हममें इतनी हिम्मत नहीं कि खड़े होकर कह सकें—यह सब गलत है, यह क्रूरता है, इसे रोका जाना चाहिए। हम तो सिर्फ लहरों के साथ बहाव की दिशा में तैरना चाहते हैं। हम धींगा-मुश्ती से धकेले जाने पर उसी के अनुरूप अपना रास्ता तय करने लगते हैं। हम अपनी राय इसलिये जाहिर करना नहीं चाहते कि कहीं स्पष्टीकरण देने के चक्कर में हमारी योग्यता का भंडा न फूट जाये। इसलिये जो जितना जोर से चीखे, जितना ज्यादा चिल्लाये, वह उतना ही सही। उससे कुछ भी पूछने की जरूरत क्या? आखिर जो सबसे ज्यादा चिंता व्यक्त करता है वही सबसे अधिक भयभीत भी तो होगा क्योंकि सबसे ज्यादा प्रतिबद्धता भी तो उसी की है।

देहात के लोगों की राय कौन तय करता है? महाजन, जमींदार, बड़ा किसान—और उसका कहना है कि ग्राम विकास है बिजली पम्पसेट, ट्रैक्टर, अच्छा बीज व खाद एवं मशीनी ढंग से की गई खेती। और नौकरशाह—एक जिम्मेदार आदमी जो इस काम के लिए सरकारी पैसे के टुकड़े फेंकता है, अपनी अक्ल का पूरा दिखावा करते हुए उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाकर कहता है—ठीक! ग्राम विकास? ग्राम विकास का अर्थ है सहायता-राशि, मुफ्त सेवा-कार्य। क्योंकि ग्रामीण जन-सामान्य तो भूखे मरने की कगार पर बैठा है। बस, नौकरशाह इससे सहमत है तो विरोध में एक पत्ता भी कैसे खड़क सकता है। देहात के गरीब, गरीबी की मार से त्रस्त गांव के बढ़ई, कुम्हार, चमार, जुलाहे, लुहार, पिछड़ी जाति और हरिजन जनजाति के पक्ष में एक शब्द भी नहीं। यदि इनके समर्थन में बात कही भी गई तो उसमें खालिस शोर ही सुनाई पड़ता है और जब संघर्ष की बात आती है, इन लोगों के लिए लड़ने का सवाल उठता है, दलित वर्गों को साथ लेकर उनके अधिकार दिलाने का पहलू उजागर होता है, तो फिर इस दिशा में शुरूआत करने के लिए दूर-दूर तक कोई नजर नहीं आता।

सुविधाजीवी मार्क्सवादी

हम सबको हो क्या गया है? कहां है हमारे तथाकथित ध्येयवादी, उत्साही मार्क्सवादी, जो प्रत्येक कर्मक्षेत्र के संघर्षों एवं खतरों से कोसों दूर रहकर ऊंची-ऊंची बातें करते रहते हैं? ये नकारा लोग! उनके पास करने के लिए कुछ भी नहीं, छाती फाड़कर दिखाने को भी कुछ नहीं। लेकिन कागज काले करने और दूसरों की नुक्ताचीनी एवं चीरफाड़ करने की दौड़ में ये किसी से पीछे नहीं रहते। क्या वह दिन भी कभी आयेगा जब ये अपने उपदेशों को अमल में लाने के लिए प्रत्यक्ष गांवों में जायेंगे? अपने में ऐसी हिम्मत वे कब जुटा पायेंगे? इनकी अन्तरात्मा कब जागेगी, कि वे जो बोलते हैं उसी दिशा में कुछ कर्म करने को भी तैयार होंगे और देखेंगे कि इसमें कितना कुछ निकलता है? क्या हुआ यदि वे गलत सिद्ध हो जायें। यदि बुद्धिजीवी गांव में जाकर रहना और काम करना शुरू करें और देहात के लोगों के साथ तकलीफें उठायें और अंततः सिर पर पाँव रखकर शहर के किसी सुरक्षित स्थान की तरफ भाग भी खड़े हों तो इससे इनका कौमार्य-भंग तो होगा नहीं। हाँ, तब कम से कम यह शेखी बघारना तो वे बन्द कर देंगे कि सब सवालों का जवाब उनके—सिर्फ उन्हीं के पास है।

यह दुख की बात है कि ग्रामीण निर्धन के हितों पर वही लोग आवाज कर रहे हैं जो अपने आपको समाजशास्त्री कहते हैं। वे निर्धन ग्रामीण के भाग्य के साथ अपने भाग्य को जोड़ने, उस पर पड़ने वाली ठोकरों, संकटों और अनिश्चितताओं में उसके सहभागी बनने, उससे एक मानव प्राणी जैसा व्यवहार करने के स्थान पर उसे चिड़ियाघर के एक जन्तु सा मानकर दूर-दूर से ही उसका अध्ययन करते रहते हैं। असल में उन्हें इतनी फुर्सत भी कहाँ है! एक पुस्तक या एक रिपोर्ट यदि इस सारी बौद्धिक कसरत

से तैयार हो गई तो हमारे बुद्धिजीवियों ने मानों अन्तिम फल पा लिया। लेकिन आँकड़े इकट्ठे कर लिए जाने, ईमानी जिंदगियों पर अध्ययन पूरा कर लेने एवं घंटों तक अनेक बेकार सलाहें देने का परिणाम क्या होता है ? यह जानना वास्तव में हमारे बुद्धिजीवी की जिम्मेदारी तो है नहीं, चाहे उनका राजनैतिक झुकाव किसी भी तरफ हो ! शायद उसे बाद में पता चले कि उसकी दखलंदाजी के कारण एक खेतिहर मजदूर की नौकरी चली गई, या उसे दण्डस्वरूप सात दिनों तक बिना मजदूरी के रह जाना पड़ा (क्योंकि उसने अपनी कथा बुद्धिजीवी को बताई थी), या देहाती कारीगर से उसके गाँव का बाजार छिन गया, अनुसूचित जाति के व्यक्ति से उसका कभी-कभार ऋण प्राप्त करने का, महाजन का सहारा छूट गया, हरिजन का घर बड़े सामान्य ढंग से जलाकर राख कर दिया गया।

समाज-शास्त्री किस चिंतन-मनन में डूबा हुआ है ? इन मामलों में वह नपुंसक सिद्ध हो चुका है। भारत में वह मूलतः कायर प्राणी है। वह मार्क्सवाद की बात करेगा, वह निर्धन ग्रामीणों को एकत्रित लाकर उनके अधिकार दिलाने की बकवास अपने मुंह से उछालेगा, लेकिन वह यह सब करेगा एक सुरक्षित दूरी बनाये रखते हुए। वह इस बात का ध्यान रखेगा कि खुद कहीं न फंसे, क्योंकि उसमें अपनी निष्ठाओं के अनुरूप चलने की हिम्मत ही नहीं है। अतः किसान, कृषि-मजदूर और हरिजन तो उसके लिए जैसे कठपुतलियों के समान हैं जिनके दिमाग और जीवन की डोर उसके हाथों में है। वह उन्हें नचाता है पर एक दूरी बनाये रखकर। उसके अध्ययन और रिपोर्टों में गहराई तक जाकर की गई खोजबीन का आभास होता है —जिसकी छाप उसके द्वारा दी गई सनसनीखेज सूचनाओं में मिलती है। हम ऐसी जानकारियों पर आनन्दातिरेक से भर जाते हैं। लेकिन इसके अलावा हम और कर भी क्या सकते हैं !

जिन्होंने देहात देखा नहीं

यह तथ्य तो और भी भयंकर है कि ग्राम-विकास का सूत्र-संचालन इन्हीं बुद्धिजीवी कहलाने वाले गिने-चुने खतरनाक, क्षमताहीन और अव्यावहारिक लोगों के ही हाथों में है। सबके सब नगरों में स्थापित संस्थाओं से जुड़े हैं। उनके नाम के आगे मील भर लम्बी डिग्रियों की लिस्ट है। लेकिन देहात का निजी कहने लायक कोई अनुभव उन्हें नहीं होता—बशर्ते कि अपने धोबी या भंगी से होने वाली इनकी झड़पों को आप उनके ग्रामीण जीवन के अनुभव न मानें !

यह तो स्पष्ट है कि शहरी क्षेत्रों में एक ऐसा मंच है जो ग्रामीण निर्धन के हितों का ठेकेदार बना हुआ है, लेकिन यह भी उतना ही स्पष्ट है कि देहात के उन क्षेत्रों में जहाँ संघर्ष की वस्तुतः आवश्यकता है, इन्होंने ऐसी आवाज को पहुंचाने का कोई प्रयास नहीं किया। यह सब क्या हो रहा है ? हम सबको क्या हो गया है कि अनुसूचित जातियों और हरिजनों के प्रति प्रतिदिन होने वाले अन्याय और अविश्वसनीय यातनाओं के बारे में हम इतने भावुक होकर बोलते रहते हैं, लेकिन एक भी व्यक्ति, अक्षरशः एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं, जिसमें उनके लिए कुछ व्यावहारिक कार्य करने का दम-खम भी हो। हम सब वातानुकूलित दफ्तरों में बैठकर सिर्फ यह बताने के शौकीन हैं कि क्या होना चाहिये ? क्या किया जा सकता है ? क्या किया जाना है ? लेकिन यह कभी नहीं कि हम खुद वहां जाकर क्या करने वाले हैं ?

आँख मूंदकर बैठे हुए बुद्धिजीवियों का यह नतीजा निकालना स्वाभाविक ही है, क्योंकि इन्हें वास्तविक जिन्दगी की न तो कोई जानकारी है न ही उनकी समस्याओं का जरा भी पता, जिनका सामना आम आदमी को हर क्षण करना होता है। क्या चीज है जो उन्हें देहात में रहने और काम करने से रोक रही है ? क्या चीज है जो उन्हें अपना मकान या झोंपड़ी गांव में डालकर वहां की दर्दनाक हालत को महसूस करने से रोक रही है ? वहां उन्हें यह देखने को मिलेगा कि निचली अदालतों में कैसे एक मैजिस्ट्रेट को स्वार्थी लोगों द्वारा फुसलाकर अन्याय करवाया जा सकता है। वहां उन्हें यह भी पता चलेगा कि पुलिस को, एक गरीब किसान को मारने के लिए, कैसे उसकी कमर टूट जाने तक

इस्तेमाल किया जाता है और उसकी कमर टूटी ही रहती है, कैसे पटवारी भूमि सम्बन्धी कागजात के साथ हेराफेरी करता है, कैसे ऊँची जात वालों के हाथों चलाई जा रही सहकारी समितियों में सरकारी पैसे की हेराफेरी होती है या यह धन नकली अनुसूचित जाति वालों तक पहुंच जाता है और वहां ऐसा तन्त्र नहीं है जो इन मामलों की जांच करे कि कैसे सरकारी स्वास्थ्य-अधिकारी दवाइयों का इस्तेमाल अपना निजी व्यवसाय चलाने के लिए करते हैं।

इस सब गोलमाल का कोई अंत नहीं है। लेकिन हम बुद्धिजीवियों को इस अनुभव से एक बार गुजरना ही चाहिए। हम एक बार तो अनुभव करके देखें ही कि शक्तिहीन होने पर या जब सब कुछ हमारी नाक के नीचे हो रहा हो, तो पूर्णतः असहाय होने पर हमें कैसा लगता है। इसके बारे में केवल पढ़ लेना और इसमें प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित होना, ये दोनों बातें एक समान नहीं हैं। अन्तिम विश्लेषण से हमें यही लगेगा कि प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित हुए और अनुभवों के परस्पर विनिमय किए बगैर सच्चे अर्थों में देहाती क्षेत्रों का विकास संभव नहीं है। पटवारी, प्राथमिक स्कूल का अध्यापक, ग्रामसेवक और थानेदार, सब इस बात को जानते हैं कि जिला-कलक्टर गांव में कभी-कभार मुश्किल से ही आता है। यदि वह भूले-भटके आ भी जाता है तो फिर उनकी यह जिम्मेदारी भी तो है कि केवल आधे दिन के उस दौरे के दौरान छोटी-मोटी समस्याओं पर ही विचार किया जाये, विवाद के सब विषय इस दौरे के समय दूर ही रखे जाएं और सनसनीखेज बातों की चर्चा कदापि न हो। एक बार जब डिस्ट्रिक्ट कलक्टर चला गया तो मैदान खाली पड़ा है, जो चाहो सो करो। क्योंकि जिस व्यक्ति से ग्रामवासी अत्यन्त भयभीत रहते हैं और जिसमें उन्हें संत्रस्त करने की असीम क्षमता है, वह कलैक्टर न होकर वन-रक्षक जैसा कोई अधिकारी ही होता है। उस क्षेत्र का कानून—अर्थात् वही व्यक्ति। उसपर कोई हुक्म नहीं चलता। कमिश्नर तो छोड़िये, मंत्री के मुकाबले भी ग्रामीण निर्धनों को नारकीय यातनायें देने में वन-रक्षक का कोई सानी नहीं है।

सेमीनार संस्कृति

हम सेमिनारों में बैठ सकते हैं और मूलभूत परिवर्तन की चर्चा कर सकते हैं। हम अपनी सिफारिशों में बहुत से सही और मनमोहक सुझाव दे सकते हैं—जिन्हें लागू किया जाना चाहिए; परन्तु ग्राम स्तर पर परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता। हम चाहे कितने ही ताकतवर कानून क्यों न बना लें, कितने ही विधानों और निर्देशों को ऊपर से ग्राम स्तर तक भिजवा दें, किन्तु मूल नजरिया कभी नहीं बदलता। नौकरशाह चाहे कैसी भी डींगें मारते रहें पर उन्हें खुद ही पता नहीं चलता कि उनके आदेश कैसे हवा में उड़ा दिये जाते हैं, कैसे ये मनोरंजन और उपहास के पात्र बन जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि उन्हें अपनी विश्वसनीयता पर संदेह है। वे गांव में जाकर समस्याओं का सामना नहीं करते। वे योजना बनाना ज्यादा पसंद करते हैं। अंकों से खिलवाड़ करना और ऐसे छुट-पुट काम करना, जो दुनिया को चकित कर दें, लेकिन इनकी योजनाओं के सही तरीके से लागू किये जाने की कोई आशा नहीं होती। धोखाधड़ी की इस प्रक्रिया को हमने इतनी बुरी तरह से संस्थागत हो जाने दिया है कि अब इससे पीछा छुड़ाना भी असंभव हो गया है।

योजनाएं तो कोई भी व्यक्ति बना सकता है, चाहे वह हार्वर्ड से पढ़ा हो या कैम्ब्रिज से, लेकिन उन्हें लागू तो ब्लाक डिवलपमेंट आफिसर या कृषि के क्षेत्र में काम करने वाला आदमी ही कर सकता है। क्या ग्रामीण निर्धन के लिए इससे भी ज्यादा दुखदायी स्थिति कोई हो सकती है? गूढ़ योजनाएं तैयार करने वाला व्यक्ति यदि इंडियन इंस्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट में बैठता है तो ऐसा माना जाता है कि उन्हें लागू करने वाला भी उतनी ही मानसिक योग्यता वाला होना चाहिए ताकि ज्यादातर जो बकवास लिखी जाती है, उसमें से वह कुछ काम की चीज निकल सके और उसमें से अपेक्षित परिणाम प्राप्त न होने पर परिवर्तन भी कर सके। विदेश के किसी प्रख्यात विश्वविद्यालय से एक कृषि-

वैज्ञानिक द्वारा, जिसे व्यावहारिक अनुभव नहीं है, दिये गए सुझाव, जरा कल्पना करें, उस व्यक्ति द्वारा कृषि क्षेत्र में लागू किए जा रहे हैं जिसे उसकी नौकरी सिफारिश के बूते पर मिली है, अपने दिमाग के बल पर नहीं।

इन सबके लिए हमारे महान् नीति-निर्माताओं को तो एक ही रास्ता नजर आता है और वह है प्रशिक्षण। लेकिन प्रशिक्षण कहां मिलेगा? आई० आई० टी० जैसे संस्थान तो केवल शहरों तक ही सीमित हैं। देहात में जाने की फुर्सत ही किसे है? वहां ऐसे प्रशिक्षण की सुविधाएं कतई नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, यदि ग्रामसेवक, कृषि विस्तार अधिकारी, बी० डी० ओ० और ऐसे लोग जो अभी तो योजना की उलझनों को ही नहीं समझ पाये हैं, उन्हें हम प्रशिक्षण के द्वारा यह सब समझाना चाहते हैं। पर वहां तो उन्हें अनावश्यक चीजें पढ़ाई जाती हैं, महत्वहीन और निस्सार विषयों पर भाषण दिये जाते हैं और तब उन्हें अपने ही बल बूते पर व्यावहारिक समस्याओं को हल करने भेज दिया जाता है। किन्तु यदि सचमुच व्यावहारिक रूप में काम करना होगा तो उस प्रशिक्षार्थी को सीखे हुए इस सारे ज्ञान को भुलाने की प्रक्रिया में से गुजरना पड़ेगा। क्या यह उसके साथ ज्यादती नहीं होगी?

गांव का यथार्थ क्या है?

इस प्रकार से आयोजित और लागू किया जाने वाला कार्यक्रम, जिसके विचार और व्यवहार में जमीन-आसमान का अंतर हो, कैसे सफल हो सकता है? और ग्राम-विकास! किस कीमत पर? हम एक ही सांस में कृषि-विकास और ग्राम विकास की बात तो कर जाते हैं, पर किसके लिए? क्या ग्रामीण निर्धन के लिए? जिसकी मूल समस्या है—पेट के लिए, भोजन, सिर छिपाने के लिए छत, पत्नी और बच्चों के लिए कपड़ा और शांति का जीवन। हम उसे यह सब भी नहीं दे सकते। तीन दशकों की योजनाओं के बावजूद, इतना गूढ़ आधारभूत ढांचा तैयार करने के बावजूद, हम एक ऐसी वितरण-प्रणाली भी नहीं दे सके हैं, जिसमें मूल जरूरतों को पूरा करने की कोई गारंटी हो। इसके विपरीत, सरकारी आंकड़ों के अनुसार, दस करोड़ परिवार ५०० रुपये सालाना से कम की आय पर जीवन-यापन करते हैं, ५,७५,००० गांवों में से एक तिहाई गांवों में पीने के लिए पर्याप्त पानी नहीं है, देहात में आधे से ज्यादा निवासी घास और मिट्टी के बने कामचलाऊ मकानों में रहते हैं, प्रत्येक चार व्यक्तियों में से एक अनावश्यक रूप से बीमार रहता है। लगभग पचास लाख लोग हर साल हानिकारक आहार, प्रतिरक्षण एवं डाक्टरी देखरेख के अभाव में दम तोड़ देते हैं, आज प्रत्येक चार भारतीयों में एक कृषि-मजदूर है, दो करोड़ से ज्यादा लोग आज देश में बेरोजगार हैं, १६.१ करोड़ लोग अनपढ़ हैं। यह हमारी मूल समस्याएं हैं और आज भी हम बात करते हैं बीजों (विभिन्न प्रकार की फसल उगाने वाले) खादों, पम्प-सेटों, ट्रैक्टरों और ऐसी चीजों की। क्या मैं पूछ सकता हूं कि ये सब किसके लिए? वास्तव में उच्च और धनी वर्ग के अलावा और कौन है जो इन सबके लिए समर्थ है? क्या यही वह ग्राम विकास कल्पना है जो हमारे दिमाग पर छाई हुई है।

हमारे देहात को इन सिरफिरे लोगों से दूर ही रखा जाना चाहिए। हमें उन अव्यावहारिक विशेषज्ञों से बचना होगा जिन्हें गांव के लोगों के अभावों और कष्टों की कोई जानकारी नहीं है। ऐसे लोगों के हाथों में ग्राम विकास का काम देने से बड़ा वज्रपात ग्रामीणों पर और कोई नहीं हो सकता। और कुछ नहीं तो इतना तो जरूर होगा कि ग्रामीण क्षेत्रों के संरक्षक बनकर उनपर कृपा की जो वर्षा ये लोग करेंगे, वह उन्हें ध्वस्त कर देगी।

ग्राम-विकास के लटके

ग्राम-क्षेत्रों के लिए "सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण" एक जादुई शब्द बन गया है। दुख की बात है कि ग्राम-विकास में 'ऋण' तो दिल्लगी के लिए मनमस्ती के साथ मुंह में चबाया जाने वाला शब्द हो गया है। अपने आपको महान् सिद्ध करने के लिए हर कोई ऋण को लेकर हवाई किले बनाने में लगा है। इसके लिये क्या किया जाना आवश्यक है? ग्रामीण

क्षेत्र का कितना विकास इस पर निर्भर करता है? यह आम आदमी तक कैसे पहुंचेगा और निम्न वर्ग के परिवारों की कैसे मदद कर सकेगा? एक शोर-सा मचा है, मानो कि ऋण का वितरण ही ग्राम विकास है। एक बार ऋण दे दिया गया तो बस सारी समस्याएं हल हो जायेंगी। इस बात को सबने पहचान लिया है। योजनाएं यही कहती हैं। विशेषज्ञों की गणना भी यहीं तक पहुंचती है, अर्थ-शास्त्री भी इसी से सहमत हैं। यहां तक कि विश्व बैंक भी सन्तुष्ट है—कि बस, एक बार ऋण दिये जाने की देर है, अनुसूचित जाति का परिवार एक-दम उच्च स्तर पर पहुंच जायेगा। आखिर वह भी तो नागरिक बनना चाहते हैं। उनका सामाजिक स्तर ऊंचा उठ जायेगा। उन्हें महाजन अब और अधिक सता नहीं सकेगा। उनकी पत्नियां अब बलात्कार की शिकार नहीं होंगी। अब वे बंधुआ मजदूर नहीं रहेंगे। ऋण मिलते ही हरिजन बच्चे अच्छी शिक्षा के प्रति आश्वस्त हो जायेंगे। उनकी चिकित्सा पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगेगा, (जिसकी उन्हें बहुत जरूरत भी है) और इस बात की भी गारंटी हो जायेगी कि कोई अत्याचारी जमींदार उनके मकान जलाकर जुल्म न ढा सके।

ऐसा लगता है कि ऋण की यही उप-लब्धियां होनी भी चाहिएं। हरिजन के जीवन की योजना उन्हीं लोगों ने तो कागज पर बनाई है जो उस के बारे में अच्छी तरह जानते हैं। लंदन और हार्वर्ड से शिक्षा प्राप्त उच्च पदों पर आसीन ज्ञानी-महा-ज्ञानी लोगों के लिए क्या परेशानी है? बस, पुस्तक पढ़ते ही वे जान जायेंगे कि एक छोटा औसत दर्जे का किसान क्या है या फिर एक देहाती कारीगर, एक अनुसूचित जाति का व्यक्ति, एक हरिजन और खेतिहर मजदूर क्या है? तभी वह ज्ञानी उनके बारे में ऐसी बात करने लगेगा जैसे उनके हाथ की एक-एक रेखा से वह परिचित हो। कितना आसान है! कोई समस्या नहीं है! उस आदमी को एक जोड़ी बक-रियां दे दो, बस, दो साल में उसकी स्थिति सुधर जायेगी। बस, बीस-तीस भेड़ें—एक खुला कुंआ, एक पंप सेट और उसकी समस्याएं उड़न-छू। यदि वह दो साल में यह सब नहीं कर सके तो स्पष्ट है कि वह बचत करना ही नहीं जानता।

अब आप ही बताइये। एक अनपढ़, गंवार से और आशा भी क्या की जा सकती है। वह दो सालों तक क्या करता रहा? उसने कहां से खाया? अगर वह बीमार पड़ गया या परिवार में किसी का ब्याह करना पड़ा और उसके रस्मो-रिवाज निभाने पड़े तो? पर यह सब किसी विशेषज्ञ की समस्या नहीं है। मानवीय समस्याओं के प्रति वह पूर्णतः अनभिज्ञ है। उसकी समस्या है 'कृषि पुनर्वित्तनिगम' बनाना, सिंचाई की योजनाएं तैयार करना, जैसे, कुंए खोदने की बात—बस हो गया काम।

बहुत से एकदम निरर्थक और बेकार के आंकड़े और न जाने क्या-क्या अनाप-शनाप पढ़ने के बाद भगवान ही जानता है कि उनका लेखक क्या कहना चाहता है। हमें तो यही बताया जाता है कि इतने लाख रुपये खर्च किये जायेंगे, ताकि इतने सौ पम्पसैट लगाए जा सकें और इतने कुंओं का निर्माण किया जा सके, जिससे इतने हजार एकड़ भूमि पर खेती की जा सके। सज्जनो, बस यही···केवल यही है तुम्हारे समझने लायक ग्रामविकास···। □

का व्यक्ति, एक हरिजन और
तभी वह ज्ञानी उनके बारे में
जैसे उनके हाथ की एक-एक
। कितना आसान है ! कोई
आदमी को एक जोड़ी बक-
साल में उसकी स्थिति सुधर
स भेड़ें—एक खुला कुंआ,
ी समस्याएं उड़न-छू। यदि
नहीं कर सके तो स्पष्ट है
नहीं जानता।

। एक अनपढ़, गवार से और
करती है। वह दो सालों तक
कहां से खाया ? अगर वह
रिवार में किसी का ब्याह
रस्मो-रिवाज निभाने पड़े
सी विशेषज्ञ की समस्या
स्याओं के प्रति वह पूर्णतः
स्या है 'कृषि पुनर्वित्तनिगम'
नाएं तैयार करना, जैसे,
न हो गया काम।

र्थक और बेकार के आंकड़े
अनाप-शनाप पढ़ने के बाद
कि उनका लेखक क्या
तो यही बताया जाता है
खर्च किये जायेंगे, ताकि
ए जा सकें और इतने
जा सके, जिससे इतने
ती की जा सके। सज्जनो,
है तुम्हारे समझने लायक

□

ग्राम-पुनर्रचना

★ कुछ प्रयोग,

★ कुछ अनुभव

आदर्श ग्राम के लिये गांधीजी की तड़प

"आप खूब पैसा इकट्ठा करके अपने ग्राम-कार्य को एक अच्छे विशाल क्षेत्र में क्यों नहीं फैलाते ?"

"नहीं, जितने की मुझे जरूरत होती है, उससे ज्यादा पैसा इकट्ठा करने में मेरा विश्वास नहीं है।"

"पर मान लीजिये, आप बीस, और बीस न सही, दस ही, नमूने के गांव बना दें तो कैसा रहे ?"

"अगर इतना आसान काम हो, तो तुम अपने रुपये से यह काम कर सकते हो। मगर मैं जानता हूं कि यह काम इतना आसान नहीं है। यह बात नहीं कि रुपये की जादू की लकड़ी फेरते ही कोई गांव नमूने का बन जाएगा।"

(श्री घनश्यामदास बिड़ला के साथ हुई बातचीत से)

—हरिजन सेवक ३०-११-३५

जो चित्र यहां उपस्थित किया गया है, उसमें असंभव जैसी कोई चीज नहीं है। संभव है ऐसे गांव को तैयार करने में एक आदमी की पूरी जिन्दगी खतम हो जाय। सच्चे प्रजातन्त्र का और ग्राम-जीवन का कोई भी प्रेमी एक गांव को लेकर बैठ सकता है और उसी को अपनी सारी दुनिया मानकर उसके काम में गड़ सकता है। निश्चय ही उसे इसका अच्छा फल मिलेगा। वह गांव में बैठते ही एक साथ गांव के भंगी, कतवये, चौकीदार, वैद्य और शिक्षक का काम शुरू कर देगा। अगर गांव का कोई आदमी उसके पास न फटके, तो भी वह सन्तोष के साथ अपने सफाई और कताई के काम में जुटा रहेगा।

—हरिजन सेवक, २-८-४२



मैं जानता हूं कि आदर्श गांव के निर्माण का कार्य उतना ही कठिन है जितना भारत को एक आदर्श राष्ट्र बनाना···लेकिन, यदि किसी ने एक भी आदर्श गांव खड़ा कर दिया, तो वह न केवल सारे देश के लिये बल्कि तमाम दुनिया के लिए एक नमूना बन सकेगा। एक साधक की इससे अधिक आकांक्षा और क्या हो सकती है ?

—नए क्षितिज की ओर (१९५९) पृ० ९९



क आदर्श गांव के निर्माण
कठिन है जितना भारत
ट बनाना···लेकिन, यदि
ादर्श गांव खड़ा कर दिया,
देश के लिये बल्कि तमाम
नमूना बन सकेगा। एक
धक आकांक्षा और क्या हो

की ओर (१९५९) पृ० ९९

दीनदयालपुरम्

सागरतीरे—आकार ले रहा एक स्वप्न

□ तरुण विजय

वह समय तुरन्त काम में जुटने का था। क्यों, कैसे, कहां —ये प्रश्न चारों ओर सड़ रही लाशों, टूटे मकानों और प्रकृति की क्रूरता से सन्न रह गए निरीह नागरिकों की व्यथा में खो गए थे। १६ नवम्बर ७७ की रात्रि आंध्र प्रदेश के समुद्र-तटवर्ती क्षेत्र को जिस अंधेरे में डुबो गई थी, उससे उबरने का साहस; सम्बल व साधन देने का एक उत्कृष्ट उदाहरण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयं-सेवकों व दीनदयाल शोध संस्थान के संचालकों ने प्रस्तुत किया और उस श्मशान सदृश माहौल में "नीड़ का निर्माण फिर" मंत्र गूंज उठा।

तूफान के एक सप्ताह के भीतर ही आन्ध्र प्रदेश और सारे देश के स्वयंसेवक इस भयावह विपत्ति से ग्रस्त नागरिकों की सहायता के लिए सक्रिय हो गए थे। सैकड़ों स्वयंसेवक स्वयं सहायता कार्य के लिए तूफान पीड़ित इलाके में पहुंचे। धन, वस्त्र व अन्य सहायता-सामग्री भी काफी मात्रा में प्राप्त होने लगी। दीनदयाल शोध संस्थान नई दिल्ली के १२ डाक्टरों का एक दल २८ नवम्बर १९७७ को पहुंचा जिसने १२ दिन तक पराछीवारा गांव में आधार शिविर स्थापित कर चिकित्सकीय सहायता दी। इनके अतिरिक्त कुरनूल, हैद्राबाद, काकीनाड़ा, हुबली और कुछ अन्य क्षेत्रों के डाक्टरों ने भी इस मानवीय कार्य में सहयोग दिया।

इस समस्त घटना क्रम में शवसेना की भूमिका मानवीय संवेदना का एक अमिट दस्तावेज बन गई है। चारों ओर सड़ रही लाशों का अम्बार था, जो जीवित बच गए लोगों के स्वास्थ्य के लिए एक खतरा और वातावरण को असामान्य रूप से दुर्गन्धमय व वितृष्णाजनक बना रहा था। अतः सबसे पहले बिखरे हुए मृत शरीरों को उठाकर उनका अन्तिम संस्कार करने व क्षेत्र को रहने योग्य बनाने में स्वयंसेवक तुरन्त ही जुट गए। कार्य की विशालता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि दिसम्बर के



कार्यरत शव-सेना के स्वयंसेवक



तूफान के बाद मुलापलेम का अवशेष—केवल एक ओखली

तीसरे सप्ताह तक शवसेना को सक्रिय रहना पड़ा। अवनीगड्डा से १३ कि. मी. दूर कडुऊ में ६५० शव तथा दिवी सीमा के निकट ४०० शवों का अन्तिम संस्कार किया गया।

स्थायी हल

किन्तु महत्वपूर्ण होते हुए भी ये सब तात्कालिक सहायता के कार्य थे। १ दिसम्बर १९७७ को संघ के सरसंघचालक श्री बाला साहब देवरस प्रकृति के क्रूर विध्वंस के फलस्वरूप हुई जन-धन की हानि का निरीक्षण करने जब वहां आए तो उन्होंने बातचीत के दौरान तूफानग्रस्त लोगों के लिए एक ऐसे क्रमबद्ध विकास कार्यक्रम को शुरू करने का सुझाव दिया जिसमें राहत, पुनर्निर्माण, पुनर्वास व स्थायी **सुरक्षा निहित** हो। फलतः जनवरी ७८ तक संघ द्वारा संचालित तूफान राहत समिति द्वारा अवनीगड्डा व पराछीवारा गांवों के निकट ६५ कुटीरों (जिसमें दुर्गाप्रसादपुरम् की २५ कुटीरें भी सम्मिलित हैं) का निर्माण कर दिया गया। अनकपल्ली के निकट श्रीरामनगर व कुछ अन्य स्थानों पर १३५ कुटीरों का अलग से निर्माण किया गया।

अनुष्ठान के शिल्पी

दिसम्बर में शोध संस्थान के सचिव डा० जे० के० जैन, संघ के आन्ध्र प्रान्त प्रचारक श्री एस० सोमैया के साथ दिवी सीमा आकर वहां के ध्वस्त क्षेत्र का निरीक्षण कर गए थे। उन्होंने पुनर्निर्माण की रूपरेखा तय की। २६ जनवरी ७८ के दिन मुलापलेम को दीनदयालपुरम् के रूप में पुनर्जीवित करने का संकल्प वहां भूमि पूजन के माध्यम से अंकुरित हुआ। शोध संस्थान के निदेशक श्री नानाजी देशमुख तथा अनुभवी पत्रकार श्री आर० वी० पण्डित ने तीन बार स्वयं आकर निरीक्षण किया व दीनदयालपुरम् के निर्माण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिए। इस पुनीत कार्य में सैकड़ों स्वयंसेवकों ने हर सम्भव सहयोग दिया। नागपुर के एक जूनियर इन्जीनियर श्री के० जी० पाण्डे तो नौकरी छोड़कर इस कार्य में जुटे। इसी प्रकार श्री के० विद्वान रेड्डी जो आन्ध्र में पी० डब्ल्यू० डी० में सुपरवाइजर हैं, पांच माह का अवकाश लेकर कार्य स्थल पर सक्रिय हुए। ऐसे ही निःस्वार्थी व ध्येयनिष्ठ कर्मवीरों के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप पांच माह से भी कम समय में ही ९६ पक्के मकानों का निर्माण पूरा



हो सका जो स्वयं
नाम से उदित हु
तत्कालीन विदेश
ने १४ जुलाई, ७

दीनदयालपु
है, जो पहली बा
तथा सांस्कृतिक
उदित हुआ है। स
जाए तो कहेंगे—
गांव है—शहर
इसका नामकरण
आदर्श भारतीय

यह कहना
का महत्व वहां
मकानों (जिन्हें

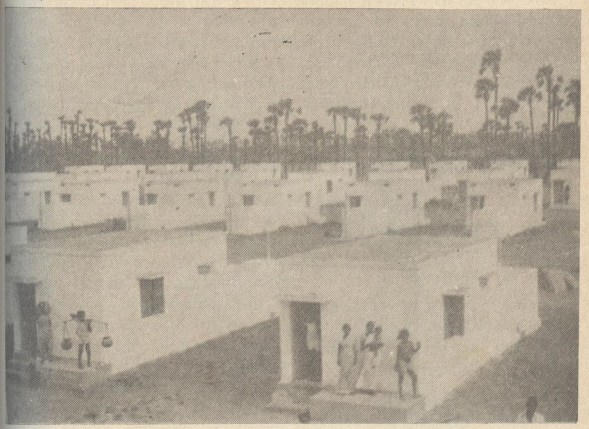

दीनदयालपुरम् : मुलापलेम का पुनर्जन्म

हो सका जो स्वयं में एक रिकार्ड है। दीनदयालपुरम् नाम से उदित हुए इस आदर्श गांव का उद्घाटन तत्कालीन विदेश मंत्री श्री अटल विहारी वाजपेयी ने १४ जुलाई, ७८ को सम्पन्न किया।

दीनदयालपुरम् के रूप में उस गांव का जन्म हुआ है, जो पहली बार आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के संतुलित सामंजस्य से उदित हुआ है। संक्षेप में यदि इसकी महत्ता प्रकट की जाए तो कहेंगे—यह समय के साथ कदम बढ़ाता एक गांव है—शहर के धुंए से दूर। जी हां, ठीक ही तो इसका नामकरण हुआ है। दीनदयालपुरम्—एक आदर्श भारतीय का साकार आदर्श।

यह कहना असंगत न होगा कि दीनदयालपुरम् का महत्व वहां गरीब मछुआरों को सौंपे गए ६६ पक्के मकानों (जिन्हें तीन माह से भी कम की एक रिकार्ड अवधि में निर्मित किया गया) या भव्य समुदाय भवन के कारण नहीं अपितु उन विभिन्न प्रकल्पों के कारण है जो इस गांव व कुछ अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों के निवासियों में संस्कार व सामूहिक जीवन का भाव संचारित करने के उद्देश्य से प्रारम्भ किए गए हैं—अपने किस्म का भारत में पहला प्रयोग। संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है :—

जन सेवा पथकम्—

प्रारम्भ में जन-सेवा पथकम् के अन्तर्गत दीनजन-सेवा का अभियान चला था। शव-सेना का रोमांचक कार्य, हजारों तूफान-पीड़ितों को भोजन, दवा की व्यवस्था व अन्य राहत सामग्री के वितरण का गुरु भार इसी प्रकल्प के कार्यकर्ताओं ने सफलता पूर्वक वहन किया था।

पर तूफान ने इस क्षेत्र के निवासियों की आर्थिक आय के स्रोत भी सुखा दिए थे। स्वाभाविक रूप से सर्वाधिक त्रस्त निम्न आय वर्ग के लोग थे--जैसे छोटे कारीगर, मछुआरे, गडरिए, माची, नाई, धोबी, छोटे दुकानदार आदि—रोजगार के साधन नष्ट हो जाने से कुछ भी कर पाने में असमर्थ। सात गांवों में ऐसे व्यक्तियों का चयन करके उन्हें रोजगार के साधन (जैसे दर्जी को मशीन, बढ़ई को औजार आदि) प्रदान किए गए हैं। दानदाताओं के उत्साह के अनुसार ज्यादा से ज्यादा संख्या में मछुआरों को नाई-लोन के जाल व नाव देने का भी निश्चय किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य योजनाएं हैं :

१. बच्चों के लिए संस्कारप्रद विद्यालयों की स्थापना।
२. प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों की स्थापना।
३. जन सेवा केन्द्रों के द्वारा सम्बन्धित व्यक्तियों को आधुनिक तकनीकी ज्ञान से परिचित कराना ताकि उनका व्यवसाय विकसित होकर आर्थिक दृष्टि से और अधिक लाभप्रद हो सके।
४. मछुआरों को आधुनिक नाव, जाल व अन्य साधनों को उपलब्ध कराना।
५. जहां तक सम्भव हो सके विधवाओं, निराश्रित व्यक्तियों व अपंगों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करना।

बंध्य सेवा पथकम्

यह प्रकल्प चिकित्सा व स्वास्थ्य के रूप में प्रारम्भ किया गया है। नवम्बर ७७ में तूफान पीड़ितों की तात्कालिक उपचार-व्यवस्था के बाद इस प्रकल्प के अन्तर्गत दीनदयाल पुरम् में एक सर्व-सुविधा सम्पन्न अस्पताल स्थापित किया जा रहा है जिसमें पन्द्रह शैयाओं की व्यवस्था होगी। इनमें पांच शैयाएं केवल स्त्री रोगियों के लिए विशेष रूप से उपलब्ध होंगी। यह अस्पताल निकटवर्ती पचास गांवों की उपचार आवश्यकताएं पूरी करेगा। कुरनूल के डा० पी० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, एम. बी. बी. एस. जिन्होंने प्रारम्भ से ही राहत कार्यों में अपनी सेवाएं प्रदान की है, इस प्रकल्प के संचालक हैं। अब तक इस प्रकल्प को एक लाख रुपये से अधिक मूल्य की दवाएं प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें रामकृष्ण होम्यो स्टोर हैदराबाद व ग्लैक्सो कम्पनी का योगदान प्रमुख है। दीनदयाल शोध संस्थान की ओर से एक एम्बुलैंस भी प्रकल्प कार्य हेतु प्रदान की गई है। आजकल अस्पताल दीनदयालपुरम् में एक नवनिर्मित मकान में स्थित हैं जहां डा० शास्त्री के साथ उनके एक सहायक कार्यरत हैं।

किसान सेवा पथकम्

तूफान ने खेतों को सागर के नमकीन पानी से भरकर खेती हेतु नितांत अनुप्रयोगी बना दिया था। ऐसी हालत में न सिर्फ किसानों को खेत पुनः उपजाऊ बनाने के आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों से परिचित कराकर अपितु बीज, खाद, कृषि यन्त्र व दवाओं को भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराने में इस प्रकल्प ने सफलता प्राप्त की है। वर्धमान सेवा समिति, बम्बई के सहयोग से ५४ से अधिक गांवों के किसानों को बढ़िया बीज उपलब्ध कराए गए हैं। नमकीन पानी के दोष को दूर करने के लिए किसानों को जिप्सम भी दिया गया है। अब किसान संघ के कार्यकर्ताओं व कुछ कृषि विशेषज्ञों के सहयोग से एक स्थायी समिति गठित की गई है जो समय-समय पर किसानों को कृषि के बारे में आवश्यक जानकारी व बीज, खाद व यन्त्र आदि के लिए सहायता प्रदान करेगी।

भारती सेवा सदन

मानवीय कष्ट में समाज के हर वर्ग की समान सहभागिता के भाव से ओतप्रोत यह प्रकल्प जितना चुनौतीपूर्ण है उतना ही आवश्यक भी। तूफान के विनाशकारी प्रवाह में हजारों बच्चे मां-बाप से बिछुड़ कर इस भरी दुनिया में अकेले रह गए। कौन पोंछे उनके आंसू ? इस दर्द के निदान स्वरूप 'भारत माता के हम बच्चे' का भाव लेकर भारती सेवा सदन की स्थापना की गई है। दीनदयालपुरम् में ही एक मकान में निराश्रित बच्चों के पालन-पोषण व शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। अभी कुछ बच्चे (२५ के लगभग) तो तुरन्त ही अपनाए गए हैं।



साकार आदर्श

दीनदयाल
जीवंत गांव है
मछली पट्टनम
(व्यापारिक के
सेवा शुरू कर
फोन की भी
उल्लेखनीय है
रहने वाले प्रत्ये
पूरा सामान (
दिये गए थे।
ज्यों-ज्यों मिटे,
सेवकों के साथ
में स्वतः ही ए

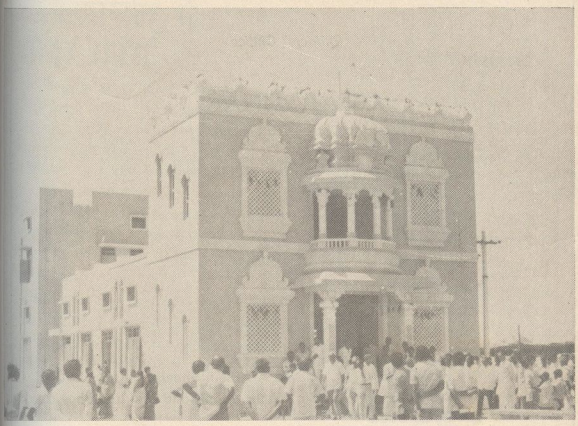

सार्वजनिक समारोहों के हेतु निर्मित 'भारती भवन' का संघ के सरकार्यवाह डा० राजेन्द्रसिंह द्वारा उद्घाटन का दृश्य (१ मार्च, १९७९)

साकार आदर्श

दीनदयालपुरम् अब एक चहल-पहल से भरपूर जीवंत गांव है। आन्ध्र प्रदेश परिवहन निगम ने मछली पट्टनम (जनपदीय मुख्य केन्द्र)व विजयवाड़ा (व्यापारिक केन्द्र) से सीधे दीनदयालपुरम् तक बस सेवा शुरू कर दी है। डाकखाना और सार्वजनिक फोन की भी व्यवस्था कर दी गई है। यहां यह उल्लेखनीय है कि गांव में बने सभी पक्के मकानों में रहने वाले प्रत्येक परिवार को घरेलू कामकाज का पूरा सामान (बर्तन आदि) तथा पहनने के कपड़े भी दिये गए थे। तूफान की विध्वंसलीला के अवशेष ज्यों-ज्यों मिटे, त्यों-त्यों निर्माण कार्य में रत स्वयं-सेवकों के साथ सम्पर्क में आए ग्रामीणों के जीवन में स्वतः ही एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया, जिसका वे गर्व से जिक्र करते हैं। पहले वे नशे के आदी थे। लेकिन उन्होंने कार्यकर्ताओं की लगन व निष्ठा से प्रेरित होकर अब शराब पीना छोड़ दिया है। यह आश्चर्यजनक उपलब्धि वस्तुतः रचनात्मक कार्य की सात्विकता का ही परिणाम है।

दीनदयालपुरम् शनैः शनैः एक साकार आदर्श का रूप ले रहा है। ३० अप्रैल ७८ को यहाँ १५ सामूहिक विवाह सम्पन्न किए गए व प्रत्येक दम्पति को २५० रुपये व नए कपड़े उपहार स्वरूप भेंट किए गए। इसी प्रकार की सामूहिक परस्पर अवलम्बित गतिविधियों के कलरव में प्रगति के क्षितिज पर अपना स्थान प्राप्त करने यह गांव बढ़ रहा है। कौन कहता है कि विनाश के प्रवाह में नवजीवन का संदेश नहीं छिपा होता ? □

ग्राम विकास के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन

अरुणाचल में सेवा कार्य

☐ स्वामी गौतमानंद*

हमारे देश के देहाती, विशेषत: वनवासी, इतने उपेक्षित हैं कि स्वा० विवेकानन्द के शब्दों में "वे ऋषियों की संतानें, पशु-समान मात्र लकड़हारे और कहार बनकर रह गये हैं"। उनको फिर से मानव के स्तर पर लाकर राष्ट्र के अभिन्न अंग बनाने के लिये केवल धन या वस्तुओं की सहायता या दान पर्याप्त नहीं होगा, अपितु उनके व्यक्तित्व के उचित विकास के लिये शिक्षा के माध्यम से उनमें विचार-शक्ति और आत्मविश्वास का जागरण कराना होगा।

खाद्य-उत्पादन, स्वच्छता और स्वशासन की शिक्षा से भी अधिक स्वामी जी का आग्रह था कि उन्हें आध्यात्मिक-प्रकाश मिले, धर्म का समावेश उनके जीवन के प्रत्येक स्पंदन में अनुगुंजित हो और व्यक्ति-व्यक्ति में दिव्य विभूति की ज्योति प्रतिबिंबित हो।

श्रीगणेश

ग्राम विकास के हेतु स्वामी जी के इस जीवन-दर्शन को लेकर, रामकृष्ण मिशन ने देहाती क्षेत्रों में १९९७ से अपना कार्य आरंभ कर दिया। पहला केन्द्र था : मुर्शिदाबाद (प० बंगाल) का अकाल-सहायता केन्द्र। स्वा० विवेकानन्द उन दिनों पाश्चात्य जगत में अपने भाषणों की धूम मचा कर लौटे ही थे। उसी समय एक विधि-विधान के संयोग से उनके गुरुभाई स्वा० अखंडानन्द द्वारा "महुला" नामक अकालग्रस्त गांव में रामकृष्ण मिशन द्वारा सेवा-क्षेत्र में पदार्पण हुआ।

स्वा० अखंडानन्द प० बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के अन्तर्गत प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान "प्लासी" की देखने के बाद, संयोग से एक रात्रि के लिये मार्ग में महुला ठहरे। वहां घोर अकाल से भूखे मरते लोगों की दुर्दशा देखकर प्रातःकाल विदा होने के स्थान पर स्वामी जी ने वहीं ठहर कर मृत्यु से संघर्ष करने का निश्चय किया।

इसी में से रामकृष्ण मिशन के अकाल सहायता-विभाग का जन्म हुआ। इसी का विकास क्रमश: अनाथालय, विद्या और संस्कृति केन्द्रों के रूप में तेरह शिक्षा-संस्थाओं, माध्यमिक स्कूलों, बेसिक स्कूलों, ट्रेनिंग स्कूलों, पुस्तकालय, छात्रावास आदि की स्थापना द्वारा हुआ।

सहायता-कार्य आदि का लाभ तो कुछ समय के लिये संकट टालने के निमित्त ही होता है। वास्तविक और स्थायी सहायता तो पिछड़े और उपेक्षित बंधुओं को उचित शिक्षा देना है। इसी कारण, मिशन के सेवाकार्य का द्वितीय सोपान ऐसे अनेक शिक्षा-केन्द्रों के निर्माण के रूप में हुआ, जिनमें से अनेक उत्तर पूर्वी भारत, आसाम और बिहार की वन्य-जातियों के बीच में स्थापित किये गये। पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और केरल में भी वनवासी-कल्याण के छोटे-मोटे प्रकल्प आरंभ किये गये।

वन्य जातियों में सेवा-कार्य

रामकृष्ण मिशन ने सर्वप्रथम १९२२ में मेघालय के वन्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। परन्तु वैल्श ईसाई-मिशनरी तो वहां १९४० से अड्डे जमाकर बैठे थे, और स्थानीय जनता पर उनका जादू छाया हुआ था। पहले तो वे रामकृष्ण मिशन को टिकने के लिये जमीन तक न देने पर अड़े हुए थे। जैसे-तैसे दृढ़-व्रती स्वा० प्रभानन्द जी ने उन्हें थोड़ी सी भूमि देने के लिये मना लिया और वहां एक प्राइमरी स्कूल आरंभ हो गया। शीघ्र ही अपनी आत्मीयता और अध्यापन के उच्च स्तर के कारण मिशन कार्यकर्त्ता अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। चिरा-पूंजी से लगभग ५० किलोमीटर के क्षेत्र तक का

* सचिव, रामकृष्ण मिशन, आलोंग (सियांग जिला) अरुणाचल प्रदेश

यह प्रथम हाई स्कूल बना, यद्यपि वैल्श-मिशन वहां पिछले ६० वर्ष से अपनी योजनाएं चला रहा था। इस स्कूल की शाखाएं आसपास तेजी से खुलती गईं और १९७० तक सामान्य तकनीकी तथा धर्म-शिक्षा प्रदान करने के लिये मेघालय की खासी, गारो और जैतिया वन्य-जातियों में लगभग ४५ स्कूल चलने लगे। ब्रिटिश शासन के समाप्त होने पर विदेशी मिशनरियों ने कुंठाग्रस्त होकर राम कृष्ण मिशन के विरोध में अनर्गल प्रचार किया, यद्यपि मिशन की दृष्टि और व्यवहार में राम कृष्ण, ईसा, बुद्ध और मुहम्मद एक तथा अभिन्न हैं।

अरुणाचल में अंग्रेजी-माध्यम स्कूल

घने जंगलों के कारण नेफा को भारत का अफ्रीका कहा जाता है। वहां के गिरिजन बंधुओं का एक शिष्टमंडल नई दिल्ली आया। परन्तु राष्ट्रपति महोदय द्वारा भी उनकी उपेक्षा हुई क्योंकि वे अंग्रेजी बोलने में असमर्थ थे। इसी में से "अंग्रेजी-माध्यम" स्कूल की मांग उठी। सरकार ने मिशन को यह दायित्व सौंपा तो सियांग जिले के केन्द्र "एलौंग" में १९६६ में ३५ गिरिवासी छात्रों को लेकर प्राइमरी स्कूल आरंभ किया गया। पहले शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हुआ, परन्तु धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा में अविच्छिन्न रूप से समाहित करने के लिये हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में स्वीकार किया गया। कृषि, मुर्गी-पालन, संगीत, ड्राइंग, चित्र-कला, टाइप, दर्जी का काम आदि को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया और एक डिस्पेंसरी भी खोली गई। कालान्तर में ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रेरित विरोधी प्रचार तथा षड्यंत्रों का सामना करते हुए भी, इसी स्कूल की सफलता और लोकप्रियता से उत्साह ग्रहण कर पिरत जिले में "शारदा मिशन" के तत्वावधान में एक रेजीडेंशल स्कूल की स्थापना की गई है।

यह उल्लेखनीय है कि इन स्कूलों को चलाने वाले स्वामियों और अध्यापकों को इन क्षेत्रों के विचित्र रीति-रिवाजों, वेशभूषाओं और मान्यताओं में स्वयं को ढालना पड़ा है। परन्तु वे अपने इन बंधुओं की वीरता, निर्भीकता और शारीरिक क्षमता आदि गुणों से अत्यधिक लाभान्वित भी हुए हैं। वनवासी और गिरिवासी बालक अनेक प्रतियोगितओं में नगरवासी बालकों से भी अधिक विचक्षण और बुद्धिमान सिद्ध हुए हैं। बहुत ही छोटी आयु में वहां के शिशु आत्म-निर्भर हो जाते हैं। इन सब विशेषताओं का विकास मिशन की प्रतिनिधि शिक्षा-संस्था "लोक शिक्षा परिषद्" के द्वारा हो रहा है।

सरकारी योजनाओं में सुधार की आवश्यकता

दुर्भाग्य से अधिकतर सरकारी योजनाओं के क्रियान्वयन में दूरदर्शिता और यथार्थवादी सूझबूझ का अभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ वनवासियों अथवा गिरिवासियों को कृषि के नये-नये ढंग, बागवानी, चाय और कहवे का उत्पादन सिखाने की योजनाएं तो उचित हैं। परन्तु उनका प्रशिक्षण देने के लिये जो अफसरों, क्लर्कों और सेवकों की फौज नगरों से उस क्षेत्र में लाई जाती है, उनमें न तो स्थानीय भाषा, न जातीय रीति-रिवाज, व्यवहार और शिष्टाचार सीखने का चाव है और न अपने इन युग-युग से उपेक्षित बंधुओं के साथ एकरस होने के लिये आवश्यक आत्मीयता, सम्वेदना तथा हृदय की विशालता। इसी कारण स्थानीय बंधुओं का सहयोग उनकी योजनाओं में उपलब्ध नहीं होता। यही नहीं, एक सतत वृद्धिगत प्रतिरोध, अधिकाधिक तीव्र होता हुआ विरोध, गहराई तक जड़ें पकड़ता हुआ अविश्वास इन बंधुओं के हृदय में अपना विष फैलाने लगा है। समय रहते यदि इसका उपाय नहीं किया गया और उचित मनोवृत्ति का निर्माण करके ध्येयानुकूल वातावरण उत्पन्न नहीं किया गया तो सारी आस्थाओं, आशाओं और महत्वाकांक्षाओं के ध्वस्त होने का संकट उपस्थित हो सकता है।

समर्पित कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता

हमें स्वा० विवेकानन्द के संदेश के अनुसार लौह-मांस पेशियों, इस्पात जैसी स्नायविक शक्तियों और सागर के समान विशाल हृदयों से निर्मित और राष्ट्र-भावना तथा विश्व-बंधुत्व के लिये समर्पित कार्यकर्त्ताओं के बल पर ही इन बंधुओं के संकटों

का विमोचन कर उनमें नव प्राणों का संचार करके पूर्णतः राष्ट्र-पुरुष के अविभाज्य और सक्षम अंग के रूप में उनका सम्यक् विकास करना होगा। लोक-कल्याण की गंगा बहाकर लाने वाले भगीरथों की एक बार फिर आवश्यकता है और अखंड भारतभूमि में रामराज्य प्रस्थापित करने के लिये नल और नील के आत्मीयता भरे स्पर्श द्वारा पाषाण-खंडों को प्रेम भाव से जोड़ कर भेद-भाव की सभी दुर्लंघ्य खाइयों पर पुल बनाने की आवश्यकता है। इन आदर्शों का सबसे आवश्यक और प्रत्यक्ष रूप इन वन्य और गिरि क्षेत्रों में सेवा-व्रत धारण कर कर्मशील जीवनों की भेंट चढ़ाना है। □

पश्चिमी बंगाल का नरेन्द्रपुर प्रकल्प

□ शिव शंकर चक्रवर्ती*

अनेक लोग रामकृष्ण मिशन के आश्रमों द्वारा विकीर्ण आध्यात्मिक चेतना, उसके द्वारा संचालित उत्तम विद्यालयों, महाविद्यालयों, लोक-चिकित्सालयों और प्राकृतिक संकटों में सहायता-केन्द्रों की गतिविधियों से परिचित हैं। परन्तु नगरों से दूर, सड़कों से काले कोसों परे, देहात के बीच ग्राम-विकास कार्य का परिचय बहुत कम लोगों को है। नरेन्द्रपुर का प्रकल्प मिशन की इस कल्पना का एक साकार रूप है।

सिद्धान्त और दृष्टि

(१) नरेन्द्रपुर संस्थान ने आवश्यक समझ कर स्थानीय लोगों को ही प्रशिक्षित करके प्रकल्प में जुटाने की परिकल्पना की है। इसके अनुसार हम प्रतिवर्ष लगभग १००० युवक-युवतियों को ग्राम-विकास के विभिन्न पक्षों के लिये प्रशिक्षित करते हैं।

(२) प्रौढ-शिक्षा और बाल-सुधार कार्य से आरंभ करके सर्वांगीण एकात्म विकास इस संस्था का ध्येय है।

(३) स्थानीय लोगों में स्वतंत्र चिंतन, स्वतंत्र संगठन-निर्माण और स्वावलंबन करने के लिये दो बातों पर आग्रह किया गया है :—

(क) युवा-नेतृत्व का उदय

(ख) गरीब लोगों के अधिकाधिक सहयोग द्वारा वास्तविक लोक-शक्ति का जागरण।

(४) अपने २३ वर्षों के अनुभव के आधार पर हमें समझ आई है कि प्रकल्प तभी सफल हो सकते हैं जब योजना बनाने से लेकर अंग-उपांग में क्रियान्वयन तक कार्य-विभाजन करके संपूर्ण जनता का सहयोग प्राप्त किया जाये। बाहरी लोगों के प्रयत्नों से युग-परिवर्तन कभी नहीं हो सकता।

(५) विकास-कार्यों के प्रभाव को सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों तक संचरित करने के लिये स्थानीय साधनों और स्थानीय जन-शक्ति का उपयोग ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

सम्पर्क-पद्धति

परिषद के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं के व्यक्तिगत सम्पर्क के अतिरिक्त केन्द्र तथा क्षेत्र के विभिन्न स्थलों में सम्पर्क के लिये एक विशिष्ट पद्धति का विकास किया गया है, जिसकी व्यवस्थाएं निम्नांकित हैं :—

(१) क्षेत्र-निरीक्षकों द्वारा प्रत्येक केन्द्र में नियमित रूप से मास में कम से कम एक प्रवास।

* निदेशक, लोक-शिक्षा परिषद, रामकृष्ण मिशन आश्रम, नरेन्द्रपुर, प० बंगाल



पुरुषों के लिए प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र

(२) केन्द्र पर विभिन्न प्रशिक्षण-वर्गों का आयोजन।

(३) "चलमान-वाहिनी" (मोबाइल स्क्वैड) नामक गतिशील साधनों द्वारा प्रशिक्षण।

(४) पांच से लेकर दस इकाइयों तक का एक मंडल के रूप में गठन।

(५) नियमित क्षेत्रीय तथा वार्षिक अधिवेशन।

(६) "समाज शिक्षा" नामक मासिक पत्रिका के माध्यम से समस्याओं पर विचार-मंथन और गतिविधियों का वृत्तों द्वारा परिचय।

(७) प्रदर्शनी, वार्षिक मेलों, विशिष्ट व्यक्तियों के प्रवास आदि की योजना।

कार्य-विस्तार

जिला मिदनापुर, चौबीस परगना, बांकुरा और पुरलिया के लगभग २०० गांवों में ८६ ग्राम्य-विकास-केन्द्र चलाये जा रहे हैं। सर्वांगीण विकास के निम्नांकित पक्ष द्रष्टव्य हैं :—

प्रौढ-शिक्षा

(१) १९८ प्रौढ़-शिक्षा तथा अनौपचारिक संस्कार-केन्द्रों का संचालन संस्था करती है।

(२) प्रौढ़ों की शिक्षा के उपयुक्त २३ पुस्तकें लिखी गई हैं तथा प्रकाशित हुई हैं।

(३) १७३ चल-पुस्तकालयों द्वारा नव साक्षर लोगों तथा कम पढ़े लोगों का विकास-क्रम आगे बढ़ाया जाता है।

(४) प्रौढ़-शिक्षा के उपयुक्त अध्यापकों का प्रशिक्षण आरंभ किया गया है।

(५) लगभग १५० फिल्म-शो प्रतिवर्ष आयोजित करके शिक्षा के स्तर को उठाने का प्रयत्न किया गया है।

(६) सांस्कृतिक मेलों तथा लोक-पर्वों का आयोजन।

(७) नरेन्द्रपुर में रात्रि-उच्च महाविद्यालय जिसमें २०० छात्र पढ़ते हैं। यहां का परीक्षा परिणाम ८०-९० प्रतिशत रहता है।

बाल-सुधार

इस प्रकार के कार्यक्रमों के माध्यम से समाज में अभेद-भाव, आत्मीयता और परस्पर विश्वास तथा सहयोग का वातावरण निर्माण करने में सफलता मिली है।



युवा-कार्यक्रम

युवाओं का सह
कित दिशाओं में क

(१) युवाओं का यो
हरणार्थः जन-
कृषि-संयन्त्रों
भाल, प्रौढ़-शि
सिलाई, कढ़ाई
आदि।

(२) स्व रोजगार य

(३) पुस्तक निधि।

(४) ट्यूटोरियल क

(५) युवा-सम्मेलन,

(६) उच्च-अधिकार

केन्द्र के अनुभ
ने भी अनेक प्रशिक्ष

आर्थिक विकास का

आर्थिक अवस

शहरीकरण : क्यों और किधर ?

□ ई० एफ० शुमाखर



ई. एफ. शुमाखर : "स्माल इज ब्यूटीफुल" और "ए गाइड फार दि परप्लेक्स्ड" जैसी पुस्तकों के सुप्रसिद्ध लेखक। जन्म जर्मनी में हुआ। १९३० में 'रोड्स स्कॉलरशिप' लेकर ऑक्सफोर्ड के न्यू कालेज में अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। बाद में न्यूयार्क में कोलंबिया विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक रहे। जर्मनी में १९४६ से १९५० तक "ब्रिटिश सेन्ट्रल कमीशन" के सलाहकार के रूप में कार्य किया और १९५० से १९७० तक "नेशनल कोल बोर्ड" के सलाहकार रहे। आगे चलकर, व्यापक उत्पादन की तकनालॉजी और उसके परिणामस्वरूप हो रहे औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के वे कटु आलोचक हो गए। मध्यम-तकनालॉजी और ग्राम-जीवन की विचारधारा के वह प्रबल प्रतिपादक थे। संयुक्त राज्य अमेरिका में 'लिडिसफार्ने' जैसे सामुदायिक रहन-सहन के वैकल्पिक प्रयोगों से वह प्रमुख रूप से जुड़े रहे। ग्राम-विकास पर उनकी सलाह दूर-दूर के देशों में ली जाती रही। १९७४ में उन्हें सी. बी. ई. से सम्मानित किया गया। डॉ० शुमाखर का १९७७ में निधन हो गया। १९७६ में उनकी मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तक "गुडवर्क" के कुछ अंश यहां दिए जा रहे हैं।

आज के दैत्याकार शहर सस्ता और काफी मात्रा में तेल उपलब्ध होने का ही एक परिणाम हैं। हम खुद ही अपने आप से कहते हैं : आदमी को शहर की जरूरत तो है ही। संस्कृति सिर्फ खेती से नहीं उपजती। मानवीय भावनाओं के विकास के लिए और उनके परस्पर सामंजस्य के लिए सघन सामुदायिक जीवन वाले क्षेत्रों का होना आवश्यक है। यद्यपि, शहरों का अस्तित्व पांच या छः हजार वर्ष पुराना है फिर भी उनका आकार एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सका। ऐसा क्यों नहीं हुआ ? एक बड़ा शहर सिर्फ अपने आप पर जिन्दा नहीं रहता—जमीन के ऊपर और भूमिगत सीमाओं के बाहर दोनों जगह रहता है। एक स्थानीय शहर अपने चारों ओर प्रदत्त भूमि की सीमाओं के घेरे में बंधा रहता है। पहले यह घेरा ज्यादा बड़ा नहीं होता था क्योंकि आवागमन केवल पशु और मानव पर ही निर्भर करता था। यह सही है कि समुद्र के किनारे स्थित शहर यातायात के लिए एक अन्य प्रकार की ऊर्जा का भी उपयोग कर सकते थे जिसे वायु-शक्ति के नाम से जाना जाता है, इसलिए बड़े-बड़े शहरों का विकास समुद्र-तटों के आस-पास ही हुआ जहां उन्हें जहाजों की सुविधा उपलब्ध थी। और हम जानते हैं कि अब से सौ साल पहले तक कोई भी शहर ऐसा नहीं था जिसकी आबादी दो-तीन लाख को पार कर गई हो।

शहर और कृषि उत्पादन

लेकिन बाद में शहरों की बढ़ोत्तरी में यह अवरोध उस समय दूर हो गया जब मनुष्य ने खनिज ईंधनों जैसे पहले कोयले और फिर तेल का इस्तेमाल शुरू किया तथा इसके पश्चात् जब यातायात की तकनॉलॉजी का विकास हुआ तो बड़े-बड़े शहर धीरे-धीरे तमाम दुनिया पर छा गए। शहरों के भीतरी भाग ही असली दुनिया समझे जाने लगे। लेकिन शहरों की बढ़ोत्तरी में एक बाधा भी थी—यदि अस्सी लोग खेती करें तब कहीं सौ लोगों का भोजन जुटा सकते थे। अतः ८० प्रतिशत लोगों को देहात में रहना पड़ा और केवल २० प्रतिशत लोग शहरों में रह सकते थे। लेकिन यदि मनुष्य की प्रति व्यक्ति उत्पादकता में बहुत तेजी से वृद्धि हो और



विद्यालय निर्माण प्रकल्प में छात्रों द्वारा योगदान

युवा-कार्यक्रम

युवाओं का सहयोग प्राप्त करने के लिये निम्नांकित दिशाओं में कार्य हुआ है :—

(१) युवाओं का योजनाओं के लिये प्रशिक्षण, उदाहरणार्थ: जन-नेतृत्व, मुर्गी-पालन, दुग्ध-उत्पादन, कृषि-संयन्त्रों का निर्माण, मरम्मत और देख-भाल, प्रौढ़-शिक्षण, मधुमक्खी-पालन, बुनाई, सिलाई, कढ़ाई, छतरी निर्माण, डोरी-बांटना आदि।

(२) स्व रोजगार योजना।

(३) पुस्तक निधि।

(४) ट्यूटोरियल कक्षाएं।

(५) युवा-सम्मेलन, शिक्षा-यात्रा आदि।

(६) उच्च-अधिकारी प्रशिक्षण।

केन्द्र के अनुभव और क्षमता का लाभ सरकार ने भी अनेक प्रशिक्षण योजनाओं में किया है।

आर्थिक विकास कार्यक्रम

आर्थिक अवस्था सुधारने के लिये कुछ विशेष कार्यक्रम निम्नांकित हैं :—

(१) कुछ गांवों में सर्वांगीण विकास जिसमें पूर्ण रोजगार व्यवस्था भी सम्मिलित है।

(२) कृषि-सहायता-केन्द्र।

(३) दुग्ध-उत्पादन तथा मुर्गी-पालन योजनाएं।

(४) कुटीर उद्योग—जैसे छतरी बनाना, कताई, बुनाई, सिलाई, कढ़ाई, बेंत और बांस की वस्तुओं का निर्माण, फूलों का उगाना, बढ़ई का काम, शिल्प, डोरी की बुनाई, मधुमक्खी पालन, ताड़ का गुड़ बनाना आदि।

अनुसंधान तथा परीक्षण

अब तक निम्नांकित पक्षों में अनुसंधान कार्य हुआ है :—

(१) ८ गांवों का अध्ययन करके खाद्यान्न-पोषकता-संबंधी अनुसंधान।

(२) परिवार नियोजन के प्रति देहातों का दृष्टिकोण।

(३) छः केन्द्रों में इस प्रकल्प के प्रभाव निरीक्षण करके रिपोर्ट तैयार की जा रही है।



ग्राम के तालाब की सफाई में जुटे छात्र

(४) २४ परगना जिला के सुन्दरवन क्षेत्र में नई किस्म की मिर्च का विकास।

(५) खरीफ की फसल के चावल की नई किस्मों का परीक्षण।

प्रयोग के कुछ परिणाम

२३ वर्षों के अनुभव के आधार पर कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) देहातों के विकास में रुपया ही सब कुछ नहीं है। मूलाधार समर्पित कार्यकर्ता-निर्माण है जिसके लिये स्वा० विवेकानन्द ने आह्वान किया था।

(२) योजनाओं के क्रियान्वयन में रण-नीति भी बहुत महत्वपूर्ण है। आरंभ प्रौढ़ शिक्षा तथा बाल-विकास से करना अधिक युक्ति-संगत है।

(३) गरीबी दूर करने के लिये गरीबों का विश्वास-संपादन प्रथम आवश्यकता है। योजनाओं में उनको भागीदार बनाना ही सफलता की सीढ़ी है।

(४) प्रदर्शन और प्रारंभ से ही जोरदार प्रचार से शक्ति का अपव्यय और पथ-भ्रष्टता होती है। शांत और मूक कार्य अधिक यशस्वी होता है।

(५) विभिन्न कार्यक्रमों को चलाते हुए भी, संपूर्ण योजना को ध्यान से ओझल नहीं होने देना चाहिये। दृष्टि प्रत्येक कदम पर हो, परन्तु अंतिम और संपूर्ण ध्येय की कल्पना ध्यान में साकार रहे।

(६) प्रशिक्षण और पुनः प्रशिक्षण कार्यक्रमों को निरंतर चलाते रहना चाहिए। स्थानीय आवश्यकताओं और वातावरण के अनुकूल प्रशिक्षण में परिवर्तन करने की सिद्धता सदैव रहनी चाहिये।

नरेन्द्रपुर का यह प्रयोग अभी एक प्रयास मात्र है। पूर्णता की अपेक्षा करने या दंभ करने का कोई कारण नहीं। बुद्धि को मुक्त रखकर,हृदय को विशाल बनाकर, कदमों में दृढ़ता भरते हुए स्वा० विवेकानन्द द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर हम निरंतर आत्म-संशोधन करते हुए बढ़ सकें—प्रभु से यही विनम्र प्रर्थना है। अनुग्रहशील बंधुओं के सभी सुझावों का सहर्ष स्वागत है। □



पव्यय और पथ-भ्रष्टता होती है।
क कार्य अधिक यशस्वी होता है।

ार्यक्रमों को चलाते हुए भी, संपूर्ण
ध्यान से ओझल नहीं होने देना
ष्टि प्रत्येक कदम पर हो, परन्तु
र संपूर्ण ध्येय की कल्पना ध्यान में
।

और पुनः प्रशिक्षण कार्यक्रमों को
ाते रहना चाहिए। स्थानीय आव-
और वातावरण के अनुकूल प्रशिक्षण
करने की सिद्धता सदैव रहनी

ा यह प्रयोग अभी एक प्रयास मात्र
अपेक्षा करने या दंभ करने का कोई
द्ध को मुक्त रखकर,हृदय को विशाल
में दृढ़ता भरते हुए स्वा० विवेकानन्द
मार्ग पर हम निरंतर आत्म-संशोधन
र्के—प्रभु से यही विनम्र प्रर्थना है।
ओं के सभी सुझावों का सहर्ष स्वागत
□

समाज-सेवाएं : प्रवेश-बिंदु के रूप में

रत्नागिरि प्रयोग : एक अध्ययन

--प्रो० क्रिस्टोफर सी० बेनिंगर*

रत्नागिरि जिले की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

(अ) राज्य के अन्य सब जिलों की अपेक्षा यहां से जनसंख्या का बाह्य प्रवजन सर्वाधिक है।

(ब) यहां शहरी क्षेत्रों में रहने वाली जनसंख्या का प्रतिशत राज्य के अन्य जिलों की अपेक्षा न्यूनतम है।

(स) केवल २६ प्रतिशत प्रदेश पर खेती होती है जबकि राज्य में यह औसत ५२ प्रतिशत है।

(क) ०·९६ का उच्च निर्भरता अनुपात।

(ख) राज्य का रेलों से असम्बद्ध एकमात्र जिला।

(ग) राज्य भर में यहां का औद्योगिक विकास स्तर निम्नतम है। इस जिले में एक प्रबल स्वैच्छिक आंदोलन के रूप में काफी ऊंची साक्षरता दर, मत्स्य-पालन के पर्याप्त अवसर, छुटपुट, कृत्रिम, कृषि, वन-विकास, कृषि उद्यान विकास-पशु-पालन विकास की प्रबल क्षमताएं हैं। साथ ही राज्य के किसी भी जिले की तुलना में **मंदबुद्धि** जनसंख्या भी इसी जिले में है।

तटवर्ती प्रदेश में बसे हुए इस जिले की लम्बाई लगभग ३२० मील एवं चौड़ाई लगभग ३५ मील है। ३५ मील के इस छोटे से क्षेत्र में समुद्र से ३,००० फीट ऊंचाई वाली सह्याद्रि पर्वतमाला है। इस प्रकार यह जिला एक घाट क्षेत्र, मध्यभाग में स्थित पर्वतीय पट्टी और तट प्रदेश, जिसमें तेरह छोटी-छोटी नदियां बहती हैं, के बीच बंटा है। यह क्षेत्र अत्यधिक तरंगित है। और यहां की भूमि पथरीली है। जब कभी बहुत अधिक वर्षा होती है तो पानी पत्थरों पर से बहुत तेजी से बहता है और काफी निचले स्तर तक की ग्रेनाइट रेती को समुद्र तक बहा ले जाता है।

सन् १९७८ में स्वयंसेवी कार्यकर्ताओं के एक दल ने सरकार से आग्रह किया था कि इस जिले में सर्वांगीण क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम को अपनाया जाए।

डेवलपमेंट कार्पोरेशन आफ कोंकण लिमिडेड ने सरकार के सामने रखने के लिये एक प्रस्ताव तैयार करने की चुनौती को स्वीकार किया जो कि सामाजिक और आर्थिक निवेश को एक साथ प्रस्तुत करे। पूना के सेंटर फार डेवलपमेंट स्टडीज एन्ड एक्टीविटीज से इस कार्यक्रम की रूपरेखा बनाने तथा कार्यशालाएं आयोजित करने और खुले-प्रशिक्षण देने के काम में सहयोग देने का अनुरोध किया गया। महाराष्ट्र सरकार ने जिला स्तर की इस नई विकास नीति को मान्यता दी और इसके कार्यक्रमों को सहयोग देने में यूनिसेफ ने अपने पश्चिमी भारत स्थित कार्यालय के माध्यम से एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

यह प्रतीत हुआ था कि आर्थिक और सामाजिक निवेश परस्पर सहयोगी स्वरूप में विकसित होंगे। परन्तु पिछले प्रयासों से यह देखने को मिला है कि आर्थिक निवेशों पर समाज के धनिक वर्गों का आधिपत्य रहता था और वे निर्धनों को संगठित करने के लिये उत्प्रेरक के रूप में वे सफल नहीं हुए। अतः रत्नागिरि कार्यक्रम में एक ऐसा रास्ता ढूंढने की कोशिश की गई, जिससे निर्धन, जिनमें ज्यादातर जनसंख्या महिलाओं और बच्चों की है, स्व-सम्बद्ध क्षेत्रों के आस-पास संगठित हो सकें।

अधिकारों का हस्तांतरण

रत्नागिरि प्रकल्प में होने वाले विकास कार्य की परिभाषा में यह अधिकारों के हस्तांतरण की एक ऐसी प्रक्रिया है जहां सत्ता आर्थिक और सामाजिक

* निदेशक, सेन्टर फार डेवलपमेंट स्टडीज एण्ड एक्टीविटीज, पूना

कार्यक्रमों से लाभ उठाने वाले लोगों द्वारा संचालित संस्थाओं के हाथ में रहती है। लाभ उठाने वालों को समाज के ऐसे अति संवेदनशील वर्गों के रूप में परिभाषित किया गया जिनका प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय गरीबी की सीमा रेखा से नीचे है—भूमिहीन और दुर्बल लोग एवं ऐसे परिवार, जिनके पास रहने को जगह नहीं है तथा छोटे-छोटे कारीगर। कार्यक्रम का प्रमुख प्रयास लोगों को ऐसी छोटी-छोटी स्थानीय इकाइयों में संगठित करना है जो कि एक परिवार के लिये पर्याप्त रूप से अनुकूल हों लेकिन साथ ही वे इतनी बड़ी भी हों कि अपना प्रबंध-कार्य और मूल सेवायें स्वयं संभाल सकें। पंचकोशी इस क्षेत्र की ऐसी ही एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामान्यतया मान्य भौगोलिक इकाई है। ऐसी इकाई के रूप में इसका चुनाव निचले स्तर तक विकास कार्यों को चालू रखने की दृष्टि से ही किया गया। पंचकोशियों के निर्धारण के आधारों पर विचार किया गया और जिला स्तर की एक कार्यशाला में, जिसमें स्वयंसेवक, विधानसभा सदस्य, सांसद, बी. डी. ओ., जिला अधिकारी, राज्यीय विभागों के प्रतिनिधि और शोध-संस्थानों के प्रतिनिधि उपस्थित थे, इस पर अन्तिम निर्णय लिया गया। कार्यशाला में कार्यक्रम से लाभान्वित होने वाले वर्गों, तथा स्वयंसेवकों एवं सरकार की भूमिका, आदि को भी परिभाषित किया गया, जिला स्तर की शीर्ष संस्था की आवश्यकता पर बल दिया गया जो वांछित कोष जुटा सके और उपयुक्त प्रबंध भी कर सके। अनेक उपयुक्त योजनाओं पर पुनर्विचार किया गया। यह तय किया गया कि प्रत्येक पंचकोशी के पास आधारभूत सेवाओं की योजनाएं होनी चाहियें जो कि उत्प्रेरक के रूप में काम करेंगी और अपने मंडल के अन्तर्गत काम करते हुए पंचकोशी योजनाओं के समूह में से अपने लिये योजना छांट लेंगी तथा अपनी नई योजनाएं भी चालू करेंगी। अपनी पंचकोशी योजना के निर्माण में इसे एक कार्यक्रम अधिकारी तथा एक स्थानीय स्वयंसेवी संस्था का सहयोग प्राप्त रहेगा।

जिले की ६५ पंजीकृत स्वयंसेवी संस्थाओं का विस्तृत अध्ययन किया गया और उनमें से सात को चुना गया जिनमें से प्रत्येक दो या तीन पंचकोशियों में काम करेगी। अन्यों का चयन जिला स्तर के कार्यों, जैसे प्रशिक्षण या विकास संबंधी संचार के लिए किया गया।

"रत्नागिरि विकास निधि, (रत्नागिरि डेवलपमेंट फाऊंडेशन) का निर्माण किया गया ताकि (अ) सरकारी, स्वयंसेवी और संयुक्त राष्ट्र बाल कोष के निवेशों को समन्वित किया जा सके, (ब) विभिन्न स्रोतों से धन जुटाया जा सके (स) निम्नलिखित कार्यों में प्रशिक्षण दिया जा सके। (१) शिल्प-विकास (२) क्रियाशीलता, (३) दाई व प्रसाविका (४) निवेशों का स्थानीय रख-रखाव और (५) नई योजनाओं व प्रकल्पों के ऐसे स्वरूप में तैयारी, ताकि उनके लिये कोष की व्यवस्था की जा सके और वे स्थानीय मंडलों के सुझावों के आधार पर वे बनाई जा सकें।

साधन जुटाने वाला अस्त्र

अपने आप में यह कार्यक्रम व्यापक न होकर शक्तिदायक अस्त्र के रूप में है। यह स्थानीय समितियों के संगठन और उनकी अपनी योजनाएं चालू करने की संभावनाओं के अवसर उत्पन्न करता है। कार्यक्रम को सहायता देने के लिये जिले के प्रमुख कार्यक्षेत्रों (डेरी, कृषि-उद्यान, मछली-पालन और कृषि) का अध्ययन किया गया तथा जिला आयोजन व विकास समिति को पंचकोशियों को बड़ी आर्थिक गतिविधियों के साथ संयोजित कर उनके योजनाबद्ध विकास की दृष्टि से सुझाव दिये गए। इस संयोजन का क्रियान्वयन पंचकोशी स्तर पर प्रभावी भागों के विकास और जिला आयोजन तंत्र की वस्तुनिष्ठ प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है।

अतः आई. ए. डी. पी. रत्नागिरि के लिये प्रस्तावित प्रकल्प में सामने रखा गया कार्यक्रम एक ऐसा हथियार है जो संस्थागत विकास, उपयुक्त प्रशिक्षण, पुनर्निवेशन और प्रबोधन के माध्यम से विकास प्रक्रियाओं की शुरूआत करेगा। ऐसी योजनाओं की शुरूआत, जो प्रतिरूप में भी उत्प्रेरक हों और योजनाओं का एक झुंड हो, जो ऐसा ढांचा दे जिसमें से स्थानीय स्तर की संस्थाएं अपनी विकास की गतिविधियों के लिये कार्यक्रम चुन सकें।

यह कार्यक्रम (१) किसी एक विशिष्ट समस्या का समाधान नहीं है (२) न इसका ढांचा सुनिश्चित और सख्त है और (३) न ही यह अपने आप में एक पूरी तरह तैयार माल है। यह एक हथियार या औजार है जो स्थानीय स्तर पर साधन जुटाता है और एक खुला ढांचा सामने रखता है जिससे लाभ प्राप्त करने वाले इसका सदुपयोग कर सकते हैं, अपने आपको संगठित कर आत्म निर्भर बन सकते हैं और एक बेहतर जिंदगी जी सकते हैं।

सर्वांगीण क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम

जिला परिषदों के लिये पहले से ही दिये गये धन में से ही रत्नागिरि के लिये धन व्यय किया जा रहा है। तीन वर्षों के लिये जिला बजट में प्रकल्पित बजट का जो ४० करोड़ रुपया है उसमें से कार्यक्रम के लिये केवल १.८ करोड़ रुपया हाथ में लिया गया है। इस धन के इलावा लीड बैंक स्रोतों से २० लाख रुपये प्राप्त किये जाएंगे तथा संयुक्त राष्ट्र बाल कोष द्वारा लगभग ८० लाख रुपये की मदद इस कार्यक्रम प्रशिक्षण, आधारभूत सेवाओं के प्रोत्साहन और उत्तम आहार के लिये दी जा रही है।

प्रमुख योजनाएं

कार्यक्रम की प्रमुख योजनाएं इस प्रकार है—"कोर योजनाओं" का संकेन्द्रण, विद्यमान ग्राम स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, बालसेवकों, शिक्षकों, और ग्राम सेविकाओं की क्षमता निर्माण पर रहता है। पंचकोशियों के लिए महत्वपूर्ण आर्थिक प्रक्रियाओं के लिये शिल्प विकास भी इसका भाग है। आधारभूत सेवाओं के लिये जहां सुविधाएं नहीं है वहां इनका निर्माण किया जाएगा। प्रत्येक ब्लाक में एक प्रकल्प अधिकारी को पंचकोशी आयोजन सामुदायिक संगठन और प्रकल्प तैयार करने का प्रशिक्षण दिया जाएगा। मंडलों और न्यास का गठन किया जाएगा। एक समाज-सेवक, कुछ संचालकों तथा बाल सेवकों को नियुक्त और प्रशिक्षित किया जाएगा। ये कार्यकर्ता स्थानीय लोगों में से ही नियुक्त किये जाएंगे। 'कैफेटेरिया योजनाएं" प्रत्येक मंडल को उसके अपने अभिनव और अंतर्निहित गुणों के आधार पर योजनाएं चालू करने की छूट देती है। इसमें पशु-विकास, चरागाह-विकास, कृषि-उद्यान, मछली पालन, छोटे पैमाने के साधनों पर आधारित इकाइयां, बेंत का काम, खाद्य प्रक्रियाएं और वन विकास शामिल हैं। इसकी पूंजी लीड बैंक कोष से उपलब्ध होगी और संयंत्र न्यास के माध्यम से सहकारिता द्वारा उपलब्ध कराये जाएंगे। कोंकण लिमिटेड का विकास निगम प्रकल्प के इस पहलू को प्रोत्साहित करने में सक्रिय रूप से कार्यरत है।

निर्धन परिवारों को अच्छी श्रेणी की गायों आदि के रूप में दी जाने वाली संपत्ति पर कानूनी तौर पर मंडल का अधिकार होगा। ऐसी संपत्ति से प्राप्त उत्पादन का कुछ भाग पोषण कार्यक्रमों के संचालन के लिये मंडल को दिया जाएगा।

रत्नागिरि न्यास द्वारा यह कार्यक्रम जिले में अन्य पंचकोशियों तक पहुंचाया जाएगा। यह "राजकीय अधिकार प्राप्त समिति" और "ब्लॉक कार्यान्वयन समिति" के साथ मिलकर काम करेगा। आयोजन में स्नातक स्वर की योग्यता तथा ग्राम विकास के क्षेत्र में काम करने का अनुभव-प्राप्त एक कार्यक्रम-समन्वयक न्यास का अध्यक्ष होता है। वह सीधे तौर पर स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं से जुड़े प्रकल्प अधिकारियों का संचालन करता है। न्यास पंचकोशी मंडलों की ओर से नई योजनाओं को प्रोत्साहित करेगा तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी ओर से प्रकल्प प्रस्ताव भी तैयार करेगा। यह जिले में हुई प्रगति का आकलन करेगा और जिला परिषद् से मिलने वाले निवेशों को समन्वित करेगा।

सर्वांगीण क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम, रत्नागिरि क्षेत्र के कुछ सर्वाधिक प्रमुख भाग गये है :—

(क) जिला स्तर पर प्रबंध और समन्वय क्षमताओं का निर्माण,

(ख) विकास संस्थाओं की एक शृंखला खड़ी करना जिनका स्थानीय रूप से विस्तार सूक्ष्म-स्तर पर होता है,

(ग) मुहल्ला या ग्राम स्तर तक काम करने

वाली संस्थाओं का भागीदारों, विशेषतया समाज के अति संवेदनशील वर्गों द्वारा नियन्त्रण।

(घ) स्थानीय स्रोत और ग्राम-विकास के लिये क्षमतावान स्वयंसेवी संस्थाओं को जोड़ना।

(च) शिल्प-विकास, क्रियात्मक शिक्षा और अन्य प्रशिक्षण निवेशों का उपयोग।

(छ) पुननिवेश, प्रबोधन और आकलन आदि प्रणालियों को शामिल करना।

(ज) सामाजिक और आर्थिक निवेशों का एकत्रीकरण और उसके "कोर" व "पैरीफेरिया" निवेशों में विभाजन। स्थानीय आर्थिक निवेशों को बाह्य बाजार और उच्च क्षमताओं से सम्पन्न एक बड़े विकास-तन्त्र से जोड़ना।

(झ) समय के साथ-साथ कार्यक्रम के विस्तार, वृद्धि और पुनर्गठन के लिये अंतः निर्मित तंत्र, और

(ण) जिला विकास न्यास की स्थापना, जो जिला कियान्वयन तंत्र की क्षमताओं को स्वायत्त समिति की स्वतंत्रताओं से जोड़ सके। □

WITH BEST COMPLIMENTS

FROM

MAHARASHTRA

STEEL ROLLING & ENGINEERING WORKS

RE-ROLLERS, ENGINEERS, FABRICATORS, C.I. & BRASS FOUNDERS

SPECIALISTS IN

WINDOW SECTIONS

LAL BAHADUR SHASTRI MARG,
Bhandup,
Bombay-400 078

Phones : **592010 ; 592641** *Grams :* "**Mahasteel,**' (**Bhandup**)

जहाँ मानव आत्मसृजन में लीन है

□ लक्ष्मण टी० जोशी*

यदि मुझसे एक वाक्य में बाबा आम्टे के काम का वर्णन करने को कहा जाए तो मैं कहूंगा, "यह एक साथ मानव-पुनर्रचना और ग्राम-पुनर्रचना का कार्य है। ग्राम-पुनर्रचना की शैली का यह एक आदर्श नमूना है—एक सर्वांगीण विकास प्रकल्प।"

यह दुर्भाग्य ही है कि बाबा के कार्य को अक्सर गलत समझ लिया जाता है, या यूं कहें कि पूरी तरह से समझा नहीं जाता। ज्यादातर लोग उन्हें एक कुष्ठ कार्यकर्ता अथवा कवि समझते हैं, तथा दूसरे एक साहित्यकार व कुष्ठ कार्यकर्ता के साथ-साथ एक कृषि शास्त्री भी समझते हैं। वह एक बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं। अपने इन सभी गुणों का उपयोग वे अपने अन्तिम लक्ष्य - मानव-पुनर्रचना और ग्राम पुनर्रचना तक पहुंचने के लिए करते हैं। निर्धनता, भूख और जनसामान्य के अज्ञान को देख-देखकर तो बेचैन हो उठते हैं। आंसू उनके गालों पर ढुलक पड़ते हैं। कहते हैं कि वे अपनी आत्मा को खोज निकालना चाहते हैं परन्तु उनकी आत्मा उन्हें नहीं मिलती, तब वह अपने भगवान् का पता लगाना चाहते हैं परन्तु उनका भगवान् भी हाथ नहीं आता, लेकिन जब वह अपने बधु को ढूंढना चाहते हैं तो उन्हें वह तीनों ही एक साथ मिल जाते हैं। निर्धन, असहाय और कुष्ठ-रोगी बाबा के तीन बंधु हैं। बाबा आश्चर्य से कहते हैं, "मनुष्य पुराने गिरजों के खंडहरों में तो उत्कृष्ट प्रेरणा की तलाश करता है, पर मानव के भग्नावशेषों से कुछ नहीं सीखता।" बाबा को केवल अस्वस्थ देह परन्तु स्वस्थ मस्तिष्क वाले कुष्ठ रोगियों की अपेक्षा उन लोगों को कहीं ज्यादा चिंता रहती है जिनका शरीर तो स्वस्थ है परंतु मस्तिष्क अस्वस्थ है। यही कारण है कि बाबा ने आनन्दवन से जो काम शुरू किया था, आज वह हेमलकासा तक पहुंच गया है जहाँ उनके आदिवासी विकास प्रकल्प "लोक-बिरादरी" का मुख्यालय है। बाबा के कार्यों का आकलन उनके द्वारा मात्र कुष्ठ-रोगियों के लिए किये जा रहे काम के आधार पर ही नहीं किया जाना चाहिए। कुष्ठ-रोगियों की सेवा उनका एकमात्र लक्ष्य नहीं है। उन के दिमाग में इससे कहीं आगे की योजना है। सोमनाथ और अशोकवन में किया गया उनका कृषि-संबंधी कार्य और हेमलकासा में आदिवासी विकास कार्य के अतिरिक्त उनके कार्य के अन्य केंद्रों को भी आकलन करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। आनन्दवन तो लगातार चलने वाली शृंखला की ही एक कड़ी है। आनन्दवन उस व्यक्ति के लिए आशा की एक किरण है जिसे उसके संबंधियों व समाज ने ठुकरा दिया है। आनन्दवन उसे आश्रय देता है, चिकित्सा-सहायता प्रदान करता है, परन्तु किसी दान के रूप में नहीं। वहां उसे अपनी कार्य क्षमता को सिद्ध करने का अवसर दिया जाता है। वह प्रशिक्षण लेता है, उसका आत्म-विश्वास लौट आता है और वह सोमनाथ, अशोकवन, हेमलकासा और अन्य केन्द्रों पर काम करने चला जाता है। वहाँ वह दूसरे कारीगरों के काम में हाथ बंटाता है। जब उसके स्वस्थ मस्तिष्क से रोग की बाधाएं दूर हो जाती हैं तो वह पुनर्रचित मानव साल में लगभग सात मास तक बाकी दुनिया से परे रहने वाले इसी क्षेत्र की पुनर्रचना के प्रयास में जुट जाता है। इस क्षेत्र में अधिकांश जनसंख्या ऐसे आदिवासियों की है जिन्हें रोटी, कपड़े और मकान का कोई ज्ञान नहीं है। सभ्यता इनसे मीलों दूर है। इसीलिए मैं कहता हूं कि बाबा का काम मानव की पुनर्रचना और ग्राम-पुनर्रचना दोनों एक साथ करना है। दुर्भाग्य से बाबा के प्रशंसक भी उनकी इस सर्वांगीण विकास की शैली से अनभिज्ञ हैं। इसी कार्य के साथ यह एक बहुत बड़ा अन्याय है।

सेवा की गंगोत्री

बाबा आम्टे ने अपना सर्वांगीण विकास का पथ-प्रदर्शक कार्य वर्षों पहले सन् १९५१ में वारोरा के

* मुख्य संवाददाता, दैनिक 'तरुण भारत', नागपुर

बाह्यांचल में नागपुर से ११० किलोमीटर की दूरी पर स्थित तहसील केन्द्र में "आनन्दवन" के नाम से शुरू किया। यह स्थान बाबा के कार्य की "गंगोत्री" है। उन्होंने वहां अपना कार्य १४ रुपये की अल्प राशि से आरम्भ किया और शुरू में छः मरीजों की सेवा का काम हाथ में लिया। यह विचार बाबा के दिमाग में उस समय कौंधा जब उन्होंने वारोरा निगम समिति, जिसके कि वे उपाध्यक्ष थे, के सामने एक कोढ़ी को बहुत बुरी हालत में पड़े देखा। एक क्षण के बाद उन्हें उसमें अपना सबसे निकट का और सबसे प्रिय बंधु नजर आया और उनका अन्तःकरण सिहर उठा। लेकिन बाबा एक साहसी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने भयातुर मन को काबू किया और कोढ़ियों के लिए कार्य करने की ठान ली। उनकी पत्नी श्रीमती साधना, जो कि एक रूढ़िवादी परिवार की लड़की थी, ने भी उनका साथ दिया।

एक-एक कर कोढ़ के रोगी काफी संख्या में पहुंचने शुरू हो गए, पर बाबा ने कभी भी किसी को ना नहीं कहा। बाबा ने सरकार की ओर सहायता के लिए हाथ बढ़ाया और वारोरा के निकट थोड़ी जमीन उन्हें मिल गई। यह एक वीरान जंगल था जो कंटीली झाड़ियों और सख्त चट्टानों से अटा पड़ा था। बाबा ने भूमि की इस चुनौती को स्वीकार किया और कोढ़ियों के कड़े परिश्रम की मदद से घने जंगल को साफ किया, वहां एक कुंआ खोदा और खेती शुरू की। कोढ़ के रोगियों के इलाज का काम तथा छोटे-छोटे ईंटों के मकानों का निर्माण साथ-साथ चलता था। यह सब उसी स्थान पर उपलब्ध साजो-सामान और जन-बल के सहारे किया गया। कुछ भी बाहर से नहीं लाया गया। ईंटों का निर्माण देशी तरीके से रोगियों द्वारा अपने आप किया गया था और दरवाजे और खिड़कियां आदि भी इसी प्रकार बने। आज आनन्दवन में ११०० कोढ़ के अंतरंग रोगी हैं, १०० नेत्रहीन और ६० शारीरिक रूप से विकलांग हैं। इसके अतिरिक्त वहां लगभग १,००० बाह्य रोगी हैं जो आनन्दवन में रहते और काम करते हैं। यह ऐसे २,५०० पुरुषों और महिलाओं का आत्मनिर्भर गांव है जिन्हें समाज अछूत समझता था। बाबा ने उनमें आत्म-सम्मान को जागृत किया और उन्हें रचनात्मक कार्य की प्रेरणा दी। अब वे केवल अपने आपके लिए ही नहीं सीखते बल्कि दूसरों के भी काम आते हैं। आनन्द निकेतन कॉलेज, जहां कला, वाणिज्य, कृषि और विज्ञान की शिक्षा दी जाती है, शेष समाज के प्रति उनकी कृतज्ञता का प्रतीक है। इस कॉलेज परिसर के भवन समाज के द्वारा ठुकराये गए कोढ़ियों के खून और पसीने से बने हैं।

एक नया सोमनाथ

लेकिन यह कहानी यहीं खत्म नहीं होती। 'सोमनाथ' नाम का केन्द्र बाबा का एक और सपना था जो साकार हुआ। यह आनन्दवन से १०० किलोमीटर दूर एक जंगली इलाका है। बाबा ने यहां १५०० एकड़ भूमि मानव-शक्ति प्रशिक्षण केन्द्र के लिए ली थी। आनन्दवन से बहुत से रोगी यहां आये। उन्होंने लगभग ५०० एकड़ भूमि को कृषि योग्य बनाया और परिस्रवण टंकियों की एक शृंखला तैयार की तथा धान की खेती के प्रयोग किये। गर्मियों में सम्पूर्ण देश से और खास तौर पर महाराष्ट्र से नौजवान यहां आये और एक महीना यहां रह कर रोगियों के साथ काम किया। यहां पर स्वस्थ और विवाहित दम्पतियों की एक बस्ती है जिसे शांति सदन कहा जाता है। कोढ़ रोग से स्वस्थ हो चुका शंकर दादा, जो कि बाबा का एक विश्वासपात्र भी है, इस प्रकल्प का काम देखता है। बाबा के विकास के संदेश को वह आगे बढ़ा रहा है। यद्यपि उसने कृषि की शिक्षा किसी विश्वविद्यालय में प्राप्त नहीं की है, परन्तु कृषि विकास की आधुनिकतम तकनॉलॉजी में वह किसी कृषि-शास्त्री से कम नहीं है। सोमनाथ की १३०० एकड़ भूमि में से ६०० एकड़ को खेती के काम में लाया जा रहा है। आनन्दवन, हेमलकासा और अन्य विकास केन्द्रों पर हर वर्ष ३,५०० क्विंटल धान, १६ हजार लीटर दूध और १,००० क्विंटल सब्जियों का उत्पादन कार्यकर्ताओं, रोगियों और आदिवासियों द्वारा किया जाता है। नागपुर-वर्धा-मार्ग पर नागपुर से २० किलोमीटर दूर स्थित अशोकवन बाबा के कार्य का एक और केन्द्र है। यहां लगभग १०० रोगी रहते हैं और १२० एकड़ भूमि पर काम करते हैं तथा ३०० क्विंटल धान, ५,०००



लीटर दूध व ५०
करते हैं। बाबा
कार्य के इन केन्द्र

आदिवासियों क

बाबा के क
१९५१ में जो गं
के भाभरगढ़ न
दरी" के रूप
केवल १४ साल
प्रदेश और अ
की यात्रा की
जातियां रहत
सभ्यता किस
की सन्तान हैं
जून से लेकर
कटा रहता है
यहां इन जंग
तक पहुंचने के
गांव भी एक



हेमलकासा में कार्यरत बाबा आम्टे के ज्येष्ठ पुत्र डा० विकास आम्टे

लीटर दूध व ५०० क्विंटल सब्जियों का उत्पादन करते हैं। बाबा, साधना ताई और अन्य कार्यकर्ता कार्य के इन केन्द्रों का नियमित दौरा करते रहे हैं।

आदिवासियों का शोषण

बाबा के काम की गंगोत्री—आनन्दवन से सन् १९५१ में जो गंगा बह निकली थी वह चंदरपुर जिले के भाभरगढ़ नामक आदिवासी क्षेत्र में "लोक-बिरादरी" के रूप में सन् १९७२ में पहुंची। जब बाबा केवल १४ साल के थे तभी उन्होंने महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश और आंध्र सीमाओं पर लगे इस घने जंगल की यात्रा की थी। यहाँ मारिया गोंद नामक जन-जातियां रहती हैं जो यह भी नहीं जानतीं कि सभ्यता किस चिड़िया का नाम है। वह तो प्रकृति की सन्तान हैं—पूरी तरह से वन-सम्पदा पर आश्रित। जून से लेकर जनवरी तक यह क्षेत्र बाकी दुनिया से कटा रहता है। जनवरी से जून के शेष समय में भी यहां इन जंगलों के सबसे महत्वपूर्ण गाँव अल्ला पल्ली तक पहुंचने के लिए मीलों चलना पड़ता है। आज यह गाँव भी एक "शोषण-केन्द्र" बन गया है। वन-रक्षक, स्कूल-अध्यापक, वनों के ठेकेदार, पटवारी, पुलिस और छोटे किसान आदिवासियों का लगातार शोषण करने वाला शोषक वर्ग है। पुरानी वस्तु-विनिमय-प्रणाली यहां आज भी विद्यमान है। नमक जैसी प्राथमिक आवश्यकता की सामान्य वस्तु के लिए भी शोषक लोग एक किलो नमक के बदले दो किलो धान की माँग करते हैं। आदिवासियों से उनका धन छीनने वाले शोषक उन्हें भयाक्रांत भी किये रहते हैं। इस अमानवीय शोषण से दुखी होकर बाबा ने यहाँ लोक बिरादरी प्रकल्प आरम्भ करने का निश्चय किया।

सेवा में लीन संतानें

जिला मुख्यालय चंदरपुर से २२५ मील दूर हेमलकासा लोक-बिरादरी प्रकल्प का मुख्यालय है। इस प्रकल्प को शुरू करने से पहले बाबा ने २५ कार्य-कर्ताओं के साथ इस क्षेत्र के पिछड़े भागों में बसे आदिवासियों के जीवन के अध्ययन का अभियान हाथ में लिया। यह एक रौंगटे खड़े कर देने वाला अनुभव था। उसी अनुभव से लोक-बिरादरी प्रकल्प का स्वरूप बना। बाबा के दो सुपुत्र डॉ० विकास और

प्रकाश आगे आये और उन्होंने यहाँ रहने का निश्चय किया। कुछ शिक्षित युवकों गोडबोले, दीक्षित आदि ने उनका हाथ बंटाया और आनन्दवन में स्वस्थ हुए कुछ कोढ़-रोगियों को भी काम में शामिल किया। परिस्थितियां अत्यंत कठिन थीं। किन्तु भाषा, व्यवहार और रहन-सहन की बाधाओं के मुकाबले में प्रेम की शाश्वत धारा और समर्पण प्रबल सिद्ध हुए। एक छोटी सी झोपड़ी में एक चिकित्सालय शुरू किया गया। रोगियों की परीक्षण मेज बांसों से बनाई गई। पेड़ काटकर जंगल को कृषि योग्य बनाया गया और धान की खेती शुरू हुई। दूर-दूर से रोगी हेमलकासा में आने लगे। चिकित्सालय से दवाओं के साथ-साथ वे विकास के संदेश भी अपने साथ ले जाते। हेमलकासा के आश्रम के विद्यालय में पढ़ने वाले उनके पुत्र और पुत्रियां अब बाबा के संदेश की मशाल के वाहक बन गए। १९७६ में लगभग २० किलोग्राम धान का वितरण किया गया था।१९७९में इसकी मात्रा ४७९ किलोग्राम तक पहुंच गई। बाबा बीज बेचते नहीं, बल्कि उनके बदले में उतनी ही मात्रा में अन्न वापस मांग लेते हैं और आश्चर्यजनक रूप से यह वसूली शत-प्रतिशत रहती है। लोक-बिरादरी प्रकल्प केवल कोढ़ियों तक ही सीमित नहीं है। यहां सभी प्रकार के रोगियों का इलाज किया जाता है। यहां आग से जलने के रोगी अधिक अनुपात में होते हैं क्योंकि आदिवासी आग के निकट "शेकोटी" में सोते हैं। मलेरिया यहां भयानक रूप से फैलता है। प्रसव सुविधाएं भी प्रदान की जाती हैं। प्रकाश आम्टे की पत्नी डा० मेण्डा गर्भवती स्त्रियों की देखभाल करती हैं। उन्होंने प्रकाश को ही अपना जीवन साथी चुना, यह जानते हुए भी, कि प्रकाश ने किन कठिनाइयों से टकराने का निश्चय किया हुआ है। आज हेमलकासा में लगभग १५० लड़के औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकल्प के अन्तर्गत प्रारम्भ से अब तक एक लाख रोगियों की चिकित्सा की जा चुकी है। हेमलकासा में २० एकड़ और नेगेपल्ली में १० एकड़ भूमि पर



बाबा आम्टे (दायें) हेमलकासा के चिकित्सा केन्द्र का निरीक्षण करते हुए।

बाबा आम्टे : व्यक्ति-दर्शन



मुरलीधर देवीदास आम्टे का जन्म सन् १९१४ में मध्यभारत के एक धनाढ्य जमींदार परिवार में हुआ। उन्होंने कानून का अध्ययन किया और सफलतापूर्वक वकालत की जिससे वह सहकारिता और नागरिक मामलों के सम्पर्क में आये। लेकिन चारों ओर फैली निर्धनता और अभावों से वह अत्यधिक पीड़ित रहते थे। सर्वाधिक भयानक दृश्य तो तब उपस्थित होता जब वे समाज से दुत्कारे गए और अछूत समझे जाने वाले कुष्ठ-रोगियों को तड़प-तड़प कर मरते देखते। उनकी मान्यता थी कि इन लोगों को भी लाभप्रद कार्यों में पुनर्स्थापित किया जा सकता है। उनके जीवन का यह दृढ़ विश्वास था कि विकलांगों को दया-दान की नहीं अपितु सम्मानपूर्ण जीवन-यापन कराने योग्य उचित काम की आवश्यकता है। इसीलिए कोढ़ के बारे में अध्ययन करने के निमित्त वे लाक्षणिक चिकित्सा विद्यालय कलकत्ता में गए। वहां से लौटकर उन्होंने राज्य सरकार से भूमि प्राप्ति के प्रयास किए। उन्होंने "आनन्द वन" नाम के एक पुनर्वास केन्द्र की स्थापना की। उसके बाद "सोमनाथ", "अशोक वन" "लोक-विरादरी" इत्यादि केन्द्र खुले। उनकी पत्नी श्रीमती साधनाताई, पुत्र डॉ० विकास तथा डॉ० प्रकाश, बहुएं और अन्य कई युवा स्वयंसेवक इस कार्य में उनके सहयोगी हैं। अब बाबा की आयु ६६ वर्ष की है, किन्तु शारीरिक रूप से अस्वस्थ होने पर भी उनका उत्साह पहले से जरा भी कम नहीं हुआ है।

सन् १९७१ में भारत सरकार ने उन्हें "**पद्मश्री**" की उपाधि से सम्मानित किया और १९७८ में उन्हें "**राष्ट्र भूषण**" की उपाधि दी गई। भारतीय जमनालाल बजाज प्रतिष्ठान ने १९७९ में "**बजाज-पुरस्कार**" प्रदान किया तथा नागपुर विश्वविद्यालय ने १९८० में उन्हें डी० लिट० से विभूषित किया।



वनवासी गांव में हैण्डपम्प का सुख

खेती की जा रही है। प्रति वर्ष लगभग २२५ क्विंटल धान, ७,५०० लीटर दूध, १५० क्विंटल सब्जियाँ और २,००० अंडों का उत्पादन किया जाता है। ये खेत, डेयरी और मुर्गी-पालन केन्द्र आदिवासियों के लिए पथ-प्रदर्शक प्रकल्प हैं। आदिवासी यहां आते हैं, धान की खेती को देखते हैं और बीज ले जाकर इस प्रणाली को अपनाने का प्रयास करते हैं।

स्वतः उत्पादक व्यवस्था

प्रायः कोई रचनात्मक काम हाथ में लेने पर एक समिति बनाई जाती है, संविधान तैयार किया जाता है, दान-दक्षिणा इकट्ठी की जाती है और सहायता व छूट प्राप्त करने के लिए सरकारी व अन्य वित्तीय संस्थाओं का सहारा लिया जाता है। अपने काम के लिए बाबा आम्टे ने भी एक समिति की स्थापना की जिसका नाम "महारोगी सेवा समिति" रखा गया। इसमें पदाधिकारी चुने गये व संविधान भी बनाया गया। लेकिन बाबा आम्टे ने औपचारिकताओं का गुलाम होना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने धन और सहायता की अधिक चिंता किये बिना सीधे काम शुरू कर दिया। उल्लेखनीय है कि धनाभाव में बाबा का काम कभी नहीं रुका। उन्होंने एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया है जिसमें उन्हें बाहरी सहायता पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। यह व्यवस्था स्वतः उत्पादक है। उन्होंने कार्यकर्ताओं के विचारों को पूरा महत्व दिया है। ये कार्यकर्ता आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु का अपने यहां ही उत्पादन करते हैं। अन्न, दूध, सब्जियां, अंड, ईंटें, फर्नीचर, चारपाइयां, कुर्सियां, गद्दियां, फूल सब कुछ (नमक, चीनी और मिट्टी के तेल को छोड़कर) आनन्द वन में ही पैदा होता है। बाबा ने एक उद्देश्य ध्यान में रखकर ही स्वतः उत्पादक तकनीक को अपनाया है। बाहर से आने वाले दानी यात्रियों को भी यह विश्वास रहता है कि उनके धन का सदुपयोग हो रहा है। कुछ वर्ष पूर्व आर्थर तार्मोवस्की नाम के एक पोलियो के रोगी अपने विश्व अभियान के अंत-



गंत आनंद वन
होकर उन्होंने लग
इस राशि में कोढ़
"संधी निकेतन"
रिक रूप से विक
कोढ़ियों को काम
अपने प्रकार का
से दुरुस्त किए गए
जुटे हैं। बाबा के
सहायता राशि

बाबा ने ज
नारायण, शंकर
और उन्होंने स
युग में सब यह
वीर जन्म ले प
का जन्म नहीं



जंगल में मंगल : निर्माण की साधना

गेत आनंद वन आए। वहां के काम से प्रभावित होकर उन्होंने लगभग १,५०,००० रुपये दान दिये। इस राशि में कोढ़ियों का पसीना जोड़कर बाबा ने "संधी निकेतन" की स्थापना की। यह प्रकल्प शारीरिक रूप से विकलांग और मानसिक रूप से अस्वस्थ कोढ़ियों को काम के अवसर प्रदान करता है। यह अपने प्रकार का एकमात्र ऐसा स्थान है जहां समाज से दुत्कारे गए लोग इकट्ठे होकर एक नई रचना में जुटे हैं। बाबा के प्रकल्प में स्विटजरलैंड से प्राप्त सहायता राशि से भी काफी मदद मिली है।

बाबा ने जो प्रणाली तैयार की उसी में से नारायण, शंकर दादा जैसे कार्यकर्ता आगे आए और उन्होंने सक्षम नेतृत्व प्रदान किया। आज के युग में सब यह तो चाहते हैं कि शिवाजी सरीखा वीर जन्म ले परंतु कोई अपने परिवार में शिवाजी का जन्म नहीं चाहता। वह तो पड़ोस में पैदा हो। बाबा इसका एक अपवाद हैं। वे चाहते थे कि उनके दोनों पुत्र भी इसी उदार कार्य में जुटें। उन्होंने विकास और प्रकाश को प्रेरणा दी; परंतु उन्हें विवश नहीं किया। आज तो स्थिति यह है कि न केवल विकास और प्रकाश बल्कि उन दोनों की युवा पत्नियों ने भी शहरी जीवन के आरामों को छोड़कर, इस चुनौती को स्वीकार कर, स्वयं को अपने आदिवासी भाइयों की सेवा के लिये समर्पित कर दिया है।

कार्य के पीछे की भावना

लेकिन बाबा आम्टे यह सब कैसे कर पाए? इसके पीछे दलितों के प्रति उनका गहरा प्रेम, दुलार और सहानुभूति है। उन्होंने ईसाई मिशनरियों से प्रेरणा ली। जब मिशनरी हजारों मील दूर से निर्धनों की सेवा करने आ सकते हैं तो भारतीय यह काम क्यों नहीं कर सकते? यह एक सवाल था।

उनके प्रकृति-प्रेम, निचले से निचले स्तर के लोगों के लिये स्नेह, दलितों के साथ किए गए दुर्व्यवहार को सुधारने की तीव्र उत्कंठा और समाज के वैज्ञानिक विकास में उनके अटूट विश्वास ने न केवल कोढ़ियों को प्रेरणा दी बल्कि युवाओं को भी जगाया। उनके सहयोगी श्री मधुभाई पंडित, जो एक जाने-माने रचनात्मक कार्यकर्ता हैं, बाबा की सफलता का राज इन शब्दों में खोलते हैं—"जब बाबा एक प्रकल्प से दूसरे प्रकल्प तक पहुंचते हैं तो वह नई ऊंचाइयों को छूने लगते हैं, मित्रगण अक्सर शंका व्यक्त करते हैं कि पुराना प्रकल्प उनकी अनुपस्थिति में शायद जारी न रह पाए; परंतु उनके संदेह हमेशा निराधार सिद्ध हो जाते हैं। बाबा कहते हैं, "समाज सेवा में भी उद्यम की भावना तो रहनी ही चाहिये। जब आप एक प्रकल्प शुद्ध करते हैं तो आपकी दृष्टि दूर-दूर तक जानी चाहिये, परंतु आप के पांव धरती को कस कर जकड़े रहें। जब आप एक प्रकल्प को चालू करें तो उसी में लीन हो जाएं और उसे सफल बनाने में पूरी शक्ति लगा दें।" कोढ़ियों के उद्धार के लिये बाबा ने अपने रोगियों को उनकी अपनी संस्थाएं अत्यंत सक्षम तरीके से चलाना सिखाया। जहां एक एक पैसे की बचत की जाती है और प्रत्येक बेकार से बेकार वस्तु का भी उपयोग किया जाता है। प्राप्ति और भुगतान की सब रसीदों को नियमित रूप से खातों में चढ़ाया जाता है। उत्पादन का काम एक अनुशासनबद्ध तरीके से होता है। उत्तरदायित्व आपस में बांटे जाते हैं और एक दूसरे के काम के स्वतः निरीक्षण व पुनर्निरीक्षण के तरीके निर्धारित किये गए हैं। यही है बाबा की सफलता का राज। इस सबके बावजूद वे सफलता का अधिकांश श्रेय अपने रोगियों को ही देते हैं।"

□

WITH BEST COMPLIMENTS

From

M/s. Nowrangroy Ramawatar

5, COMMERCIAL BUILDING,
CALCUTTA—1
PHONES : 22-1245, 22-7984

(JUTE MERCHANTS AND COMMISSION AGENTS)

ग्राम भारतो

अनुश्रुति

पैंतालीस बरस की आ

झाझा मोंगी स्थित जिल
मीटर दूर के गांव टटुआ दीह
स्थितियों ने वक्त से पहले ही
बना दिया है, जिसकी खुशि
उसे निराशा दे दी है, अप
रहे कच्चे कुंए के पास खड़
दृष्टि से कुंए की ओर दे
हमारे गांव को सिंचाई के लि
जाएं तो यह गांव काश्मीर ब

"क्या मतलब ?"

"तब हम इस लायक हो
आठ के स्थान पर छः मास ह

यह उत्तर बिजली के ए
तक हिला देने वाला है ! स
दण्ड ? विकास की दर जहां
में कमी से नापी जाती है।

थोड़ा संभलकर हमने पू
खर्चा कितना आता है ?"

हमारे साथ जो स
बताया—

"लगभग दस हजार रु
चालीस हजार रुपये।"

घोर आश्चर्य ! जिला मु
किलोमीटर की दूरी पर बसे
से चार कुंए बनाने के लिये
मिल सके !

(१

कार्यक्षेत्र

भूख के शिकार ऐसे क्षेत्र

* सम्पादक, 'प्वाइन्ट ड

ग्राम भारती, सिमुलतला (बिहार)

□ देवदत्त*

प्रस्तुति

पैंतालीस बरस की आयु का बालेश्वर।

झाझा मोंगी स्थित जिला मुख्यालय से दो किलोमीटर दूर के गांव टटुआ दीह का निवासी, जिसे परिस्थितियों ने वक्त से पहले ही काला और खस्ता हाल बना दिया है, जिसकी खुशियां छीन कर बदले में उसे निराशा दे दी है, अपने खेत के किनारे बन रहे कच्चे कुंए के पास खड़ा हुआ वह आशाभरी दृष्टि से कुंए की ओर देखकर कहता है, "अगर हमारे गांव को सिंचाई के लिये चार कुंए और मिल जाएं तो यह गांव काश्मीर बन जाए।"

"क्या मतलब ?"

"तब हम इस लायक हो जाएंगे कि वर्ष में हमें आठ के स्थान पर छः मास ही भूखों मरना पड़ेगा।"

यह उत्तर बिजली के एक झटके की तरह भीतर तक हिला देने वाला है ! समृद्धि का यह कैसा मापदण्ड ? विकास की दर जहां भूखों मारने वाले दिनों में कमी से नापी जाती है।

थोड़ा संभलकर हमने पूछा "और एक कुंए पर खर्चा कितना आता है ?"

हमारे साथ जो समाज-सेवक था उसने बताया—

"लगभग दस हजार रुपये। चार कुएं यानि चालीस हजार रुपये।"

घोर आश्चर्य ! जिला मुख्यालय से केवल दो किलोमीटर की दूरी पर बसे इस गांव को ३० सालों में चार कुंए बनाने के लिये ४०,००० रुपये भी नहीं मिल सके !

(१)

कार्यक्षेत्र

भूख के शिकार ऐसे क्षेत्र में 'ग्राम-भारती' कार्यरत है। ग्राम पुनर्रचना की एक संस्था जिसके प्रेरणास्रोत गांधी जी के विचार हैं और जिसका जन्म सन् १९६२ में विनोबा भावे द्वारा बिहार में चलाए जा रहे भूदान आंदोलन से हुआ। धन की तो बात ही छोड़ें, यहां तक कि इस क्षेत्र में तो विकास के अ सहज उपलब्ध साधनों—समय, स्थान और श्रम का भी पूरी तरह प्रयोग और उपयोग नहीं हो पा रहा था।

सूर्यास्त के पश्चात् यहां किसी प्रकार की आर्थिक गतिविधि तो क्या, घर से बाहर करने लायक कोई भी काम संभव नहीं है। आदमी, औरतें और बच्चे, मुर्गियां, खरगोश, कुत्ते-बिल्लियां, बैल, गायें, सबके सब सूर्योदय की प्रतीक्षा में अगले बारह घंटों तक मिट्टी के झोंपड़ों में सिमट जाते हैं—भागलपुर से हजारीबाग तक फैली हुई राजमहल पर्वतमाला के दायरे में ८ से १५ किलोमीटर चौड़ा यह एक वर्षा-बहुल क्षेत्र है। दूर दूर तक फैले खाली, चट्टानी और पथरीले तथा रेतीले मैदानों में कहीं-कहीं चावल के खेत या घास के हरित खण्ड देखने को मिलते हैं। या फिर नदी, नाले, तालाब हैं, जहां आपको पुरुष और महिलाएं धान रोपते, पशुओं को चारा खिलाते या खेत जोतते दिखाई पड़ेंगे। जिनके ऊपर गहरा नीला आकाश है, जिसमें रुपहले या चमकते सलेटी रंग के मानसूनी बादल जहां तहां चिपके हैं जिनसे औसतन ७०० से १३०० मिलीमीटर तक की वर्षा प्रतिवर्ष होती है।

बिहार के मुंगेर जिले का यही एक मात्र ऐसा क्षेत्र है जहां प्रत्येक आठ भूखण्डों में से केवल एक ही जुताई के काम में आता है और इनमें भी प्रत्येक पांच इकाइयों के साथ दो इकाइयां ऐसी हैं हैं जो जुताई योग्य होते हुए भी बजर हैं। भूमि की प्रत्येक २५ इकाइयों में से केवल एक की ही सिंचाई होती है (सारिणी [देखें)।

शिक्षा की दृष्टि से देखें तो आठ में से केवल

* सम्पादक, 'एडवान्स आफ इण्डिया', नयी दिल्ली

सारिणी—I

मुंगेर जिला (बिहार) में झाझा, सोनो और चकाई ब्लॉकों में भू-संपदा का विवरण

	झाझा	सोनो	चकाई	कुल
१० भूमि				
क्षेत्र (एकड़ में)	१,०४,९६८	९६,३३६	१,९०,१६५	३,९१,४६९
वन (,,)	५०,२५९	३१,२१४	६५,९७७	१४,७४१
बंजर भूमि (,,)	२,७१४	१४,९१०	१४,०६०	३१,६४४
चरागाह (,,)	१,१२०	४८५	४,९४८	६,५४३
फलोद्यान (,,)	१,३८९	१७१	९४	१,६५१
गैर-कृषि भूमि	१६,३७३	६,८१४	८,५५१	३१,७३८
कृषि योग्य भूमि (,,)	१३,६९०	१३,०८८	२५,३२७	५२,१०५
कृषि योग्य सूखी भूमि (,,)	३,३०३	६,१६८	१०,६८४	२०,१५५
उपलब्ध कृषि हीन (,,)	१०,५६२	१४,१३४	३९.४८७	६४,१८३
अन्य कृषि हीन (,,)	५,५६८	९,३४७	२१,०५७	३५,९७२
कुल सिंचित क्षेत्र (,,)	३,०१८	८,०८४	१,६२४	१२,७२६
कुल शेष क्षेत्र	२३,९४१	१३,२८४	२४,२२६	६१,४५१
II सिंचाई सुविधाएं				
(क) नहर द्वारा	९८६	—	—	९८६
(ख) कुंओं द्वारा	१,५२७	१,३२६	१२	२,८६१
(ग) अन्य तरीके	२७२	५,६०५	३८१	८,२४८
(घ) पम्प आदि	२३४	१,१५३	१,२३१	२,६१८
कुल (क+ख+ग) उपरोक्त	३,०१८	८.०८४	१,६२४	१२,७२६
III गांव				
राजस्व गांवों की संख्या	१९७	२५०	६००	१,०४७
पंचायतों ,, ,,	२०	१६	२५	६१
ग्राम सभाओं ,, ,,	११५	११०	२५०	४७१

(ग्राम भारती, सिमुलतला के अभिलेख से)

एक व्यक्ति साक्षर है। कृषक, भूमिहीन-कृषक और कारीगर जैसे प्रत्येक ७ रोजगार शुदा लोगों के साथ ५ पूरी तरह बेरोजगार व्यक्ति हैं। शेष बिहार में ६५% लोग गरीबी की सीमा रेखा के नीचे रहते हैं, तो इस क्षेत्र में यह संख्या ८५% है।

औसत भू-स्वामित्व इस क्षेत्र में ०.०५ हेक्टेयर है जो कि बिहार के औसत भू-स्वामित्व का एक तिहाई है,

तीन ब्लाकों झाझा, सोना व चकाई की चार लाख की कुल जनसंख्या में से केवल ९२ हजार के पास रोजगार है अर्थात् लगभग एक रोजगार लगे व्यक्ति को चार लोगों का खर्च चलाना पड़ता है वह भी उपजहीन भूमि या छोटे उद्योगों के सहा (सारिणी II)।

बिहार में मुंगेर जिले के इन तीन ब्लाकों समय, स्थान और समूह के संसाधनों का पूरी तरह

सारिणी—II

जनसंख्या, रोजगार और साक्षरता, तीन ब्लॉकों में (झाझा; सोनो और चकाई) मुंगेर में

जनसांख्यिक	झाझा ब्लॉक	सोनो ब्लॉक	चकाई ब्लॉक	कुल ब्लॉक
जनसंख्या	१,१०,८४६	८६,१०३	१,५३,०८६	३,५०,०३५
अनुसूचित जातियां	१३,३८१	१४,१९८	१५,०६०	४२,६४७
अनुसूचित जनजातियां	६,७५७	४,५१६	२०,००९	३१,२८२
व्यावसायिक भाग				
किसान	१४,२८१	१४,४५१	१९,०३९	४७,७८१
कृषक-श्रमिक	८,३८६	७,८७१	६,९५१	२१,१०८
घरेलु उद्योग कर्मचारी	५,१५५	३,८०९	१,१८४	१०,१४८
अन्य उद्योग	९,१७१	२,२५६	१,४८७	१२,९१४
बेरोजगार	२५,४१६	१८,९९३	२२,२३०	६६,८३९
साक्षरता				
साक्षरता (पुरुष)	१६,४२२	८,१६५	१०,१८०	३४,७६७
,, महिलाएं	३,६९१	१,०२७	१,५०३	६,२२१
,, (कुल)	२०,११३	९,१९२	११,६८३	४०,९८८

(ग्राम भारती, सिमुलतला के अभिलेख से)

उपयोग नहीं हो पाता, इसीलिये वहां के लोग अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिये जी-तोड़ कोशिश करने के लिए विवश हैं।

वहां की जन-शक्ति के बारे में तो जितना कम कहा जाए उतना ही बेहतर है—परंपरागत रूप से पिछड़े और दलित, समाज-जीवन से एकदम कटे हुए। (और यदि आधुनिक विचारों की कोई थोड़ी बहुत जानकारी उन तक पहुंची भी है तो उसने वहाँ के निवासियों की आत्मा को भ्रष्ट ही किया है) पुरुषों में केवल ८ प्रतिशत ही साक्षर हैं और महिलाओं में तो यह संख्या केवल १ प्रतिशत हैं।

ग्राम भारती का कार्य क्षेत्र, जिसका मुख्यालय पटना-हावड़ा रेलवे-लाइन पर सिमुलतला में है, घोड़े की नाल के आकार से मिलता जुलता है, जो ३०-४० किलोमीटर की दूरी तक राजमहल पहाड़ियों की शृंखला के साथ ८ से ११ किलोमीटर चौड़ी पट्टी पर फैला है। इसका क्षेत्रफल ३९१ लाख एकड़ और जनसंख्या ४ लाख है।

(२)

गतिविधियां और कार्यक्रम

ग्राम-भारती को औपचारिक रूप से ९ जुलाई, १९७७ को पंजीकृत किया गया। उस समय के इसके मसौदे में किये गए उल्लेख के अनुसार इसका उद्देश्य महात्मा गांधी द्वारा अपने जीवन काल में अपनायी गई एवं सत्य और अहिंसा के आदर्शों का संवर्धन करने वाली रचनात्मक गतिविधियों को चलाना और

आगे बढ़ाना है। इस मसौदे में इस प्रकार के आठ क्षेत्रों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है जिनके कार्यक्रमों में खादी और ग्रामोद्योग, कृषि, कृषि-उद्यान, सिंचाई, पशुपालन, मुर्गीपालन, प्रौढ़-शिक्षा, ग्राम स्वास्थ्य व स्वच्छता, ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता का निवारण—सम्मिलित हैं।

इन कार्यक्रमों से लाभान्वित होने वालों का जिक्र करते हुए मसौदे में शामिल किये गए लोगों में "बच्चे, युवा, कृषक, श्रमिक वर्ग, समाज के पिछड़े वर्गों के सदस्य-जैसे आदिवासी, हरिजन आदि" सम्मिलित हैं।

इन कार्यक्रमों का अंतरिम उद्देश्य बताया गया है: "सामाजिक और आर्थिक समता और इसके कार्य-क्षेत्र में रहने वाले समुदायों के बीच बंधुत्व को प्रोत्साहन। इस क्षेत्र में झाझा, चकाई, लक्ष्मीपुर, खैरा, जमुई और सोनो ब्लाक, जो कि बिहार के मोहयार जिले में है, सम्मिलित हैं।"

वर्तमान समय में ग्राम भारती की गतिविधियां इस प्रकार हैं (i) लघुस्तरीय सिंचाई के कार्य अर्थात् कुंओं अहार, बांध आदि का निर्माण और सिंचाई व्यवस्थाएं, (ii) भू-विकास, (iii) बेहतर कृषि तकनीकी को बढ़ावा—विशेष तौर पर बेहतर बीजों और खादों के प्रयोग को प्रोत्साहन, (iv) प्रौढ़-शिक्षा (v) किसानों के लिये बैलगाड़ी, अच्छे बीज और खाद खरीदने के लिये वित्तीय सहायता (vi) ग्राम और वन में उत्पादित वस्तुओं, जैसे साल की लकड़ी दस्तकारी की चीजों आदि की बिक्री के लिये ग्राम-वासियों को सेवाएं व सुविधाएं उपलब्ध कराना (vii) बच्चों और महिलाओं में पोषक आहार का वितरण (viii) वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत उच्च शिक्षा का प्रबंध (ix) सूखा-पीड़ितों के लिये सहायता कार्य।

इससे पूर्व १९६९-७७ के दौरान ग्रामभारती के कार्यक्रमों में मुर्गीपालन, सुअरपालन, डेयरी, मछली पालन, बढ़ईगीरी, अम्बर चरखा आदि भी शामिल थे।

सारिणी III में १९६९-७७ के दौरान इन कार्यक्रमों को दी गई प्रमुखता की ओर संकेत किया गया है।

सारिणी—III

कार्यक्रम	आरंभिक वर्ष	काम के अन्तर्गत आए गांवों की संख्या	अन्तिम विनिमय
कृषि व सिंचाई	१९६९	३००	६०%
पशुधन	१९७५	११	१०%
डेयरी	१९७५	२४	५%
मछलीपालन	१९७०	६	१%
घरेलु उद्योग	१९७५	४	
क्ले पाइप	१९७५	४	२%
कंकर लाइम	—	१०	४%
अम्बर चरखा	१९७६	१०	१०%
बोन खाद	१९७६	२०	
बढ़ईगिरि व तकनीकी शिक्षा	१९७७	५	१%

'हाऊ' (नवम्बर, १९७९) नई दिल्ली से

यह स्पष्ट है कि १९६९ में प्रदत्त राशि का ४० प्रतिशत भाग गैर-सिंचाई कार्यक्रमों के लिये था। लेकिन अब इन कार्यक्रमों को 'धन की कमी' के कारण छोड़ दिया गया है।

दूसरे शब्दों में अब सारा बल सहायता-कार्यों के संदर्भ में विकास कार्यों पर दिया जा रहा है, यानि विकास का प्राथमिक आधारभूत ढांचा तैयार किया जा रहा है। इसके साथ-साथ सूखा-पीड़ितों की सहायता के दौरान उजाड़ कृषि योग्य क्षेत्रों में सिंचाई के प्रबंध भी किये जाते हैं।

बताया गया है कि १९७७-८० के दौरान ग्राम भारती द्वारा सिंचाई सुविधाओं व विकास सम्बन्धित रचनात्मक गतिविधियों पर लगभग १८ लाख रुपये के व्यय से १७६ कुंओं, अहारों और बांधों के निर्माण कार्य को हाथ में लिया गया।

अन्याय के विरुद्ध संघर्ष

इन कार्यक्रमों के फलस्वरूप ग्राम भारती मात्र संकटावस्था में सहायता प्रदान करने वाली संस्था-मात्र होकर ही रह जाती, यदि इसके संचालक ने इसके कार्यकर्त्ताओं के छोटे भाग एवं संसाधनों को लोक शिक्षण और लोक-जागरण के कार्य में न जुटाया होता। इनका स्वरूप है: गांव के लोगों को संगठित कर उन में आत्मविश्वास जागृत करना और उन्हें अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक करना।

ग्राम भारती अपने प्रमुख कार्यक्रमों को ग्राम-सभा और ग्राम-दान के संगठनात्मक ढांचे के माध्यम से लागू करती है। यह ढांचा १९६२-६९ के बीच बिहार में बिनोबा के भूदान आंदोलन के दौरान बना था। यह केवल उन्हीं गांवों के लिये सहायता और सिंचाई प्रकल्प प्रस्तुत करती है जहां ग्राम सभाएं उपस्थित हैं। इस बात का भी प्रयास किया जाता है कि लोग इन ग्राम-संगठनों का इस्तेमाल स्थानीय अन्याय और सामाजिक बुराइयों, नौकर-शाही तथा निहित स्वार्थों के विरुद्ध संघर्ष में करें।

विभिन्न क्षेत्रों में जाकर काम करने वाले ग्राम भारती के कार्यकर्ता गांव में सहायता-कार्य करते समय कमजोर वर्गों के प्रति किये जा रहे अन्याय या अनियमितताओं पर भी नजर रखते हैं। ग्राम सभा के नेतृत्व को सहयोग देकर वे इन अभिशापों से गांव वालों को मुक्ति दिलाने में मदद करते हैं। पहला प्रयास तो शांतिपूर्ण तरीकों और बातचीत से हल निकालने का ही रहता है। अंतिम उपाय के रूप में संगठित दबाव और संघर्ष का रास्ता भी अपनाया जाता है।

वास्तव में शिवानन्द भाई के नेतृत्व में १९६०

सारिणी—IV

	रुपये लाखों में
१. कूड़ा करकट निवारण केन्द्र, सिमुलतला	२.५०
२. ९० केंद्रों के लिये प्रौढ़ शिक्षा अनुदान	००.९६
३. 'काम के बदले अनाज' के लिये २.५० क्विंटल खाद्यान्न की व्यवस्था,	२५.००
४. साल लीफ कय और खादों के लिये पूंजीगत वित्त	२०.००
५. बीजों व खादों के लिये वित्त	५.००
६. हस्तकला पूंजी वित्त	१०.००
७. गोबर गैस निर्माण पूंजी वित्त	४.००
८. खादी आदि खादी आयोग से	५.३२
९. ग्राम कोष	५.००
कुल जमा	७७.७८ लाख रुपये

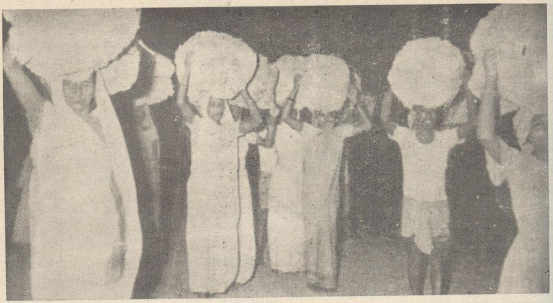

ग्रामीण महिलायें सिर पर पत्तलें उठाये बाजार की ओर

के दशक में इसी प्रकार का संघर्ष ग्राम भारती का प्रमुख कार्यक्रम रहा और सहायता-कार्य गौण पड़ गया था।

वन रक्षक और अन्य छोटे-मोटे अफसर आदिवासियों का शोषण करते रहते थे। इस क्षेत्र में अपने सरकारी दौरों के दौरान वे आदिवासियों से जबर्दस्ती आतिथ्य प्राप्त करते थे। उनकी स्त्रियों का शोषण किया जाता था। उनकी खड़ी फसलों के साथ गोल-माल होता तथा बास्की जैसे समाज-विरोधी उन्हें आतंकित करते रहते थे।

शिवानन्द भाई के अनुसार ग्राम-भारती भूमि, भ्रष्टाचार और सामाजिक बुराइयों की जड़ समाज विरोधी तत्वों, नौकरशाही, निहित आर्थिक स्वार्थों के विरुद्ध इस क्षेत्र में होने वाले संघर्ष-कार्यक्रमों में सदा सम्मिलित रही है।

अगस्त १९७९ में लगभग १५,००० लोगों ने एस. डी. ओ. का घेराव किया और अपने क्षेत्र को सूखा-पीड़ित क्षेत्र घोषित कराने के लिये प्रदर्शन किया। क्योंकि यह क्षेत्र सभी प्रकार से इस लायक सिद्ध होता था। काफी कड़े संघर्ष के बाद प्रशासन को झुकना पड़ा।

संगठन ने जयप्रकाश नारायण के बिहार आंदोलन में सफलता पूर्वक भाग लिया और शिवानन्द भाई के अनुसार आपातकाल के दौरान संचालक सहित २५,००० पुरुष और ६०० महिलाएं जेल गई।

(३)

संसाधन

ग्राम भारती के पास ६५.५० एकड़ कृषि योग्य भूमि है जिसका ज्यादातर भाग खरीदा गया है। कुछ भूदान की भूमि है और कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा दान दी गई है। इस भूमि का इस्तेमाल 'आदर्श खेत' खड़े करने के लिये किया जाता है ताकि इनके माध्यम से खेती की आधुनिक तकनीकों का प्रदर्शन किया जा सके। इसके अलावा गौशालाएं व फलोद्यान भी बनाए गए हैं।

तीन ब्लाकों में कुल मिलाकर १४,०० गांव है जिनमें से, शिवानन्द भाई के अनुसार, ६०० ग्राम-



पशु शव उपयोग केन्द्र का बाहरी दृश्य

शासियों ने 'सुलभ ग्राम दान' की शपथ ली हैं और ५० 'ग्राम दान गांवों' के रूप में सक्रिय हैं और इनमें से १७५ को 'ग्राम दान गांवों' के रूप में सरकारी तौर पर पंजीकृत किया गया है।

शेष गांवों के 'ग्राम दान' गांवों के रूप में घोषीकरण में विलम्ब का कारण सरकारी तंत्र की सुस्ती है।

ग्राम केन्द्रों पर रहने के लिये इसके अपने भवन, गोदामों की व्यवस्था और कार्यालय के लिये स्थान है।

इसके पास अपना एक ट्रक, एक कार, एक मोटर-साइकिल, एक ट्रैक्टर, कुछ साईकिलें, चारा गोबर गैस संयंत्र और साधारण कृषि यंत्र बनाने के लिये एक कार्यशाला है। कुछ समय में कूड़े-करकट की व्यवस्था लिफ्टारे के लिये २.५ लाख रुपये की फैक्टरी लगा ली जाएगी जिसके लिये भवनों का पहले ही निर्माण हो चुका है।

ग्राम भारती के जिम्मेदार अधिकारियों के अनुसार सामान्य वार्षिक बजट २० से २५ लाख रुपये तक है; लेकिन १९८०-८१ में उन्होंने पूंजीगत विनियोग वाली कुछ नई योजनाएं शुरू की हैं।

निदेशक शिवानन्द भाई के अनुसार इस वर्ष के लिये जिन अतिरिक्त वित्तीय साधनों का आश्वासन मिला है उन्हें सारिणी iv में दिया गया है। सरकार द्वारा 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम के अंतर्गत उपलब्ध कराया जाने वाला अनाज मुंगेर जिले के तीन ब्लाकों में ग्राम भारती की रचनात्मक गति-विधियों का प्रमुख स्रोत है। इस वर्ष 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम के अंतर्गत २,५०० क्विंटल खाद्यान्त मिला था। यह कहा जाता है कि ग्राम भारती द्वारा प्रतिदिन १००० क्विंटल भोजन तीन किलोग्राम प्रति व्यक्ति की दर से वितरित किया जाता है। यह प्रतिमाह प्रति व्यक्ति १०५ ग्राम रेपसीड तेल का भी दैनिक वितरण करती है।

उसे स्वयं विदेशी सेवी और उदार संस्थाओं; जर्मनी की 'ब्रेड फॉर वर्ल्ड' तथा अमेरिका की 'ऑक्स फाम' से आर्थिक सहायता मिलती है। कुछ राष्ट्रीय स्वयं-सेवी संस्थाएं—क्रिश्चियन रिलीफ सर्विस, कासा, सर्व सेवा संघ, गांधी स्मारक निधि से भी आवश्यकता पड़ने पर राशि मिलती है। खादी ग्रामोद्योग कमीशन ने भी ऋण और सहायता प्रदान की है। सिंचाई विभाग (बिहार सरकार) ने कई बार ग्राम भारती



ग्राम भारती आश्रम में आयोजित 'तीन विकास खण्डों की आयोजना' विषयक व्याख्यान माला को सुनने के लिए एकत्र ग्रामीण नवयुवकों का समूह।

को सरकार द्वारा बनाए जा रहे सिंचाई प्रकल्पों का निरीक्षण करने के लिये आमंत्रित किया है।

केन्द्रीय सरकार प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों के लिये सहायता राशि प्रदान करती है।

शिवानन्द भाई की मान्यता है कि विदेशी धन को उत्प्रेरक के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये ताकि उसका उपयोग विकास कार्यक्रमों को शुद्ध करने में किया जा सके। कुछ भी हो, यह कहना पड़ेगा कि इस दृष्टि से ग्राम भारती अपने सारे कार्यक्रम के लिये सरकार पर निर्भर है।

(४)

संगठनात्मक ढांचा

झाझा, सोना और चकाई में ग्राम विकास का काम दो समांतर संगठनों के सोपानबद्ध ढांचे द्वारा संचालित किया जाता है।

पहले संगठन को ग्राम भारती कहा जाता है, और दूसरे संगठन में विभिन्न स्तरों पर जन-समितियां शामिल हैं। इसके साथ-साथ ग्राम भारती एक बड़ी संघात्मक संस्था की सदस्य भी है जिसका नाम 'बिहार ग्राम स्वराज्य सघन क्षेत्र समवाय समिति' है। इसमें ५४ अन्य गैर-सरकारी संस्थाएं भी सम्मिलित हैं जो बिहार में ग्राम विकास के काम में संलग्न हैं।

ग्राम भारती

ग्राम भारती में आम-सभा, संचालक-मंडल और क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता होते हैं। आम सभा, जिसमें विभिन्न श्रेणियों के कई सदस्य होते हैं, एक प्रकार की विधान-सभा है। संचालक मंडल ग्राम भारती के प्रबंध के लिये इसके प्रति उत्तरदायी होता है।

ग्राम सभा में शामिल सदस्यों की तीन विभिन्न श्रेणियां होती हैं—साधारण सदस्य, आजीवन सदस्य और संस्थापक सदस्य।

साधारण सदस्यों का सदस्यता शुल्क ३६५ रुपये प्रतिवर्ष है। उनकी ठीक ठीक संख्या प्रमाणित नहीं की जा सकी। लेकिन ग्राम भारती के संचालक के



अनुसार इसमें पांच पचास सर्वोदयी मित्र गया है कि संचालक होंगे—अर्थात् अध्यक्ष आजीवन सदस्य और

श्री शंकर लाल श्रीमती सरला देवी (सदस्य स्वीकार कि "कार्यालय सदस्यता" पास ग्राम-भारती के सुचारु रूप से चला परंतु साथ ही आम-इस पर लागू होता

यद्यपि ग्राम भा हरिजनों और आ संख्या है जो कृषि है, परंतु संचालक म कृषि क्षेत्रों के व्यक्ति के लोग हैं और भी नहीं हैं।

हम किसी प्र



सूखा क्षेत्र में कुआं खोदने में लगे हुए वनवासी गण

अनुसार इसमें पांच सौ सदस्य हैं और एक सौ पचास सर्वोदयी मित्र हैं। संविधान में यह कहा गया है कि संचालक मंडल में कम से कम ९ सदस्य होंगे—अर्थात् अध्यक्ष, संचालक, कोषाध्यक्ष, तीन आजीवन सदस्य और तीन संस्थापक सदस्य।

श्री शंकर लाल जैन, श्री शिवानन्द झा और श्रीमती सरला देवी (श्री झा की पत्नी) को आजीवन सदस्य स्वीकार किया गया है जो कि आजीवन "कार्यालय सदस्यता" संभालेंगे। संचालक मंडल के पास ग्राम-भारती के उपयुक्त प्रबंध व प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिये पर्याप्त अधिकार हैं, परंतु साथ ही आम-सभा का नियंत्रण व निर्देशन भी इस पर लागू होता है।

यद्यपि ग्राम भारती के क्षेत्र में हिंदुओं,मुसलमानों, हरिजनों और आदिवासियों की मिली-जुली जन-संख्या है जो कृषि और संबंधित व्यवसायों में जुटी है,परंतु संचालक मंडल में अधिकांश हिंदु और गैर-कृषि क्षेत्रों के व्यक्ति हैं। इसमें ७९% हिंदु जाति के लोग हैं और हरिजन तथा आदिवासी बिल्कुल भी नहीं हैं।

हम किसी प्रकार के आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में नहीं हैं, लेकिन ग्राम भारती जैसी संस्था जो निम्नतर वर्गों के कल्याण से प्रतिबद्ध है, को चाहिए कि इसका संगठनात्मक ढांचा, खास तौर पर निर्णयात्मक स्तर का चरित्र अधिक सहयोगात्मक हो।

लेकिन यह भी सही है कि संचालक मंडल जैसी स्थिति क्षेत्र में लगे कार्यकर्त्ताओं के बारे में नहीं है जिनमें ८.३३% मुस्लिम और १६.३३% आदि-वासी शामिल हैं। ग्राम भारती के पास कार्य-क्षेत्र में जाकर कार्य करने वाले लगभग ५५ कार्यकर्त्ता हैं जिनका वेतन १५० रुपये से लेकर ४०० रुपये तक है। उन्हें कुछ अन्य सुविधाएं व छूटें भी मिलती हैं जैसे; खाद्य तेलों और खाद्यान्न की बाजार दरों के मुकाबले कम मूल्य पर प्राप्ति; भोजनालय का सस्ता प्रबंध और जहां जहां संभव है वहां निःशुल्क आवास की व्यवस्था। इसके अतिरिक्त अन्य आकर्षण व लाभ भी हैं। चौंक बड़ी संख्या में कार्यकर्त्ता उन्हीं इलाकों के हैं जहां ग्राम भारती कार्य करती है, और चूंकि ये कार्यकर्त्ता अपने परिवारों व उनके पैतृक व्यवसायों से (जो साधारणतया कृषि है) संबंध बनाए रखते हैं, वे कम वेतन पर कार्य कर पाने में समर्थ होते हैं।

बड़ी संख्या में कार्यकर्त्ता, खास तौर से मध्यम-वर्गीय मूल-कार्यकर्त्ता, वे हैं जिन्होंने १९५० और १९६० के दशकों के दौरान या बाद में भूदान कार्य या खादी कार्य में भाग लिया है। हम कुछ ऐसे कार्यकर्त्ताओं से मिले जो बचपन में ही कुछ वरिष्ठ गाँधीवादी कार्यकर्त्ताओं से काफी गहराई तक प्रभावित हुए थे। उनमें से कुछ तो वरिष्ठ गांधीवादी कार्यकर्त्ताओं की संतानें हैं। हमें एक ऐसा कार्यकर्त्ता भी मिला जो पहले एक अपराधी था, परंतु बाद में शिवानन्द भाई के प्रभाव में आकर उसने अपराध-वृत्ति से मुंह मोड़ लिया और समाज कार्यों में शामिल होने का निश्चय किया। चारित्र्य-परिवर्तन का यह एक रोचक उदाहरण है।

यद्यपि यह कहा जाता है कि कार्यकर्ताओं की भर्ती का आधार विचार और त्याग भावना है परंतु प्रमुख रूप से कार्यकर्ताओं की भर्ती 'व्यक्तिगत' संपर्क के आधार पर ही होती है।

लेकिन, जैसा कि सामान्यतया होता है, ग्राम भारती का मूलाधार एक व्यक्ति ही है—संचालक, जिसका समर्पण, अनुभव, व्यक्तित्व, संसाधन और प्रबंधकीय गुण और व्यापक दृष्टिकोण उसे सर्वोच्च और सावधानी से चुने गए संचालक मंडल के सहयोगियों से उत्कृष्ट बना देते हैं। ग्राम भारती का सारा काम इसी धुरी के चारों ओर घूमता है जिस पर वास्तव में स्वयं उसे ही अफसोस है।

शिवानन्द भाई मधुर स्वभाव वाले एक मैथिली ब्राह्मण हैं जो एक डॉक्टर बनना चाहते थे। लेकिन १९५० के दशक के शुरू में ही वे सर्वोदय आंदोलन में शामिल हो गए, तब वह खादी ग्राम बिहार में महान् सर्वोदय विचारक श्री धीरेन्द्र मजूमदार से उनके व्यक्तिगत सचिव के रूप में जुड़े हुए थे।

शिवानन्द गांधीवादी नेताओं की नई पीढ़ी की इस पंक्ति के जीते-जागते उदाहरण हैं जो विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण के प्रभाव में पले, परन्तु जिन्होंने अन्य मूल्यों और मनोवृत्तियों को भी अपनाया है एवं जो भारत के गैर-गांधीवादी राजनैतिक और सांस्कृतिक वातावरण में विकसित हुए हैं।

फलस्वरूप पूर्णतावादी अथवा सतर्क वैचारिक प्रवृत्ति को वे जरा भी नहीं रोकते और परिणामस्वरूप "व्यावहारिकता" और सामंजस्य से हाथ धो बैठे हैं। उदाहरण के तौर पर उनमें अपने कार्यक्रमों की सफलता के लिये साधनों को अपनाने के बारे में रंचमात्र भी हिचकिचाहट तथा विदेशी सहायता और सहयोग के प्रति तुनकमिजाजी नहीं है। वह राज्य के दमनकारी तंत्र के साथ सहकार के जितने ही इच्छुक हैं उतनी ही सरलता से उसके विरुद्ध संघर्ष छेड़ने का निश्चय भी कर सकते हैं। वह एक गांधीवादी हैं परंतु उनकी आठ संतानें हैं—गांधी जी के ब्रह्मचर्य का नामो-निशान तक नहीं। वह एक गांधीवादी हैं लेकिन उन्हें इस बात में कोई परेशानी नहीं होगी कि गांव की महिलाओं को त्रस्त करने वाले एक अपराधी को जान से मार दिया जाए। वह एक गांधीवादी हैं, परंतु जिस आश्रम को वह चलाते व उसका प्रबंध करते हैं उसमें कोई नियमित प्रार्थना नहीं होती। यदि उनके उद्देश्य की पूर्ति होती हो तो वह अत्यंत कटु वचन और कठोर व्यवहार अपना सकते हैं और समय पड़ने पर मृदु और स्नेही भी हो सकते हैं। वहां संघर्ष और रचनात्मक काम साथ-साथ चलते हैं। वह बिल्कुल छोटे स्तर के गहरे क्षेत्रीय काम और पूरे बिहार स्तर के काम में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं।

उन्होंने अपनी 'झोलामाकी' नीति छोड़ दी है और रचनात्मक काम के लिये उनका दृष्टिकोण विशाल है। वह तो एक राजनीतिज्ञ की तरह ऐसे कामों के लिये जोड़-तोड़ करते घूमते हैं जिनका ग्राम भारती से कोई संबंध नहीं है।

शिवानन्द अपने काम में पूर्णतः व्यस्त हैं। अपने सोने के घंटों को छोड़कर चाहे वे दाढ़ी बना रहे हों, नहा रहे हों, दांत साफ करते हों या भोजन खा रहे हों, उनका काम चलता रहता है। उनके घर के द्वार ही सबके लिये खुले हैं और उनके संगठन ने एक परिवार जैसा स्वरूप धारण कर लिया है, परंतु इसके साथ वह अप्रत्यक्ष रूप से पूर्णरूपेण एक ही व्यक्तित्व पर आधारित हो गया है।

क्षेत्र में काम

क्षेत्र का काम ब्लाकों के अनुसार संगठित किया गया है। वहां तीन ब्लॉकों में छः केन्द्र हैं, शीर्ष संगठनात्मक इकाई सिमुलतला में स्थित है।

क्षेत्र में काम कर रहे विभिन्न कार्यकर्ताओं के बीच संचार के साधन हैं (क) निरन्तर भ्रमणशील संचालक के साथ अनौपचारिक बैठकें (ख) क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं की नियमित मासिक बैठकें, (ग) मासिक समाचार पत्र और प्रपत्र। कार्यकर्ताओं की त्रैमासिक, अर्ध वार्षिक और वार्षिक बैठकें भी होती रहती हैं।

तीन स्तरों वाले एक जन-संगठन 'प्रखंड ग्राम सभा' का निर्माण किया गया है। ग्राम-भारती का सारा कार्यक्रम इन्हीं ग्राम-सभाओं के माध्यम से होता है जो काम की प्राथमिकताओं व ग्राम की आवश्यकताओं का निर्धारण करती हैं। ग्राम-भारती इन ग्राम-सभाओं को सेवाएं और सुविधाएं प्रदान करती है।

आम तौर पर जो तरीका अपनाया जाता है वह इस प्रकार है : ग्राम-सभा की बैठक होती है और यह इस गांव में ग्राम-भारती से अपेक्षित किसी एक विशिष्ट सेवा या सुविधा के लिये औपचारिक प्रस्ताव पास करती है—यह चाहे गाय-बैल खरीदने के लिये ऋण हो या बीजों या एक कुंए के लिये। तब ग्राम-भारती अपने साधनों की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इस निवेदन को पूरा करती है। यदि किसी गांव में कोई ग्राम-सभा नहीं है और वह ग्राम भारती की सेवाएं चाहता है तो उसे पहले अपने यहां ग्राम-सभा स्थापित करने को कहा जाता है ताकि सेवाएं प्रदान की जा सकें।

प्रत्येक ग्राम-सभा का एक ग्राम-कोष और एक अन्न भंडार होता है जो कि ग्रामीणों को स्थानीय साहूकार व बनिये के शोषण से मुक्त रखने के लिए होता है जिनसे वे लोग परंपरागत रूप से विभिन्न दरों पर ऋण लेते रहे हैं। यह 'महाजन मुक्ति' और 'अदालत मुक्ति' के नाम से पुकारे जाने वाले कार्यक्रम का एक भाग है।

ग्राम भारती की समीक्षा

मुंगेर जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम भारती के काम का आकलन निम्नलिखित चार कसौटियों में से किसी एक के आधार पर किया जा सकता है :—

१. ग्राम विकास को जीवन के रहन-सहन और सामाजिक ढांचे में परिवर्तनकारी प्रक्रिया या आंदोलन के रूप में लें।

२. ग्राम विकास को वर्तमान मूल्यों और मनोवृत्तियों के ढांचे में रहकर ही संघर्ष का एक कार्यक्रम मानें।

३. ग्राम भारती द्वारा रखे गये उद्देश्य को ही लें।

४. मुंगेर की स्थानीय परिस्थितियों में ग्राम भारती द्वारा हाथ में लिये गये कार्यक्रमों की असंगतियों को देखें।

पहली कसौटी

मूलभूत अर्थों में ग्राम विकास का मतलब है—

ऐसे ढांचागत परिवर्तन जो ढांचों के निर्माण और नए संबंधों तक ले जाएं, जहां राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियों का स्थायी तौर पर पुनर्वितरण हो ताकि जैसा गांधीजी ने कहा था : भारत के गांवों को "एक नया संतोष और विस्तृत क्षितिज" प्राप्त हो सके। यह उन तत्वों को ढूंढने का आंदोलन है जो एक उत्तम सभ्यता या एक उत्तम ग्राम सभ्यता को जन्म दें जिसकी जड़ें व्यक्ति-जीवन समाज-जीवन और विश्व-जीवन की परिकल्पना में निहित हों। यह प्रकृति और आधुनिकतम तकनॉलॉजी के साथ कदम से कदम मिला कर सहकार या सामूहिक जीवन की नई इकाइयों की खोज है।

इस मापदण्ड से ग्राम-भारती के काम का निर्णय करना अनुचित होगा। १९५० के दशक के मध्यकाल के सामुदायिक विकास प्रकल्पों को छोड़कर भारत में ऐसे किसी ग्राम विकास कार्यक्रम की जानकारी हमें नहीं है जो कि आधारभूत ढांचे में अन्वेषण और परिवर्तन का कायल हो।

सभी ग्राम विकास कार्यक्रम आधार रूप में वर्तमान व्यवस्था को ही स्वीकारते हैं और इनका उद्देश्य इसी के अंतर्गत ग्राम विकास करना है। यह कार्यक्रम ऐसी एकमुश्त सेवाओं के रूप में भी समझे जाते हैं जो ग्रामवासियों के लिये प्रस्तुत की जाती हैं और जिनके अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादकता और उत्पादन बढ़ाने के लिए कुछ पूंजी का विनियोग भी किया जाता है और इस प्रकार वहां के लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयास किया जाता है। फलस्वरूप इस प्रकार के विकास कार्यों में मानवीय तत्वों की पूर्ण उपेक्षा की जाती है और कुल मिलाकर ये सरकारी साधनों और मदद पर पूरी तरह से निर्भर हो जाते हैं।

यह शैली प्रकल्पों और योजनाओं की एक पूरी श्रृंखला में इस प्रकार उभर कर सामने आई है कि इसने न केवल वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है बल्कि उसे और बलशाली बनाने में सहयोग भी दिया है।

दूसरी कसौटी

ग्राम विकास एक सीमित अर्थ में एक ऐसी नीति है जिसका निर्माण ग्रामीण निर्धन के आर्थिक और सामाजिक जीवन में सुधार लाने के लिये किया गया है, जिसमें उसे विभिन्न योजनाओं, प्रकल्पों, कार्यक्रमों और संस्थाओं (जैसे एस. एफ. डी. ए., सामुदायिक विकास, आई. ए., डी. पी., आई. ए., ए. डी. आर. ए. पी. आदि) के माध्यम से सरकारी और स्वयंसेवी, दोनों स्तरों पर विकास के कुछ लाभ पहुंचाने का प्रयास किया जाता है। इस विकास में कई योजनाओं की श्रृंखला के एक साथ संमिश्रण की आवश्यकता होती है जो विभिन्न क्षेत्रों जैसे आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य, धर्म और संस्कृति तथा अन्य, जिन्हें सर्वांगीण ग्राम विकास कहा जाता है, में चल रही हैं।

अब तक भारत में जो ग्राम विकास कार्यक्रम चल रहे हैं उनमें से अधिकांश ऊपर से थोपे गए हैं - प्राथमिक रूप से सरकारी संस्थाओं के माध्यम से और वे उपरोक्त शैली में ही चलते हैं। राज्य और नौकरशाही के चरित्र तथा राजनैतिक और तकनॉलॉजी की विवशताओं को सामने रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि तथाकथित ग्राम विकास कार्यक्रमों के सर्वाधिक लाभ ग्रामीण समाज के समृद्ध और अधिक जानकारी रखने वाले वर्गों ने ही उठाये हैं।

इतना ही नहीं, कृषि विकास को ग्राम विकास के प्रथम चरण के रूप में स्वीकार किया गया है जो (१) भौतिक कारणों—भूमि, पानी, मिट्टी, जलवायु, बीजों, खादों, कीट-नाशकों, पशुओं, शक्ति के यंत्रों; (२) आर्थिक कारणों—वित्त, गोदामों, संसाधनों, बाजार व्यवस्था; (३) मानवीय कारणों श्रम-शक्ति, परिवार के आकार, सघनता; (४) तकनॉलॉजी के कारणों (५) सामाजिक कारणों—आंतरिक विभाजनों, संरक्षण इत्यादि; (६) संस्थागत कारणों – स्थानीय समितियों, सहकारी संस्थाओं (७) ज्ञान के कारणों; (८) संगठनात्मक कारणों—भूमि, किराया, खेत का आकार इत्यादि पर निर्भर रहता है।

इन तत्वों की कार्य-क्षमता कई बाधाओं और सीमितताओं पर निर्भर करती है जिनमें से एक है: ग्रामीण निर्धनों को संगठित करने के ऐसे प्रयासों एवं साधनों का अभाव जिससे कि उनमें आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव और आत्मनिर्भरता का भाव जन्म ले सके।

उपरोक्त तकनॉलॉजीगत, ढांचेगत और संस्थागत तत्व तभी प्रभावी हो सकते हैं जबकि एक ऐसा वातावरण पैदा किया जाए जिसमें निर्धन ग्रामीण बाहरी लोगों द्वारा प्रदत्त साधनों के स्थान पर समय एवं श्रम के साथ-साथ धन के भी अपने ही स्रोतों द्वारा योगदान कर सके।

यद्यपि ग्राम भारती की सहकारी योजनाओं में कार्यक्रमों के कुछ अन्य तत्वों को भी सम्मिलित किया गया है, परंतु इसके उद्देश्यों और अभिप्रेत गतिविधियों, जिनसे वह उक्त उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहती है, से मोटे तौर पर स्पष्ट हो जाता है कि यह उपरोक्त शैली को ही अपनाये हुए है। इसकी गतिविधियों को चार भागों में बांटा जा सकता है:

(क) संगठनात्मक कार्य : जिसका संबंध ग्राम-सभाओं, सत्र संगठन, कारीगरों और युवाओं के संगठन से है।

(ख) शिक्षण और प्रशिक्षण : जिसमें तकनीकी, औद्योगिक और प्रौढ़ शिक्षा शामिल है।

(ग) रचनात्मक काम : जिसमें सिंचाई, सर्वेक्षण, वन-विकास, डेयरी, ग्राम व घरेलू उद्योग, पेयजल, ग्रामीण ऋणग्रस्तता, बंधुवा मजदूर, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण आते हैं।

(घ) पंचायतों के माध्यम से हल न हो सकने वाली समस्याओं के लिए प्रदर्शनों और सत्याग्रह जैसे अहिंसात्मक रास्तों से संघर्ष।

ग्राम भारती ने उपरोक्त चारों दिशाओं में कई गतिविधियों को शुरू किया है।

सारिणी III के अनुसार यह स्पष्ट है कि १९६९-७७ के समय के दौरान गांवों में मछलीपालन डेयरी, उद्योग, चरखा, बढ़ईगीरी, पशुधन, पेयजल इत्यादि के लिये ग्राम भारती के स्रोतों का उपयोग किया गया है। इसके साधनों के एक बड़े भाग का उपयोग सिंचाई के लिये किया गया। परंतु काफी समय से, ग्राम भारती ने दो चीजों पर केन्द्रीकरण कर रखा है (१) कृषि प्रकल्पों के माध्यम से सहायता-कार्य—वह भी बहुत छोटे स्तर पर सिंचाई सुविधाओं के रूप में और (२) प्रौढ़ शिक्षा।

इसने ६७३ कुंओं का निर्माण किया है और खादों तथा बैलों के लिये ऋण व विक्रय-सेवाओं के रूप में १.८६ लाख रुपये प्रदान किये हैं।

यह कहा जाता है कि ५०० परिवारों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लाभ पहुंचा है। आर्थिक दृष्टि से १०० एकड़ भूमि पर खेती की जा रही है और कम से कम ३,००० मन खाद्यान्न प्रतिवर्ष पैदा किया जा रहा है।

ग्राम विकास क्षेत्र में ग्राम-भारती के कार्य का एक अन्य पहलू भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

छोटे सिंचाई प्रकल्पों में इसकी रुचि, जिसके माध्यम से स्थानीय लोगों को रचनात्मक कार्यों में शामिल किया जाता है, निश्चय ही प्रशंसनीय है। बड़े स्तर के विशालकाय सिंचाई प्रकल्प अधिक खर्चीले, फिजूल और परिस्थिति विज्ञान की दृष्टि से खतरनाक सिद्ध हुए हैं। छोटे सिंचाई प्रकल्प बड़े सिंचाई प्रकल्पों की तुलना में परिस्थितिकी (इकॉलॉजी) की कठिनाई से मुक्त हैं और इनमें कम विनियोग की आवश्यकता पड़ती है। यह पाया गया है कि इनसे सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करने में अधिक सहायता मिलती है। ये प्रकल्प विकासात्मक प्रक्रियाओं में स्थानीय लोगों के सहयोग के लिये अधिक अवसर प्रदान करते हैं। बिहार में मुसहरी और वैशाली नामक स्थानों पर 'एसोसिएशन ऑफ वॉलंटरी एजेन्सीज फार रूरल डेवलपमेंट' (एवार्ड) के अनुभव ने इस तथ्य को और भी उजागर किया है। लोगों के सीधे सहयोग से चालू किये गए छोटे सिंचाई प्रकल्पों का मुंगेर जैसे पिछड़े और भूख के शिकार क्षेत्र के लिये और अधिक महत्व है।

लेकिन ऐसा लगता है कि सामाजिक न्याय के लक्ष्य की दृष्टि से लघु सिंचाई प्रकल्पों में निहित शक्ति एवं युवाशक्ति का पर्याप्त उपयोग कर पाने में सफलता नहीं मिल पाई।

तीसरी कसौटी

ग्राम भारती का जन्म १९६२ में भूदान और ग्रामदान आंदोलन के गर्भ से हुआ। यह दावा भी किया जाता है कि इसका प्रेरणास्रोत महात्मा गांधी के आदर्श हैं, इसके नेताओं का ग्रामदान आंदोलनों और सर्वोदय नेताओं से गहरा संबंध रहा है; एवं इसके अधिकांश कार्यकर्ता भूदान और खादी के काम से संबंधित संस्थाओं से आए हैं।

परंतु लगता है कि कुछ सीमान्त घटकों और मनोवृत्तियों को छोड़ कर ग्राम भारती की प्रबंध-व्यवस्था शैली, संगठनात्मक बल, कार्यक्रमों का लहजा व अन्य प्रकल्प यदि गांधीवादी विचारधारा के विरोधी नहीं तो कुल मिलाकर स्वतन्त्र वैचारिक अवश्य हैं।

ग्राम भारती के कई वरिष्ठ कार्यकर्ता भी इस विचार से सहमत हैं। यहां तक कि संचालक शिवानन्द भी एकदम व्यावहारिक व्यक्ति हैं और गांधीवादी विचारों के प्रति बहुत कट्टर नहीं हैं। स्पष्ट है कि उन्हें आदर्शों का यथार्थ से ताल-मेल बिठाना पड़ता है और प्रक्रिया के दौरान यथार्थ स्वाभाविक रूप से अधिक भारी पड़ता है।

सर्वप्रथम, इसके अस्तित्व के प्रारम्भिक वर्षों में तो इसके संसाधनों का उपयोग ऐसे विविध कार्यक्रमों के लिये किया गया जिन पर विचारधारा की मोहर (कुछ हद तक) लगी थी। लेकिन समय के बहाव के साथ प्रमुख रूप से इसका काम कृषि और प्रौढ़ शिक्षा से संबंधित हो गया और उसे पूरी तरह व्यावहारिक और बैचारिक दृष्टिकोण से लागू कर उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। दूसरे, कृषि क्षेत्र में भी इसने अपने आप को बीजों, खादों और कुछ अन्य खेती के लिए जरूरी वस्तुओं के वितरण तक ही सीमित कर लिया। 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम को अपनाया गया और यह कार्यक्रम ही सरकारी सहायता का मुख्य स्रोत बना है। इस प्रकार गांधीवादी दृष्टिकोण से दूरी बढ़ती गई।

यह गैर-गांधीवादी चिंतन वित्त के अन्य स्रोतों में भी प्रतिबिम्बित होता है। जैसे : ग्राम भारती के नेतृत्व को विदेशी संस्थाओं से धन लेने में किसी प्रकार की हिचक नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि पूंजीगत नियोग और संपत्ति के कुछ बड़े स्रोत विदेशी धन पर ही टिके हैं। इतना ही नहीं, संकट के समय में ग्राम भारती को फिर से नया जीवन देने में विदेशी धन ने प्रमुख भूमिका अदा की है। उदाहरणार्थ, १९६७-७३ में जब इसकी हालत खस्ता हो गई थी तो ऑक्स फैम के धन से ही घरेलू केन्द्र को पुनर्जीवित किया जा सका था।

चौथे, ग्राम भारती के चरित्र में पिछले कई वर्षों के दौरान गुणात्मक परिवर्तन आया है। युद्ध की अवस्था में इसके पास कोई संपत्ति नहीं थी। यह व्यक्तिगत कार्यकर्ताओं और जन-संस्थाओं के माध्यम से ही सेवाएं प्रदान करती थी। अब इसके संसाधनों का प्रयोग व्यावसायिक उद्यम खड़े करने के लिये किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, कूड़ा-करकट निवारण केन्द्र, खाल-पत्ती-क्रय-विक्रय केन्द्र, कुटीर शिल्प उद्योग, जे०पी० हायर सेकेन्डरी स्कूल, पुस्तकों का प्रकाशन इत्यादि। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रकल्प ग्रामवासियों की किसी-न-किसी आवश्यकता के संदर्भ में खड़े किये गए हैं और इन्हें न्याय-संगत ठहराया जा सकता है, परंतु इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस प्रक्रिया में ग्राम भारती के चरित्र में एक परिवर्तन आया है। अब इसके पास संपत्ति और जायदाद है जो इसके नेतृत्व एवं कार्यकर्ताओं के विचारों को एक दायरे में बांध देती हैं। लगता है कि इससे संघर्ष की इच्छा-शक्ति दुर्बल पड़ेगी और राजनीतिक दांव-पेंचों को भी बढ़ावा मिलेगा। इससे भी कहीं अधिक, दिन-प्रतिदिन के कार्य-कलाप में सिद्धांतों से प्रतिबद्धता घटते रहने पर यह धीरे धीरे पूंजीवादी प्रक्रिया की जकड़ में गिरफ्तार होती जा रही है। किसी भी पूंजीवादी उद्यम की तरह यह लोगों को अल्पकालीन नौकरी देती है, इसके घोरमू स्थित बुनाई केन्द्र में आने वाले जुलाहे को काम के बदले में मजदूरी दी जाती है और उन्हें अस्थायी श्रमिक कहा जाता है। केवल एक पूंजीवादी व्यवस्था में ही ऐसा होता है कि श्रम को एक वस्तु की तरह खरीदा और बेचा जाता है और उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का स्वामित्व नहीं होता। पता नहीं क्यों इस गांधीवादी संस्था ने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के आधार पर एक छोटा सा प्रयास भी चालू नहीं किया।

यह भी ध्यान देने की बात है कि अपने व्यावसायिक उद्योगों का चयन करते समय उनके दिमाग में एक बार भी ग्रामवासियों को बीड़ी बनाने के धंधे में हो रहे शोषण से बचाने का विचार नहीं आया। यह ग्रामीण निर्धनों की आय का एक बड़ा साधन है और चूंकि उनके जीवन का यही एक अवलम्ब है, इसलिये उनका सर्वाधिक शोषण भी इसी धंधे में होता है।

हमें बताया गया कि बीड़ी-निर्माताओं ने यह व्यवस्था की है कि बीड़ी ग्रामीण निर्धनों के घर में ही बनेगी। वे बीड़ी के पत्ते, घरों में बांट देते हैं और

ग्राम पुनर्रचना वि

३ रुपये प्रति १,०
अंततः उत्पादित
१००० होती है
से बेचा जाता है

यह अवश्य
ग्राम भारती के
मानवीय, ईमानद
और कर्मचारियों
चारिकता और
ओर, हालांकि
उद्यमों को आश्र
वहां के वरिष्ठ का
प्रति संदेहग्रस्त
यह न्यायोचित हो
अवश्य पैदा होती

ग्राम भारती
बढ़ते हुए अतिक्रम
जिन क्षेत्रों में प्र
उसके बाद आगे क
के तौर पर १९६
ग्राम में एक बहुत
इस योजना से कृषि
वाले ग्राम भारती

परंतु वहां जा
के बाद से उस गां
रूपांतरण का कोई
है और इसे अपनी
बढ़ने के लिये छोड़
वैचारिक आधार प
समाज-परिवर्तन
कार्यक्रम चलाए जा
सकती है।

और अंततः ग्रा
स्थिति-निर्धारण क
अभाव है। यहां त
जहां इस प्रकार के
में भी ऐसा कुछ न
प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम

३ रुपये प्रति १,००० बीड़ी बनाने के देते हैं। लेकिन अंततः उत्पादित बीड़ी की कीमत ६.५० रुपये प्रति १००० होती है जिसे २० रुपये प्रति १००० के भाव से बेचा जाता है।

यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये कि ग्राम भारती के विभिन्न पूंजीवादी उद्यम सीधे-सादे, मानवीय, ईमानदार और लचीले हैं। वहां प्रबंधकों और कर्मचारियों के संबंधों में एक प्रकार की अनौपचारिकता और परिवार सरीखे आयाम हैं। दूसरी ओर, हालांकि ग्राम भारती के इन व्यावसायिक उद्यमों को आश्रम कह कर पुकारा जाता है, परंतु वहां के वरिष्ठ कार्यकर्ता भी इनकी सत्यनिष्ठा के प्रति संदेहग्रस्त हैं और खुली आलोचना करते हैं। यह न्यायोचित हो या न हो, परंतु इससे एक गलतफहमी अवश्य पैदा होती है।

ग्राम भारती के काम में सैद्धान्तिक दृष्टि से बढ़ते हुए अतिक्रमण का एक और पहलू भी है। जिन क्षेत्रों में प्रकल्प पूरे कर लिये गए हैं, वहां उसके बाद आगे कोई काम नहीं हुआ है। उदाहरण के तौर पर १९६७-७० में, दोरमारो आदिवासी ग्राम में एक बहुत अच्छा सिंचाई प्रकल्प पूरा हुआ। इस योजना से कृषि की उपज में वृद्धि हुई और गांव वाले ग्राम भारती के प्रति काफी कृतज्ञ भी हैं।

परंतु वहां जाने पर हमें पता चला कि १९७० के बाद से उस गांव में सामाजिक या सांस्कृतिक रूपांतरण का कोई प्रकल्प हाथ में नहीं लिया गया है और इसे अपनी ही विकास शैली के सहारे आगे बढ़ने के लिये छोड़ दिया गया है। वस्तुतः केवल वैचारिक आधार पर ही एक निश्चित दिशा में समाज-परिवर्तन के लिये आवश्यक दीर्घकालीन कार्यक्रम चलाए जा सकते हैं और आयोजना की जा सकती है।

और अंततः ग्राम भारती में वैचारिक दृष्टि से स्थिति-निर्धारण करने वाले गहन कार्यक्रमों का अभाव है। यहां तक कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों, जहां इस प्रकार के अनुकूलन के पूरे पूरे अवसर हैं, में भी ऐसा कुछ नहीं किया जाता। ६० केन्द्रों पर प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का संचालन करने वाले व्यक्ति पूर्णतः वैचारिक व्यक्ति हैं। पर वहां भी गांधीजी की विचारधारा और मूल्यों की रत्ती भर भी चिंता किये बिना असामान्य रूप से इसी बात की चिंता देखने को मिलती है कि काम जैसे-तैसे 'कर लिये' या 'करवा लिये' जाएं।

फलस्वरूप, एक दूरगामी फल देने वाली प्रणाली, जिसमें एक सीमा तक विचारधारा का भी पोषण होता है, के बजाय काम के विस्तृत और प्रभावोत्पादक तरीकों को ही अधिक महत्व दिया जाता है।

ठोस आर्थिक लाभों के साथ-साथ इस क्षेत्र में ग्राम भारती के काम के कुछ अन्य महत्वपूर्ण परिणाम भी हुए हैं। यह पिछड़े क्षेत्रों में ग्रामीण लोगों के जीवन में आधुनिकता की प्रक्रिया की शुरूआत का माध्यम है। उदाहरण के तौर पर, जब ग्रामीण लोग ग्राम भारती केन्द्रों (जिन्हें आश्रम कहा जाता है) में आते हैं, यहां कार्यकर्ताओं से मिलते हैं तो आधुनिक गांव के प्राथमिक स्वरूप —तकनीकी ज्ञान, बैंकिंग कार्यविधि, प्रशासन के बारे में सामान्य जानकारी, लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली इत्यादि से उनका परिचय होता है। नई वस्तुओं व सेवाओं की जानकारी आदि भी उन्हें मिलती है। यह प्रक्रिया और अधिक गहरी और विस्तृत होती चली जाती है— खास तौर पर प्रौढ़ शिक्षा जैसे कार्यक्रमों से, जो कि इस संस्था द्वारा लिया गया सबसे लाभदायक कार्यक्रम सिद्ध हुआ है। यदि ग्राम भारती के प्रबंधक और इसका नेतृत्व ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिकीकरण की अपनी भूमिका के निर्वाह के संदर्भ में अपनी जिम्मेदारी को भी समझें तो उनके काम करने के तरीके में भी एक परिवर्तन आ जाएगा।

चौथी कसौटी

किसी भी सामाजिक कार्य करने वाली संस्था के काम का अनुमान 'अनुकूल आवश्यकताओं' के संबंध में भी किया जाना चाहिये। निरपेक्ष और निरंकुश मापदण्ड और वैचारिक कार्यक्रम तभी किसी काम के हैं, यदि उनका 'अनुभूत आवश्यकताओं' से कोई संबंध हो। वरना वे भी सहायक होने के बजाय

बाधाएं पैदा करने लगते हैं। मुंगेर जिले की 'अनुभूत' आवश्यकताएं क्या है ? लोगों को अपनी अनुभूत आवश्यकताओं का कितना प्रत्यक्ष ज्ञान है ?

१. कोई भी प्रकल्प जो उनके आत्म-सम्मान और गौरव को लौटाता है,

२. कोई भी प्रकल्प जो कि मनोवैज्ञानिक रूप से उनकी असुरक्षा की भावना को कम करके उन्हें मुक्ति का अनुभव कराता है,

३. कोई भी प्रकल्प जो उनकी भूख और अभावों को कम करता है।

यह उल्लेखनीय है कि मुंगेर जैसे पिछड़े इलाके के लिये विकास का अर्थ अन्य क्षेत्रों से भिन्न है। मुंगेर में तो मानसिक व भौतिक दोनों प्रकार से अभावों में कमी की दर ही प्रगति का दूसरा नाम है। यहां जिस विकास की आवश्यकता है, उसका काम है : घोर अभावों से उठा कर समाज को सह्य अभावों की स्थिति तक लाना। यह तो ऐसा है कि समुद्र तल से, जहां से उसका अस्तित्व शुरू होता है, उस तट तक बढ़ना जहां सतह शुद्ध होती है, यानि काम सिर्फ अभावों को घटाने का है। खुशियां बढ़ाने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती।

अतः वहां न 'क्रांति' चाहिये, न 'विकास'; बल्कि प्राथमिक-उपचार सहायता किस्म के सहायता कार्य की जरूरत है ताकि लोगों में थोड़ी बहुत गौरव की भावना लौटे और वे मानवीय और सामाजिक स्वास्थ्य-लाभ के रास्ते पर कदम रखें—यही मुंगेर की अनुभूत आवश्यकता है। चूंकि ग्राम भारती का उद्देश्य सूखा-पीड़ित क्षेत्रों में सेवा-प्रकल्पों द्वारा विकास करना है अतः प्रमुख रूप से यह 'काम के बदले अनाज' कार्यक्रम के माध्यम से लघु सिंचाई सुविधाओं के प्रकल्प खड़े करने से संबंधित रहती है।

अंत्योदय का यहां अर्थ है : क्षेत्र के निम्नतर सामान्य वर्ग की आवश्यकताओं को पहचान कर उनकी पूर्ति करना।

इस प्रकार ग्राम भारती ने कार्य के पन्थ के रूप में सेवा, संगठन और लोगों में जागरूकता एवं प्रोत्साहन को अपनाया है। यह सिद्धान्त रूप में स्वीकार करती है कि केवल सहायता मात्र ही ग्राम भारती के प्रयासों का ध्येय नहीं है। यह तो लोगों में जागृति के प्रसार का एक रास्ता है जिसकी अभिव्यक्ति जन-संगठन के विकास के रूप में होती है। ग्राम भारती अपने साधनों से सहायता अवश्य प्रदान करती है, परंतु संगठन और जागरूकता बढ़ाने के काम में कोई सफलता उसे अब तक नहीं मिली है। इसने कोई रचनात्मकता या अभिनव परिवर्तन का दर्शन नहीं कराया, जिससे पर्याप्त परिणाम सामने आएं, अर्थात् सहायता कार्यों का परिवर्तन से सामंजस्य हो।

और अन्त में···

यह सही है कि ग्राम भारती गंभीर समस्याओं के विरुद्ध संघर्षरत है। किन्तु इसके जुझारू नेतृत्व और क्षेत्र की चुनौतीपूर्ण समस्याओं की तुलना में साधनों और सही प्रकार की व्यावसायिक प्रबंधकीय तकनीकों का अभाव है।

ग्राम भारती के सुचारु रूप से काम करने में बाधक बताए गए कारणों को हम इस प्रकार गिन सकते हैं—

(१) निरक्षरता नए विचारों की सहज स्वीकृति में बाधक है।

(२) ग्रामीण लोग तात्कालिक लाभों में रुचि रखते हैं। भोजन की तुरंत आवश्यकता होती है। अतः वे ग्राम भारती प्रकल्प पर, जहां उन्हें कुएं आदि बनाने के काम के बदले अनाज मिलता है की बजाय बीड़ी बनाना बेहतर समझते हैं जिससे उन्हें शाम को तीन रुपये नकद मिल जाते हैं। इसलिये रचनात्मक काम में लोगों का सहभाग सीमित है। फलस्वरूप प्रकल्पों में कार्य अनावश्यक रूप से लंबे समय तक खिंचता रहता है।

(३) भ्रष्टाचार के कारण प्रशासनिक विलम्ब भी एक बड़ी बाधा हैं। उदाहरणार्थ, एक गांव में लोगों द्वारा एक कुंआ खोदा गया था, लेकिन

विभाग में भ्रष्टाचार की वजह से लोगों को तीन साल तक बिजली का कनेक्शन नहीं मिल सका।

(४) कुछ कानूनी बाधाएं भी हैं।

(५) ग्रामवासियों का आलसीपना।

(६) राजनैतिक दल अपने दांव-पेच खेलकर ऐसा वातावरण बना देते हैं कि लोग प्रसन्नता से सहकार नहीं देते।

(७) ये दल गांव में साहूकार या मुखिया से मिल जाते हैं जिन्हें इस बात की आशंका होती है कि यदि गांव वाले जागरूक हो जाएंगे तो उनका प्रभाव समाप्त हो जाएगा।

(८) इस क्षेत्र में समाज इतना कमजोर है कि भ्रष्ट प्रशासन के हथकण्डों और स्थानीय शीर्ष पर के शक्ति केन्द्रों के सामने खड़ा हो ही नहीं पाता।

परिणामस्वरूप, ग्राम भारती के लिये अकेले ही इस चुनौती का सामना कर पाना आसान नहीं है। पिछले १८ सालों से इसने संघर्ष जारी रखा है। इसे इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं की सहायता की आवश्यकता है। और यह तब तक संभव नहीं है जब तक कि ग्राम विकास एक आंदोलन का चरित्र ग्रहण नहीं कर लेता। □

With Best Compliments from

M/s. Fintex Private Limited

9, Rabindra Sarani,

CALCUTTA-73

MANUFACTURERS, EXPORTERS & IMPORTERS

मफतलाल कम्पनियाँ: समग्र ग्राम-विकास के पथ पर

□ बी० रुद्रमूर्ति*

यह धारणा जोर पकड़ती जा रही है कि ग्रामीण निर्धनों का सामाजिक-आर्थिक विकास, न केवल ग्रामीण विकास प्रत्युत राष्ट्रीय विकास की भी कुंजी है। अतः ग्रामीण विकास की मफतलाल नीति का प्रथम लक्ष्य, ग्रामीण निर्धनों को गरीबी से मुक्त कराना है।

योजना आयोग के अनुमान के अनुसार १९७७-७८ में ग्रामीण भारत की ४८ प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे थी। इससे भी बढ़कर चिन्ता की बात तो यह है कि गत वर्षों में इस संख्या में वृद्धि ही होती गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि देश के ३० वर्षों के नियोजित विकास का भी ग्रामीण निर्धनता पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। योजना आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों के लिए गरीबी रेखा की परिभाषा, १९७७-७८ मूल्य स्तर पर, ६१.८० रु० प्रति व्यक्ति मासिक उपभोग व्यय के स्तर के रूप में की है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गरीबी की रेखा से ऊपर आने के लिए पांच-पांच व्यक्तियों के परिवार की वार्षिक आय ३७०८ रु० होनी चाहिए। यदि मूल्य वृद्धि और बचतों के लिए व्यवस्था की जाए तो एक ग्रामीण परिवार की न्यूनतम वार्षिक आय ४००० रु० होनी चाहिए तभी उसे निर्धनता से मुक्त किया जा सकता है। आज हमारा लक्ष्य ग्रामीण परिवारों को इस प्रकार के उत्पादक धन्धों और क्रियाकलापों में नियोजित करने में उनकी सहायता करना है, जिनसे उन्हें यह न्यूनतम आय प्राप्त हो सके। नीतियां और कार्यक्रम कुछ इस प्रकार के बनाए जाएं जो इस प्रक्रिया को सुगम बना सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में किए जाने वाले आधारभूत विकास को, इन कार्यक्रमों तथा प्रक्रियाओं से सम्बद्ध कर देना चाहिए।

मफतलाल कम्पनियों ने एक संपूर्ण कार्यक्रम बनाकर उसे कार्यान्वित किया है जिससे निर्धन ग्रामवासी उत्पादक और लाभप्रद स्वनियोजन के द्वारा न्यूनतम वार्षिक आय अर्जित कर सकें। इस कार्यक्रम में निर्धन ग्रामवासियों की आवश्यकताओं के अनुरूप अभिप्रेरणात्मक और प्रबन्धात्मक आधारभूत तंत्र के लिये समर्पित प्रौद्योगिकी को प्रचुर मात्रा में अनिवार्यतः सम्मिलित किया गया है। सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार पारम्परिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को भी रखा गया है। निर्धन ग्रामीण परिवारों की सहायता उनको इस योग्य बनाने हेतु की जाती है कि वे संसाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करके ग्राम्य जीवन को अपेक्षाकृत सम्पन्न एवं प्रसन्न बनाने में अपना अंशदान कर सकें। इस दृष्टिकोण और कार्यक्रम को अभी प्रायोगिक तौर पर केन्द्रीय सरकार तथा सम्बन्धित राज्य सरकारों की सहायता से पांच राज्यों में लागू किया गया है।

पिछले तीस वर्षों के हमारे अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि ग्रामीण उद्योगों, कुटीर उद्योगों और लघु उद्योगों के द्वारा भी बहुसंख्य ग्रामीण परिवारों की स्थिति को सुधारना अत्यधिक कठिन है। इसके अतिरिक्त बहुत बड़ी मात्रा में कृषि-भूमि यदि बिना खेती के रह रही हो तो किसी ऐसी तकनीक का विकास करना बहुत आवश्यक है जो इस प्रकार की अकृषि योग्य भूमि के लिए उपादेय हो और जो ३ से ५ वर्ष की अवधि में परिवार को गरीबी की रेखा से निकालने में सक्षम बना पाने के निमित्त अपेक्षित आय जुटा सके। निर्धन ग्रामीणों के लिए एक माडल का विकास करने की दिशा में मफतलाल कम्पनियों का यही दृष्टिकोण है।

स्थानीय साधनों का विकास

इस दृष्टिकोण का मूलआशय स्थानीय संसाधनों, क्षमताओं एवं संभावनाओं पर विकास के सोपान पर

* परामर्शदाता (ग्राम-विकास), मफतलाल उद्योग लि०, बम्बई

वर्द्धमान ग्रामीण क्षेत्र हैं, शहरी सभ्यता अथवा पश्चिमी प्रतिमानों का प्रतिबिम्ब नहीं। मनुष्यों के प्राकृतिक संसाधनों—पानी, पशुधन और भूमि का प्रयोग ऐसी विधि से किया जाता है, जिससे परिस्थितिकी को प्राप्त करके उसे बनाये रखा जा सके। ग्राम-समूहों के लिए पंजीकृत सोसायटियों के जरिये विकसित संगठनात्मक संरचना, वाणिज्यिक कम्पनी द्वारा ग्रामों के एक प्रखण्ड के लिए प्रबन्ध-व्यवस्था और उपयुक्त प्राद्योगिकी के माध्यम से आर्थिक विकास के प्रति बहुविधात्मक दृष्टिकोण विकसित करने हेतु जिले अथवा राज्य के लिए एक निगम में ग्रामीण लोगों, स्वयंसेवी अभिकरणों, प्रबन्धकर्ता व्यक्तियों तथा सरकारी अभिकरणो द्वारा सक्रिय रूप से भाग लेने की व्यवस्था की गयी है। इस प्रकार समग्र ग्रामीण विकास की, मफतलाल कम्पनियों की नीति में विकास कार्य में सम्बद्ध सभी अभिकरणों की भागीदरी की व्यवस्था की गयी है। प्रौद्योगिकी के इस माडल का आधार एक एकड़ भूमि को माना गया है। चाहे वह भूमि अकृषियोग्य बंजर भूमि हो, चाहे समतल अथवा ऊबड़-खाबड़ भू-भाग। इस भूमि का मालिक पहले से ही यदि एक किसान है तो इसे प्रौद्योगिकी के लिए अपना लिया जाता है। यदि कोई भूमिहीन श्रमिक है तो उसके लिए पट्टे पर सरकार से एक एकड़ फालतू भूमि इस शर्त के साथ ले ली जाती है कि इसको इस भूमि का प्रयोगाधिकार ही होगा, उसपर स्वामित्व का अधिकार नहीं। इस एक एकड़ के अन्दर स्वयं लाभान्वित व्यक्ति अथवा उसके परिवार के प्रयासों से ५००० गैलन (१७-१/२×१७-१/२×५) क्षमता का एक छोटा कृषि तालाब बनाया जाता है। इस तालाब के निर्माण में लगाये गये श्रम की प्रतिपूर्ति 'काम के लिए अनाज' कार्यक्रम अथवा SFDA, DPAP, ITDP अथवा जनजाति उपयोजना (T. S. P.) अथवा IRD की परिधि में आने वाले किसी अन्य कार्यक्रम के अन्तर्गत की जाती है। इस कृषि-तालाब को किसी रजिस्टर्ड सोसायटी, अथवा निगम या पानी के किसी केन्द्रीय स्रोत की कोई सरकारी एजेंसी जैसी केन्द्रीय एजेंसी के द्वारा सप्ताह में कम से कम एक बार भरने की व्यवस्था अवश्य की जाती है। पानी का यह केन्द्रीय स्रोत, एक नलकूप, खोदा गया कोई कुंआ, बांध अथवा उठान सिंचाई योजना अथवा उस क्षेत्र विशेष के लिए सुविधाजनक कोई भी अन्य स्रोत हो सकता है। कृषक को ५ वर्ष की अवधि तक कोई जलप्रभार नहीं देना पड़ता और तब तक वह अपने कृषि-प्रयोग से कमाना शुरू कर देता है। इस अवधि के बाद उससे उसी दर पर जलप्रभार वसूल किया जाता है जिस दर से उठान सिंचाई योजना के अन्तर्गत कहीं अन्यत्र किया जाता है।

एक एकड़, अनेक उपयोग

कुबाबुल (ल्यूकेना लूकोसेफाला) की पोषक चारा किस्म के ४,५०० पौधे १० फुट दूरी वाली पंक्तियों में एक-एक फुट का अन्तर देकर अथवा तीन-तीन फुट की दूरी पर लगाये जाते हैं। चारे की यह किस्म दुर्भिक्ष से अप्रभावित रहती है तथा क्षारीय स्थितियों में भी इसके पौधे अच्छी प्रकार विकसित होते हैं और दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षेत्रों में साधारण-सी वर्षा हो जाने पर भी कम से कम ३ से ५ टन तक की उपज देते हैं। जल की आपूर्ति बढ़ जाने पर तो इनका उत्पादन ४० से ५० टन प्रति एकड़ तक बढ़ जाता है। इस एक एकड़ भूमि पर पपीते अथवा अमरूद के फलों के लगभग २५० पौधे इसके चारों ओर अथवा कुबाबुल पौधों के बीच में लगाये जाते हैं। कुबाबुल को भूमितल से एक मीटर की ऊंचाई तक बढ़ने दिया जाता है और फिर उनकी छंटाई कर दी जाती है ताकि उनमें बराबर से नयी शाखाएं प्रस्फुटित हो सकें और इसके परिणामस्वरूप उनसे सर्वाधिक रूप से कटाई (उपज) सुगमतापूर्वक ली जा सकती है। शीशम अथवा आर्थिक रूप से उपादेय कुछ अन्य पौधों को दो-तीन पंक्तियों में सीमान्त पौधों के रूप में लगा दिया जाता है, जिससे धरती को बाड़ तथा सुरक्षा भी मिल जाती है। इन पौधों से निकलने वाले रेशों से अनुपूरक उद्योग और आय मिलती है। वर्षा ऋतु में ज्वार या बाजरा अथवा मक्का जैसी चारा एवं अन्न किस्म वाली अल्पावधिक फसल ली जा सकती है। कुबाबुल की दो पंक्तियों के बीच की जगह का इस्तेमाल औषधीय पौधों, सुगन्ध वाले पौधों आदि जैसे उच्च मूल्य वाले पौधों को लगाने में भी किया जा सकता है, जिससे

क्षारोदों के आसवन के जरिए ग्रामोद्योगों की भी व्यवस्था की जा सकेगी।

उस एक एकड़ भूमि पर कुछ मधुमक्खी-पेटिकाएं रख दी जाती हैं जिनकी देखभाल किसान करता है। पौधों की सिंचाई के लिए श्रमिक परिवार को कृषि-तालाब का आश्रय लेना पड़ता है, जिसे सप्ताह में कम से कम एक बार, और यदि वह जल-प्रभार की अदायगी करने में समर्थ हो तो कई बार, भरा जाता है। किसान द्वारा पोषित स्थानीय गाय के दो नस्ली प्रजनन की सुविधायें उपलब्ध करायी गयी हैं। इसके फलस्वरूप वर्णसंकर गायों का उत्पादन व पोषण सम्भव हो सकेगा। कुबाबुल से काटकर लिया गया हरा-चारा, जिसमें २२ से २६ प्रतिशत प्रोटीन की मात्रा होती है, इस भूमि पर अल्पावधिक फसल के रूप में उगाये गए चारे के साथ मिलकर एक दोनस्ली गाय के लिए पर्याप्त होता है। एक एकड़ भूमि पर किए जाने वाले उद्यम पूरे परिवार को वर्षभर काम में लगाये रख सकते हैं और इसको ४००० से ४५०० रु० प्रति वर्ष की ठोस आय अर्जित करने योग्य बना देते हैं और इससे परिवार की निर्धनता का उन्मूलन हो जाता है। तदुपरान्त, परिवारजन अपने उपक्रम और उद्यम द्वारा संकर गायों की संख्या बढ़ाकर तथा उनका पालन-पोषण करके, गायों के दूध से दुग्ध उत्पादन एवं मिठाइयां तैयार करके, गोबर गैस संयंत्र लगाकर, गोबर गैस का प्रयोग विद्युत् उत्पादन में करके, अपतृणों और कूड़ा करकट सहित वानस्पतिक अपशिष्ट का प्रयोग, गोबर आदि के घोल के साथ मिलाकर वानस्पतिक खाद, जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति भी बढ़ेगी, तैयार करने में करके, उत्पादन और आय बढ़ा सकते हैं। जब एक बार परिवार, निर्धनता से मुक्त हो जाएगा तो उसका शोषण स्वतः समाप्त हो जाएगा और इन दोनों के परिणामस्वरूप सम्पन्नता की ओर उनकी अभिरुचि तथा योग्यता विकसित होती जाएगी। □

WITH BEST COMPLIMENTS FROM :

M S N.L. GOENKA

181-B, CHITTARANJAN AVENUE,
CALCUTTA.

PHONE : 34-6680

(JUTE MERCHANTS & COMMISSION AGENTS)

वनवासी कल्याण आश्रम : जन्म तथा विकास

□ पी. डी. सप्रे *



श्री देश पांडे छात्रावास में

१९४८ में जब जशपुर राज्य ने भारत में विलय होने का निश्चय किया, तो छोटा नागपुर पहाड़ी क्षेत्र के पृथकतावादी तत्वों ने उन विदेशी ईसाई मिशनरियों के उकसाने से भयंकर हिंसक प्रदर्शन किये, जो ब्रिटिश राज की छत्रछाया में इस क्षेत्र में दीर्घकाल से अपना धर्म-परिवर्तन का कुचक्र चलाते आ रहे थे। इसी को देखकर वयोवृद्ध गांधी-शादी और समाज-सुधारक ठक्कर बापा ने अपना ध्यान इस समस्यापूर्ण क्षेत्र की ओर केन्द्रित किया। उन्होंने तत्कालीन मुख्यमंत्री पं० रविशंकर शुक्ल के साथ परामर्श करके इस चुनौती का सामना करने के लिए एक कार्य-योजना तैयार की। पं० रविशंकर शुक्ल ने इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए अपने एक सुयोग्य शासनाधिकारी रा० क्र०(उपाध्य बाबा साहेब) देशपांडे को मनोनीत किया, जो बाल्य-काल से ही रा० स्व० संघ के कर्मठ स्वयंसेवक रहे थे, और जिन्होंने १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दो-लन में भी भाग लिया था। देशपांडे जी ने जशपुर क्षेत्र में क्षेत्रीय अधिकारी नियुक्त होने के बाद, लगभग ४ वर्ष तक वन्य-जातियों में कल्याण-कार्यों को सुगठित करने का प्रयत्न किया। परन्तु शीघ्र ही उन्हें अनुभव हुआ कि वे इस कार्य को वैसरकारी रूप में अधिक प्रभावकारी ढंग से कर सकते हैं, अतः १९५२ में सरकारी पद से त्याग-पत्र देकर उन्होंने वनवासी बंधुओं की पूर्णकालिक सेवा के लिये जीवन-व्रत धारण किया।

१९५२ में, बाबा साहेब देशपांडे ने, एक अन्य संघ-कार्यकर्ता श्री म० र० उपाख्य मोरूभाई केतकर के साथ मिलकर वनवासी कल्याण आश्रम की स्थापना की और उसकी सब गतिविधियों का केन्द्र जशपुर को बनाया। इस संस्था का पंजीकरण १९५६ में हुआ। इन दो समर्पित महान् आत्माओं ने आरंभ से ही, कल्याण आश्रम का मार्ग-दर्शन किया और आज भी उसके अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के रूप में उनके संरक्षण का सौभाग्य आश्रम को प्राप्त है।

जशपुर को केन्द्र बनाकर, कल्याण आश्रम ने वनवासी बालकों के लिए एक विद्यालय तथा एक छात्रावास के रूप में अपनी गतिविधियों का श्रीगणेश किया। इस क्षेत्र में चिकित्सा-प्रबंध की आवश्यकता देखकर एक आयुर्वेदिक चिकित्सालय आरंभ किया गया, जिसे बाद में ऐलोपैथिक रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इस छोटे से आरंभ के बाद धीरे-धीरे दृढ़ता के साथ वनवासी कल्याण आश्रम एक विशाल वटवृक्ष के समान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं को फैलाता हुआ बढ़ रहा है। आजकल वह १२ कपास-उद्योग प्रकल्प तथा १४ कृषि-वाणिज्य-केन्द्र चला रहा है। परन्तु उसकी प्रमुख उपलब्धियां शिक्षा क्षेत्र, चिकित्सा क्षेत्र और

* सचिव, वनवासी कल्याण आश्रम, जशपुर (म० प्र०)

स्कूल विद्यार्थियों के लिए आवास-निर्माण क्षेत्र में है। संप्रति, उसके तत्वावधान में ५४ छात्रावास, ४७ विद्यालय, १७६ प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्र, ५६ चिकित्सा-सहायता केन्द्र तथा ३०० भजन-मंडलियों का संचालन होता है।

अपनी रजत जयंती के अवसर पर, १९७७ में वनवासी कल्याण आश्रम ने अखिल भारतीय रूप ग्रहण करने का निश्चय किया है और सभी राज्यों में विस्तार से फैले हुए वनवासी-बंधुओं के बीच अपनी गतिविधियों का संचालन करने का निर्णय किया है। परिणामस्वरूप प्रत्येक राज्य में पूर्णकालिक मंत्रियों की नियुक्तियां की गई हैं। आज १५० से भी अधिक पूर्णकालिक और अवैतनिक कार्यकर्ता अन्य-क्षेत्रों में सर्वविध कल्याण-गतिविधियां चलाने में जुटे हैं। इनमें अनेक वनवासी बंधु भी आकर मिल गये हैं। ८ महिला कार्यकर्त्री भी आजन्म-व्रत लेकर सम्मिलित हो गई हैं। ४-५ सन्यासियों का सहयोग और मार्ग-दर्शन भी आश्रम को प्राप्त है।

इस थोड़े से काल में ही, अपनी शाखाओं और गतिविधियों की नव-नवीन शिराएं आसाम से गुजरात और कश्मीर से केरल तक प्रत्येक राज्य की धरणी में दृढ़-मूल करके वनवासी कल्याण आश्रम का वट-वृक्ष वन्य-भारत की आशाओं और आकांक्षाओं का एक सच्चा प्रतिनिधि बन गया है। □

Purity, patience and perseverance are the three essentials to success, and above all—love.

—Swami Vivekananda

With best compliments from

INDIA CARBON LIMITED

CALCUTTA ★ GAUHATI ★ DELHI ★ BOMBAY

वनवासी हमारे भाई हैं

□ बाला साहब देशपांडे*

फ्रांस की कुल आबादी के बराबर अर्थात् पांच करोड़ भारतवासी आज जंगलों में घोर कष्ट-मय और दीनतापूर्ण जीवन बिता रहे हैं। दो जून खाना भी उन्हें नसीब नहीं होता। पहनने के लिए कपड़ों का तो सवाल ही नहीं है। वे राष्ट्रीय भाव-नात्मक धारा से कटे हुए हैं। उन्होंने न स्वतन्त्रता का कोई रूप पहचाना है और न विज्ञान द्वारा प्रदत्त बेहतर जीवन के साधनों को भोगा है। वे अभी भी शताब्दियों पहले के औजारों द्वारा खेती करते हैं। बीमारी होने पर उसका इलाज उनके भाग्य में नहीं होता। शिक्षा से उनका कोई नाता नहीं है। अशिक्षा, अस्वास्थ्य, अंधविश्वास और अभावों की जिंदगी वे बसर कर रहे हैं। शहरी लोगों ने उनका इतना शोषण किया है कि वे उनसे त्रस्त रहते हैं, उन पर विश्वास नहीं करते। आजादी के ३३ वर्षों बाद आज भी उनकी यही दशा है।

परिणाम यह हुआ है कि इन वनवासियों के अज्ञान, भोलेपन और गरीबी का घोर शोषण हो रहा है। विदेशी निहित स्वार्थ इन निरीह लोगों को दवा, भोजन और शिक्षा की सुविधाएं देकर उसकी कीमत के रूप में बड़ी चालाकी से उनके धर्म का सौदा करते हैं और उनका धर्मांतरण कर डालते हैं।

यह सही है कि धर्म एक व्यक्तिगत आस्था का प्रश्न है। कोई राम को पूजे, रहीम को पूजे, या ईसा मसीह को पूजे, यह व्यक्ति का अपना निजी मामला है। किन्तु धर्म का राजनैतिक अस्त्र के रूप में इस्ते-माल किया जाना सर्वथा अवांछनीय है। इसाई मिशनरियां इस देश में करोड़ों रुपये विदेश से लाकर अनेक सेवा प्रकल्प वर्षों से चला रही हैं। बीमारों को दवाई, बच्चों को शिक्षा और अन्य प्रकार की सेवाएं वे कर रही हैं, किन्तु इसके पीछे योजनाबद्ध तरीके से लोगों को ईसाई बनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है।

आज समूचे उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में इसका विषैला परिणाम स्पष्ट दृष्टिगत हो रहा है। जहां धर्मांतरित भारतीय भारत से कटकर स्वतन्त्र राज्य की मांग कर रहे हैं और इसके लिए हिंसा, हत्याएं, लूट और आगजनी का भी प्रयोग कर रहे हैं।

गांधी जी की प्रेरणा

महात्मा गांधी ने हरिजनों के क्षेत्र में बहुत अधिक कार्य किया है यह तो देश में बहुत लोग जानते हैं, किन्तु वनवासियों के उत्थान के लिए भी गांधीजी बहुत चिंतित रहा करते थे यह कम लोगों को ज्ञात है। गांधीजी की ही प्रेरणा से उनके अनुयायी श्री ठक्कर बाप्पा ने वनवासियों की सेवा का कार्य मध्य-प्रदेश के जबलपुर इलाके में आरंभ किया था। ठक्कर बाप्पा की यह निश्चित धारणा थी कि वन-वासियों में नगरवासियों के प्रति बहुत कटु भाव हैं। प्रायः वे उनसे डरते हैं। इसके अनेक कारण हैं। व्यापारियों ने बहुत समय तक उनका भारी शोषण किया है। इससे उनके मन में डर होना स्वाभाविक ही है। इसलिए यदि उनके बीच में कोई कार्य करना है तो उनका विश्वास जीतना परम आवश्यक है। पर यह काम केवल भाषणों से नहीं हो सकता। इसके लिए सेवा प्रकल्पों द्वारा ही उनके मानसिक जगत् में प्रवेश किया जा सकता है। उनके मन और भावनाओं के संसार में यदि प्रवेश मिल गया तो उनमें सभी प्रकार के सुधार और परिवर्तन लाये जा सकते हैं।

इस कठिन और विचित्र सेवा क्षेत्र में मुझे सर्वप्रथम ठक्कर बापा ने आकर्षित किया। वास्तव में ठक्कर बापा की ही प्रेरणा थी जिससे वनवासी कल्याण आश्रम ने १९५२ में जन्म लिया। तब से वनवासी कल्याण आश्रम बड़ा ही आधारभूत कार्य कर रहा है। यह एक द्विमुखी प्रयत्न है: उपेक्षित वन्य जातियों की सेवा करने का तथा उन्हें मुख्य भारतीय भावधारा में समाहित करने का। निष्काम

* संस्थापक-अध्यक्ष, वनवासी कल्याण आश्रम।

सेवा, त्याग और ऐसे आदर्श के लिए समर्पण जैसे गुणों के द्वारा ही उन लोगों से एकात्मकता और भावनात्मक तादात्म्य निर्माण करना संभव होगा, जो हम पर विश्वास करना छोड़ चुके हैं। केवल इसी प्रकार से वन्य जातियों जैसा बिछुड़ा समाज नवीन मूल्यों और विकास के नये प्रतिमानों को स्वीकार कर सकता है।

सरकार का उत्तरदायित्व

वनवासी क्षेत्र बहुत बड़ा है और वहां की आबादी भी बहुत अधिक है। उसके लिए विपुल आर्थिक साधनों की आवश्यकता है। इस दृष्टि से सरकार की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। राज्य सरकारें इस दिशा में कुछ कर भी रही हैं। अभी एक नयी योजना क्रियान्वित हो रही है जिसका नाम 'इन्टीग्रेटेड ट्राइबल डेवलपमेंट प्रोजेक्ट' है, यानी वनवासी समग्र विकास प्रकल्प। इसके अन्तर्गत वनवासी क्षेत्र में सब प्रकार की जो विकास योजनाएं हैं वे इस प्रकल्प के माध्यम से ही क्रियान्वित होने का प्रावधान है। सड़क निर्माण, तालाब निर्माण, नहरें बनाने का कार्य, कृषि विकास, ग्रामोद्योग विकास, सहकारी विभाग, ऋण देने का, बीज देने का, स्कूल निर्माण करने का, अर्थात् जो भी विकास कार्य होता है, वह इसी योजना के अन्तर्गत होता है।

इस दृष्टि से विकास कार्यों के लिए जो अलग-अलग सरकारी विभाग कार्य करते थे और उनमें जो तालमेल की कमी होती थी, वह दोष दूर कर दिया गया है और इस प्रोजेक्ट की देखरेख में ही वे सभी कार्य होंगे। यह प्रोजेक्ट जिला स्तर या तहसील स्तर पर भी हो सकता है। इसके लिए समिति बनाई जाती है जिसमें विभिन्न विभागों के लोग तथा जन-प्रतिनिधि होते हैं। यह समिति ही सभी प्रकार की योजनाओं का नियंत्रण और संचालन करती है।

किन्तु सरकारी तंत्र की अपनी कुछ सीमाएं होती हैं। सरकारी तंत्र की यांत्रिकता और वेतन भोगी मनोवृत्ति एक प्रकार का व्यवधान निर्माण करती है जो योजनाओं के लाभ को सीमित कर देता है। भ्रष्टाचार और फिजूलखर्ची के बारे में जितना कम कहा जाय उतना ही अच्छा है। इस दृष्टि से स्वयंसेवी संस्थाओं की महत्ता बढ़ जाती है, क्योंकि उपर्युक्त सभी दोषों से वे मुक्त होती हैं और सेवा की भावना से कार्य करती हैं।

शिक्षा

वनवासी बन्धुओं के साथ दीर्घकालीन सपर्क से हमारी यह धारणा दृढ़ हुई है कि शिक्षा के प्रसार से ही शोषण कम होगा। यही नहीं, शिक्षा ही वनवासी युवकों में आत्मविश्वास और स्वावलंबन की भावना जगा सकती है। शिक्षा के माध्यम से वन्य जातियों का युवा वर्ग राष्ट्रीय मुख्य-धारा में लाया जा सकता है और उनमें नयी जीवन-प्रणाली को स्वीकार करने की मानसिकता उत्पन्न हो सकती है। इसी कारण वनवासी कल्याण आश्रम ने अपनी संपूर्ण शक्तियों को केन्द्रित कर वन्य जातियों में शिक्षा-प्रसार करने का निश्चय किया।

सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वनवासी क्षेत्रों में शिक्षक जाने को तैयार नहीं होते। यह तो निश्चित है कि वनवासी क्षेत्रों में सुविधाओं की कमी होती है और सेवा, भाव-विहीन शिक्षक अपने-आपको बहुत दुखी अनुभव करता है। शिक्षक मिलते भी हैं तो टिकते नहीं। कई बार आकस्मिक रूप से जब हम शालाओं में गये तो वहां के शिक्षक कई सप्ताहों से गायब पाये गए।

इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब या तो हमारे शिक्षक व्रती भाव (मिशनरी स्पिरिट) से प्रेरित हों, अथवा धीरे-धीरे स्वयं वनवासियों के बीच में से ही शिक्षक निकलें। वनवासी कल्याण आश्रम ने दोनों प्रयोग किये हैं और इस प्रयत्न में सफलता भी मिली है।

दूसरी कठिनाई यह है कि वनवासियों में बच्चे को भी "कमानेवाला" माना जाता है। जरीर ढकने के लिये कपड़ों का अभाव भी बच्चों को स्कूल न भेजने का एक प्रमुख कारण बन जाता है। वनवासी

कल्याण आश्रम ने इस कठिनाई का समाधान अभिभावकों को समझाकर, तथा पहिनने के वस्त्रों और स्कूलों में भोजन का प्रबन्ध करके किया है।

आर्थिक शोषण

यद्यपि खेती की जमीन लगभग ६५ प्रतिशत लोगों के पास है, किन्तु प्रति परिवार जमीन बहुत कम है। प्रति परिवार अधिकतर आधा एकड़ जमीन ही है, जिसमें आठ-दस लोगों का भरण-पोषण वे करते हैं। पुराने तरीके से ही खेती की जाती है। बैल भी कम लोगों के पास होते हैं। बीज की भी कठिनाई होती है। इस सबके लिए वे साहूकारों से कर्ज लेते हैं और वर्षों एवं पीढ़ी दर पीढ़ी कर्ज से लदे रहते हैं। लिखना, पढ़ना, हिसाब लगाना उन्हें आता नहीं। कितना कर्ज लिया, कितना ब्याज दिया, कितना लिखा गया उन्हें कुछ मालूम नहीं होता। अपनी नमक, तेल की जरूरतों के लिए या कपड़े के लिए अनाज या अन्य कोई चीज यदि कोई बाजार में ले जाता है तो किस भाव उसका माल बिकना चाहिए उसे यह पता नहीं होता। तौल में भी शोषण। हर कदम पर व्यापारी उसको धोखा देता है, उसका शोषण करता है। ब्याज के बदले में बंधक के रूप में मजदूरी करता रहता है—सालों साल। तो भी ब्याज खत्म नहीं होता। वनवासी के जीवन में ऐसे कई दिन आते हैं जब एक बार भी भोजन नहीं मिल पाता। जंगल की कंद, फल और महुआ खाकर ही वह कई बार रह जाता है।

कपड़ा तो उसके तन पर नाम मात्र ही रहता है। बहुतों के पास कुछ भी नहीं होता। पुरुष लंगोटी ही पहनते हैं। स्त्रियों के पास एक ही धोती होती है, जिसे कई बार घर की स्त्रियां पहनती हैं। घर में तो वे निर्वस्त्र ही रहती हैं। ठण्ड में एक ओढ़नी होती है और उसे ओढ़कर पांच-पांच लोग रात्रि में सोते हैं। उनके कष्टमय जीवन की कल्पना उनके अंदर घुसकर ही की जा सकती है। लगभग ३५ प्रतिशत लोग भूमिहीन होते हैं। वे लोग गांव में ही रहना पसंद करते हैं। कुछ लोग चाय-बागानों में काम करने चले जाते हैं।

कल्याण आश्रम की इस दिशा में कुछ विशेष योजनाएं तो हैं ही। बाजारों में नाप-तौल ठीक प्रकार से हो और उचित मूल्य वनवासियों को मिले, इस दृष्टि से कार्यकर्ता बाजारों में रहते हैं और वनवासियों की मदद करते हैं। वनवासियों का बाजार में बिका हुआ सामान रखने की भी व्यवस्था कल्याण आश्रम ने अनेक स्थानों पर की है। यदि रात को किसी कारणवश वनवासी भाई को रुकना पड़े तो कम कीमत में उसके खाने-पीने की व्यवस्था भी की गई है। साथ ही वनवासी को हर क्षेत्र में उचित वेतन मिले, इस दिशा में भी कार्यकर्ता प्रयत्नशील हैं।

"खादी ग्रामोद्योग" के सहयोग से कुटीर-उद्योगों के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई है। आश्रम के अपने १२ कुटीर उद्योगों के प्रकल्प हैं तथा १४ कृषि उद्योगों के केन्द्र हैं। समस्या की गहनता और कार्य की आवश्यकता को देखते हुए यह सब कुछ नगण्य है। किन्तु मूलतः कल्याण आश्रम की उपलब्धियां शिक्षा, होस्टल और चिकित्सा के क्षेत्र में अधिक हैं। कल्याण आश्रम ५४ होस्टल, ४७ स्कूल, १७६ प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र, ५६ चिकित्सा केन्द्र तथा ३०० भजन मंडलियाँ चला रहा है। कल्याण आश्रम ८५ अनाज केन्द्र भी चला रहा है। इन सब प्रकल्पों में हमारे १३० पूर्णकालीन कार्यकर्ता कार्य कर रहे हैं। अनेक अंशकालीन कार्यकर्ता अलग से सहायता कर रहे हैं।

लेना कम, देना अधिक

मन की निष्कपटता, सेवा और समर्पण की भावना ही हमारे वे उपकरण हैं जिनसे हम विश्वास पैदा करते हैं। कार्यकर्ता न्यूनतम लेकर अधिकतम देने की भावना से काम करते हैं। वे कष्ट सहते हैं। घोर असुविधाओं के बीच काम करते हैं। इसी से वे उनके आत्मीय बन जाते हैं। वनवासी भाई कल्याण आश्रम को अपना घर समझते हैं। देहात से लोग आते हैं, एक अभिन्नता की भावना से हमारे चौके में भी घुस जाते हैं, साथ बैठकर खाना खाते हैं, और अपनी सभी समस्याएं हमें आत्मीयतापूर्वक बताते हैं, इस विश्वास के साथ, कि हम उनकी सहायता करने में कोई भी कसर नहीं छोड़ेंगे। □

हरिजन उत्थान

सफलता की एक सच्ची कथा

—अरुण गांधी

पाखंडी लोगों की कथनी और करनी में भारी अन्तर होता है। वे अपनी उलट-सुलट प्राथमिकताओं को ठीक करने की बजाय नैतिक और आध्यात्मिक तत्व-चर्चा में ही उलझे रहते हैं। कैसी विडम्बना है कि गांधी जी की शिक्षाओं का प्रभाव उन लोगों पर दिखायी नहीं देता जो उनकी भक्ति का दम्भ भरा करते थे बल्कि ऐसे लोगों में दिखायी दे रहा है जो उनके जीवनकाल में उनके विरोधी माने जाते थे। उदाहणार्थ, सेवाग्राम, जो कि गांधी जी को सर्वाधिक प्रिय कार्य-हरिजन-कल्याण के केन्द्र के रूप में उभर सकता था, अब एक निर्जीव संग्रहालय मात्र बनकर रह गया है।

सच्चा गांधीवादी किसे मानें? उसे जो उनके साथ सर्वाधिक लंबे समय तक रहा? या जिसने उनका लिखा सारा साहित्य पढ़ डाला? या जो खादी पहनता है एवं मितव्ययी जीवन बिताता है? अथवा उस व्यक्ति को, जो गांधी पूजा को ताक में रखकर किसी अविलम्ब ध्यान देने योग्य क्षेत्र में कार्यरत हो गया है? और फिर यदि किसी के मन में गांधी के नाम से जुड़कर कुछ स्वार्थ साधन की इच्छा नहीं तो फिर उसे अपने को गांधीवादी कहलाने की आवश्यकता ही क्या है?

सांगली जिले के मैहसल गांव में नीली आँखों वाला एक चितपावन ब्राह्मण हरिजनों में सचमुच कार्यरत है। उसे गांधीवादी होने का कोई दावा नहीं। वस्तुतः कालेज शिक्षा पूर्ण कर के उसने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में प्रवेश लिया था। यह अनेक दशक पूर्व की बात है। उसका गांधी जी से सम्बन्ध यदि कुछ रहा होगा तो वह उनकी अधिकांश सभाओं में आ जुटने वाली उन अनचीन्ही भीड़ों के एक अंश मात्र का रहा होगा।

त्र्यम्बक महादेव देवल मैहसल गांव के एक जमींदार थे। अपनी शिक्षा पूर्ण कर जब वे अपनी पैतृक सम्पत्ति की देखभाल करने अपने गांव लौटे तो वहाँ के हरिजनों का दारिद्र्य देखकर उनका हृदय भर आया। उन्हें आवश्यक सहायता प्रदान करने का इन्होंने संकल्प किया। इसलिये नहीं कि गांधी जी ने उन्हें हरिजनों में कार्य करने के लिये कहा था, अपितु इसलिये कि उनकी अन्तरात्मा की यही आवाज थी।

विनम्र योगदान

मैहसल परियोजना अछूतों के दुख-दर्द को कम करने की दिशा में उनका विनम्र योगदान है। मैहसल मिरज से २८ कि.मी. की दूरी पर एक छोटा-सा गांव है। १९५८ के बाद इस क्षेत्र में अनेक सहकारी चीनी मिलें खुल चुकी हैं। किन्तु इससे इस क्षेत्र में समृद्धि की जो बाढ़ आयी है, उससे वहां के अछूत लोग यदि अछूते रह गये हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

१९६२ में किये गये एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि इस क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक हरिजन परिवार को सप्ताह में तीन से चार दिन तक के भोजन से वंचित रहना पड़ता था। वे छप्परों में रहते थे, उनकी जमीनें बन्धक पड़ी थीं, उनके तन भी कठिनाई से ही ढक पाते थे।

उन्हें आवश्यकता थी—संगठन की, उचित निर्देशन एवं मार्गदर्शन की। यही देने के लिये श्री देवल कर्मक्षेत्र में कूद पड़े। उन्होंने उन्हें एक सहकारी समिति के रूप में संगठित किया और उनके साथ विचार-विमर्श करके उन भूमिहीन श्रमिकों के लिये उपयुक्ततम एवं सर्वाधिक लाभदायी पूरक धंधे की खोज का प्रयास किया।

उन्होंने एक डेयरी परियोजना का निर्णय

लिया। एक सहकारी समिति की स्थापना कर उसके सदस्यों को भैंसे खरीद लेने के लिये कहा गया। परन्तु सरकार उचित जमानत के बिना उन्हें ऋण देने को तैयार न थी। डेयरी सहकारी समिति प्रत्येक हरिजन को व्यक्तिगत रूप से दिये गये ऋण के लिये जामिन बनी। ६० हरिजन परिवारों ने इसका लाभ उठाकर निजी भैंसें खरीद लीं। अब चारे की समस्या सामने आई। कुछ समय तक तो सवर्ण हिन्दुओं के फार्मों पर काम करने वाले हरिजनों ने पशुओं का चारा पाने के बदले मालिकों से अपने लिये दोपहर का भोजन लेना बन्द कर दिया। स्पष्ट ही, यह अधिक देर तक चलने वाली चीज नहीं थी, क्योंकि इससे तो अल्पपोषण के फलस्वरुप दोनों ही मर जाने वाले थे।

सपना साकार हुआ

परियोजना के सामने भूमि-प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं था। श्री देवल ने खोजबीन की तो पता चला कि १९५२ में सरकार ने नदी के ऊपरी भाग की भूमि हरिजनों को आबंटित की थी जिसे स्थानीय राजनीतिज्ञ और जमींनदार हड़प चुके थे। और अधिक खोजबीन से यह रहस्योद्घाटन भी हुआ कि हरिजनों के पास किसी समय ४० हैक्टेयर बंजर भूमि थी, जो अनेक दशकों से १७ विभिन्न साहूकारों के पास बंधक पड़ी थी।

उस भूमि को वापिस लेने के लिये उपायों की खोज हुई। साहूकारों को समझाने-बुझाने का प्रभाव हुआ। साहूकार धन मिलने पर भूमि को उन्मुक्त करने को राजी हो गये। उन्हें १,५०,००० रुपये की राशि लौटानी थी। वापिसी की शर्त पर धन-राशि जमा कराने की जनता से अपील की गई। प्रत्युत्तर अच्छा रहा। थोड़े ही समय में डेयरी सहकारी समिति को १,२५,००० रुपये जमाराशि एवं २५,००० रुपये दान रूप में प्राप्त हो गये।

भूमि तथा ऋण स्वरूप प्राप्त पूंजी को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर सन् १९६६ में 'श्री विट्ठल संयुक्त सहकारी शेट्टी सोसाइटी लिमिटेड' की स्थापना की गई। भूमि की वापिसी ने हरिजनों के लिये डेरीकार्य के साथ कृषि-कार्य को जोडना भी सम्भव बना दिया।

सहकारी समिति ने अपने ही श्रम के बल पर लगभग ३० हैक्टेयर भूमि खरीद ली। अब वे अपनी भैंसों के लिये पर्याप्त चरागाह छोड़ने के साथ-साथ गेहूं तथा थामसन बीजरहित अंगूर की बुआई भी करने लगे। परिणामस्वरूप १९६९ में होने वाली ४४,४०० रू. की मामूली बचत अब ४ लाख रू.से भी अधिक तक पहुंच चुकी है।

निराभिमानी

मृदुभाषी, निराभिमानी श्री देवल कहते हैं – "आर्थिक प्रगति के साथ-साथ यदि शैक्षणिक एवं सामाजिक सुधारों का समावेश नहीं हुआ, तो बहुत बार किसी समाज पर उसकी आर्थिक प्रगति का प्रभाव उल्टा भी पड़ जाया करता है।"

इस दिशा में भी मामूली सी शुरूआत की जा चुकी है। फिर भी श्री देवल अनुभव करते हैं: "हमने अपनी आधी समस्याओं का ही अभी समाधान किया है, अब भी हम अपने सदस्यों तथा उनके परिवारों को पूरे वर्ष भर काम देने की गारंटी नहीं दे सकते। वस्तुतः ४० हैक्टेयर के एक फार्म के लिये ४५० लोगों को निरन्तर रोजगार प्रदान करना एक असम्भव सा कार्य है।"

उनकी कुछ महत्वाकांक्षी योजनायें हैं और उन्हें उनके क्रियान्वित होने का विश्वास भी है। बेहतर आवास, जिससे स्वास्थ्य एवं स्वच्छता की स्थिति में सुधार आ सके, तथा लघु एवं कुटीर उद्योगों को वे प्राथमिकता दे रहे हैं। कुछ स्थानीय विशेषज्ञों की सहायता से उन्होंने एक आदर्श गृह की परिकल्पना की है। इसमें दो कमरे, रसोई, पशुओं के लिये अस्तबल, शौचालय तथा एक गोबर गैस संयंत्र रहेंगे। प्रत्येक इकाई पर लगभग १३,००० रुपये की धनराशि व्यय होगी।

वर्तमान छप्पर, जिनमें हरिजन रहते हैं, शायद ही मानव निवास के योग्य कहे जा सकेंगे। स्वास्थ्य, स्वच्छता, बच्चों, परिवार के अन्य जनों और पड़ोसियों

की भी उनमें बुरी हालत रहती है। हरिजनों के पास अपने लिये अच्छे मकान बनाने को पैसा है नहीं। किन्तु श्री देवल को पूरी आशा है कि वे इस परियोजना के लिए धन लगाने को तैयार कोई न कोई धनपति खोज ही लेंगे और जिस प्रकार डेयरी योजना को प्राप्त पूरी-पूरी धनराशि उन्होंने वापिस लौटा दी थी, उसी प्रकार आवास निर्माण के लिये प्राप्त ऋण का भी एक-एक पैसा थोड़े ही दिनों में लौटा देने की उन्हें पूरी आशा है।

श्री देवल का कहना है कि प्रत्येक गृह में बायो-गैस संयंत्र के जुड़ने के कई लाभ होंगे। गोबर के उपयोग के अतिरिक्त इससे शौचालय के मल एवं घर के कूड़े का भी उपयोग हो जाएगा। रसोई को ईंधन उपलब्ध कराने के अतिरिक्त यह खाद का उत्पादन भी करेगा, जिसे सहकारी समिति प्रत्येक घर से खरीद लेगी।

१५ वर्षों में मैहसल गांव का अविश्वसनीय काया पलट हो गया है। निराशा और हताशा का स्थान साहस और विश्वास ने ले लिया है। लोगों को अपनी उपलब्धियों पर सचमुच न्यायोचित अभिमान है।

प्रेरणा का प्रसार

प्रत्येक अम्बेदकर जयन्ती पर मैहसल समिति निकटवर्ती ग्रामों के हरिजनों को एक परिचर्चा (संगोष्ठी) में भाग लेने के लिये निमन्त्रित करती है। मैहसल के लोग अपनी प्रगति की चर्चा करते हैं और दिखाते हैं कि यह प्रगति हुई कैसे? आगन्तुक दर्शक अपनी कठिनाइयों की चर्चा करके मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। परिणामस्वरूप आसपास के सात गांवों में सहकारी समितियां बनाने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। अपने मौन, निस्वार्थ ढंग से श्री देवल अपने क्षेत्र के हरिजनों में सम्पूर्ण क्रान्ति लाने के लिये प्रयत्नशील हैं। उनके अनुसार, "इसके पीछे का भाव उन्हें अपने लिये अपने-आप काम करने के लिये प्रेरित करना मात्र है। वे यह कभी न सोचें कि प्रत्येक वस्तु एक प्लेट में सजी-सजाई परोस दी जाएगी। व्यक्ति को किसी वस्तु का महत्व तभी ज्ञात होगा जब उसने उसकी प्राप्ति के लिये परिश्रम किया होगा।"

क्या मैहसल महात्मा गांधी का सच्चा स्मारक नहीं है और यदि गांधीवादी नाम के किसी पंथ का होना जरूरी ही है तो क्या श्री देवल उसके महत्वपूर्ण अंग होने के योग्य नहीं है? □

"इस समय तुम्हारा कर्तव्य यही है कि देश के एक भाग से दूसरे भाग में व एक गांव से दूसरे गांव को जाओ और लोगों को यह समझा दो कि अकर्मण्य बने बैठे रहने से कुछ नहीं होगा। उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति से परिचित करा दो और कह दो, भाइयो! उठो, जागो, जागो। और कितनी देर तक सोये रहोगे?" जाओ और उन्हें बता दो कि कैसे वे अपनी स्थिति सुधार सकते हैं। सरल तथा रोचक ढंग से शास्त्रों का तत्व उनके सामने रखकर उन्हें उसका बोध करा दो और सीधे-सादे शब्दों में उन्हें जीवन की आवश्यकताओं, व्यापार, वाणिज्य, खेती आदि के बारे में जरूरी चीजें सिखा दो।"

स्वामी विवेकानन्द

दीन दयाल शोध संस्थान का गोण्डा (उ० प्र०) प्रकल्प

हर खेत को पानी हर हाथ को काम

□ यादवराव*

"सारा देश गोंडा जिले की ग्रामोदय परियोजना को गहरी रुचि से देखेगा। इस सर्वस्पर्शी परियोजना का उद्देश्य ग्रामीणों के लिए समृद्धि का एक नया युग लाना है"। मुझे विश्वास है कि कुशल, अनुभवी, उत्साही और समर्पित आत्मा नानाजी देशमुख के मार्ग-दर्शन में सेवानिष्ठ, एवं निःस्वार्थ कार्यकर्ता गण गोंडा जिले में सुख-समृद्धि का एक नया युग लाने में सफल होंगे। मुझे जरा भी संदेह नहीं है कि यह आन्दोलन देश के अन्य भागों में भी ले जाया जाएगा और वहां भी शान्ति और समृद्धि के सूरज का उदय होगा।"

ये भविष्यसूचक शब्द भारत के राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी द्वारा, जिन्हें इस छोटे से २१ घरों के गांव (पुरवा) तक पहुंचने के लिए काफी लम्बी यात्रा करनी पड़ी थी, २५ नवम्बर १९७८ को कहे गए थे। यह पुरवा भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित उत्तर प्रदेश के एक अत्यंत पिछड़े जिले गोंडा के १५० घरों वाले गांव जानकीपुर का एक भाग है। यह छोटा सा गांव (पुरवा) पहले महाराजगंज के नाम से जाना जाता था। अब वहीं के निवासियों द्वारा त्यागमूर्ति दम्पति —श्री जय प्रकाश नारायण और उनकी समर्पित पत्नी श्रीमती प्रभादेवी की पावन स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि के प्रतीक स्वरूप उसका नामकरण "जयप्रभा ग्राम" के रूप में किया गया है। इसी जयप्रभा ग्राम में २५ एकड़ भूमि पर स्थित है,ग्राम पुनर्रचना के इस अनूठे प्रयोग के सूत्रधार दीनदयाल शोध संस्थान का ग्रामोदय केन्द्र। जयप्रभा ग्राम न केवल इस प्रयोग का संचालन-केन्द्र बना, बल्कि अपने देश में एक नये युग के आविर्भाव का भी प्रतीक बन गया है। इसका कारण यह नहीं है कि इस छोटे से उपेक्षित और अज्ञात पुरवे ने दूरभाष, डाकघर तारघर आदि सुविधाओं से सज्जित होकर भारत के संचार मानचित्र में अपना स्थान बना लिया है, बल्कि यह है कि शायद इस पुरवे में ही पहली बार ऐसा दृश्य उत्पन्न हुआ, जब देश के सर्वोच्च नागरिक अर्थात् भारत के राष्ट्रपति ने पहली बार गरीब ग्रामीणों के साथ जमीन पर बैठ कर परम्परागत पत्तलों में एक साथ भोजन खाया और इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक समानता के नये युग का शंखनाद किया।

परन्तु प्रत्येक नये परीक्षण की सफलता के पीछे एक स्वप्नद्रष्टा, एक तन्त्र और एक प्रयोगशाला का अस्तित्व अवश्यम्भावी है।

कल्पना और तन्त्र

मार्च १९७७ में नियति के अदृश्य हाथों ने आजीवन सामाजिक कार्यकर्ता तथा जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन के अग्रणी नेता नानाजी देशमुख को उनकी इच्छा के विरुद्ध कारागृह से आकर सीधे ही गोंडा जिले में एक चुनाव मोर्चे पर खड़ा कर दिया। यह भी नियति की लीला ही थी कि लोकसभा के नवनिर्वाचित सदस्य नानाजी देशमुख के मन में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में मन्त्री पद के अत्यन्त लुभावने समझे जाने वाले प्रस्ताव को ठुकराने एवं एक पिछड़े जिले गोंडा की सर्वांगीण पुनर्रचना के अनुपम प्रयोग के निमित्त अपने आप को समर्पित करने की प्रेरणा जग गयी। २१ अगस्त १९७८ को उन्होंने ६० वर्ष की आयु के सभी राजनीतिज्ञों के नाम सत्ता राजनीति से विरत होने एवं रचनात्मक कार्य में अपने को समर्पित करने की अपील की। अपनी बात के धनी नानाजी ने ८ अक्तूबर १९७८ को पटना में श्री जयप्रकाश नारायण की उपस्थिति में अपने स्वयं के सक्रिय राजनीति से विरत होने और भविष्य में कोई चुनाव

* सम्पादक, 'युग विवेक' साप्ताहिक, लखनऊ एवं महामंत्री, उ० प्र० हिन्दी समाचारपत्र सम्मेलन।

गोंडा प्रकल्प की उपलब्धियां

(१३ जुलाई १९८० की स्थिति के अनुसार)

लघु सिंचाई परियोजना

१. बोरिंग पूरे किए गए	२७,५१६
२. डीजल पम्पसैट लगाए गए	१४,३९३
३. बिजली के नलकूप लगाए गए	४८१
४. सिंचित क्षेत्र (एकड़ में)	२,२४,००२
५. कई फसलें देने वाला क्षेत्र	१,९९,६८४
६. वर्ष में दो फसलों वाला क्षेत्र	१,५८,३५३
७. वर्ष में तीन फसलों वाला क्षेत्र	४१,३३१
८. लाभान्वित परिवार	९२,३५५
९. पूर्ण सिंचित गांव	८३९

अन्त्योदय

१०. लाभान्वित परिवार	१,४३९

तरुणोदय (नवयुवक विकास केन्द्र)

११. कार्यक्रम सम्पन्न हुए	८६७

वनारोपण

१२. वृक्ष लगाए गए	२,२३,०००

सड़क निर्माण ('काम के लिए अनाज' कार्यक्रम के अन्तर्गत)

१३. सड़क की लम्बाई (कि० मी०)	१,१५२

पीने के पानी की सुविधाएं

१४. नए कुएं	१,३१८
१५. पुराने कुओं की मरम्मत	३,३३०
१६. हैंडपम्प	१,४७०

लघु उद्योग एवं कुटीर उद्योग

१७. लाभान्वित परिवार	५१२

पशुपालन

१८. पशु	२,२७२
१९. भेड़ और बकरियां	४०३
२०. मुर्गीपालन	२७५
२१. मत्स्य पालन	१३०
२२. सूअरपालन	१०३
२३. गोबर गैस संयंत्र	१२३

पेंशन

२४. लाभान्वित वृद्ध पुरुष	२५३

शिक्षा

२५. केन्द्र स्थापित	११

ग्रामीण नवयुवकों को स्वयं-रोजगार का प्रशिक्षण

२६. केन्द्र	२
२७. व्यवसाय	८
२८. प्रशिक्षणार्थी	२०४

ग्रामीण विपणन और सेवा केन्द्र

२९. केन्द्र	७
३०. लाभान्वित कारीगर	१५५

विविध

३१. विभिन्न ढंग से लाभान्वित परिवार	४०३

गोंडा जिला-१९७७ में

१. जनसंख्या	२३,०२,०२९
२. प्रति वर्ग कि० मी० जनसंख्या घनत्व	३१४
३. ग्रामीण जनसंख्या	२१,७१,९१३
४. अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या	३,८८,६६३
५. गांवों की संख्या	२,८१४
६. न्याय पंचायतें	२६७
७. विकास खण्ड	२५
८. साक्षरता	१४.०४ प्र० श०
९. शहरी साक्षरता	४०.२ प्र० श०
१०. ग्रामीण साक्षरता	१२.२ प्र० श०
११. स्त्री ,,	४.७ प्र० श०
१२. कामगर किसान	८,०५,६९१
१३. भूमिहीन श्रमिक	५,७१,०६२
१४. अन्य व्यवसाय	१,५२,०९५
१५. कुल भूमि की जोत (हैक्टेयर)	७००,१००
१६. सिंचित भूमि (हैक्टेयर)	१४६,१७०
१७. पशु हस्पताल	३०
१८. कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र	१८



सहभोज : राष्ट्रपति और किसान एक पंगत में

न लड़ने के संकल्प की घोषणा कर दी।

एक ओर तो नियति नानाजी देशमुख को दलगत चुनाव राजनीति से बाहर खींच रही थी, दूसरी ओर उनका मस्तिष्क महान भारतीय जीवन-दर्शों पर आधारित तथा सामाजिक-आर्थिक समता एवं समृद्धि को जन्म देने वाली सर्वांगीण विकास-प्रक्रिया की रूपरेखा तैयार करने में व्यस्त था। ऐसी ही एक अन्तःप्रेरणा ने उन्हें स्व० पं० दीन-दयाल उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत एकात्म मानववाद के दर्शन को विचार और कर्म के धरातल पर साकार रूप देने के लिये ही १९७२ में नई दिल्ली में दीन-दयाल शोध संस्थान की संस्थापना के लिए निमित्त रूप में खड़ा कर दिया था। स्वभावतः दीनदयाल ग्राम-पुनर्रचना के इस प्रयोग का प्रभावी उपकरण बनना ही दीनदयाल शोध संस्थान की नियति में लिखा था। अतः नानाजी देशमुख को द्रष्टा, दीनदयाल शोध संस्थान को उपकरण तथा गोंडा जिले को प्रयोग-शाला के रूप में एकत्र लाना किसी मानवीय योजना का नहीं अपितु नियति की लीला का ही परिणाम था।

गरीबी में जन्मे नानाजी को १९४० से रा० स्व० संघ के एक प्रचारक और १९७४ से जे० पी० आन्दोलन के अग्रणी व्यक्तित्व के रूप में उत्तर-प्रदेश और बिहार के सैकड़ों दूरस्थ गांवों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो चुका था और उन्होंने भारतीय ग्राम्य-जीवन की वास्तविकताओं को प्रत्यक्ष रूप से देखा हुआ था। वे इस तथ्य को भली भाँति हृदयंगम कर चुके थे कि हमारे गांवों के लिये कष्टकारी मूल समस्याएं हैं—दरिद्रता, अल्प रोजगार व बेरोजगारी, अज्ञान एवं

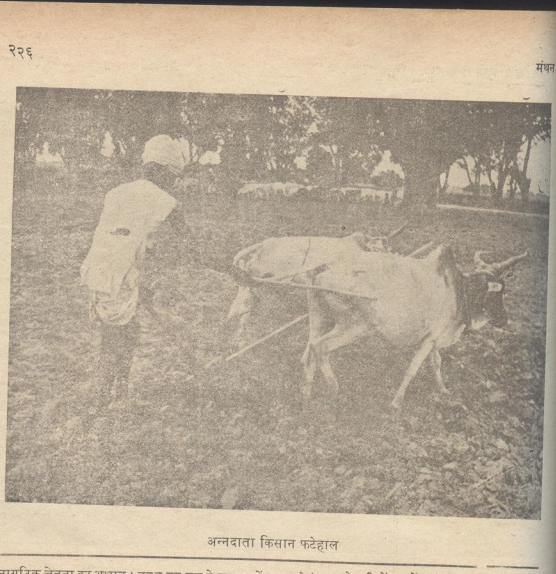

अन्नदाता किसान फटेहाल

नागरिक चेतना का अभाव। बहुत हद तक ये समस्यायें परस्पर सम्बद्ध हैं और एक का सफल समाधान अन्यों के सफल समाधान पर ही निर्भर है। इसीलिये उनके नेतृत्व में संस्थान ने ग्रामीण पुनर्रचना के एक सुनियोजित चतुर्मुखी कार्यक्रम का विकास किया, जिसमें :

(क) आर्थिक विकास : निर्धनता एवं बेरोजगारी से लड़ने के लिये कृषि सुधार एवं पशुधन उत्पादन, डेयरी विकास के माध्यम से पशुधन का पोषण, उधार खरीद एवं विपणन सुविधाओं के प्रवाह में सुधार लाते हुए ग्रामोद्योगों का विकास इत्यादि।

(ख) स्वास्थ्य: स्वास्थ्य-शिक्षा, पर्यावरण स्वच्छता, समुदाय आधारित स्वास्थ्य-रक्षा, प्रतिरक्षण, अनचाहे बच्चों के जन्म पर नियन्त्रण, माताओं एवं शिशुओं की देखभाल तथा पोषण, रोगों से संग्राम।

(ग) शिक्षा : साक्षरता कक्षाओं, अनौपचारिक शिक्षा, मनोरंजक लोकगीतों-नृत्यों एवं अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों के विकास के माध्यम से अज्ञानता से लड़ना।

(घ) प्रेरणा : सामुदायिक संगठनों, नागरिकता-शिक्षा, महिलाओं अथवा तरुणों के विकास-कार्यों एवं स्वशासन की जिम्मेदारियों को सम्भालने के लिए पुरुषों, महिलाओं तथा तरुणों में मूलगामी नेतृत्व के उदय द्वारा सामाजिक चेतना एवं उत्तरदायित्व के भावों को जागृत करना।

संक्षेप में, यह लोगों की पहल एवं सहभागिता से सम्पूर्ण विकास द्वारा आमूल परिवर्तन लाने का कार्यक्रम है।

गोंडा-प्रकल्प एक प्रयोगशाला : इस समन्वित चतुर्मुखी कार्यक्रम के कियान्वयन के लिये २३ लाख जनसंख्या (१९७१ की जनगणना के अनुसार) (जिस में ९४ प्रतिशत ग्रामीण एवं केवल ६ प्रतिशत शहरी हैं) वाला पिछड़ा हुआ गोंडा जिला एक आदर्श प्रयोगशाला के रूप में हो सकता था। वहां की जन-



संख्या का लगभग ३५%
सक्रिय है तथा उसमें भ
लगा हुआ है। उनमें से
मजदूर (१.५२ लाख) अ
कृषक हैं। ७० प्र० श० के
१ हेक्टेयर से भी कम भू
एक से लेकर दो हेक्टेयर
के पास दो से लेकर तीन
इस प्रकार लगभग ९२ प्र
तीन हेक्टेयर से भी कम
योग्य क्षेत्र का ६१ प्र० श०
का ७५ प्र० श० से अधिक
अभाव में प्यासा पड़ा हुआ
प्र० श० परिवारों की औस
अर्थात् ४०० रु० प्रतिवर्ष
का केवल १९.४ प्र०श०
की साक्षरता तो केवल ४.

यह था वह २८१४ ग
जिला, जिसे दीनदयाल शो

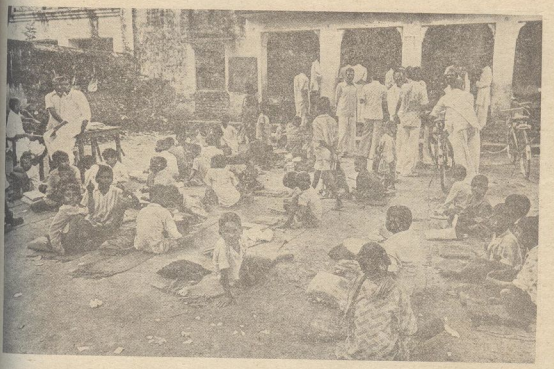

यह सराय नहीं, विद्यालय है

संख्या का लगभग ३५% भाग आर्थिक तौर पर सक्रिय है तथा उसमें भी ८६% कृषि-कार्य में लगा हुआ है। उनमें से भी अधिकांश भूमिहीन मजदूर (१.५२ लाख) अथवा छोटे और सीमान्त कृषक हैं। ७० प्र० श० के लगभग किसानों के पास १ हेक्टेयर से भी कम भूमि है, १६ प्र० श० के पास एक से लेकर दो हेक्टेयर से कम और ६.६ प्र. श. के पास दो से लेकर तीन हे० से भी कम भूमि है। इस प्रकार लगभग ९३ प्र० श० किसानों के पास तीन हेक्टेयर से भी कम भूमि हैं जो कि कुल कृषि योग्य क्षेत्र का ६१ प्र० श० बनता है। जोती हुई भूमि का ७५ प्र० श० से अधिक भाग सिचाई सुविधाओं के अभाव में प्यासा पड़ा हुआ था। गोंडा जिले के ९० प्र० श० परिवारों की औसतन आय एक रु० प्रतिदिन अर्थात् ४०० रु० प्रतिवर्ष से भी कम है। जनसंख्या का केवल १६.४ प्र०श० भाग साक्षर है। स्त्रियों की साक्षरता तो केवल ४.७ प्रतिशत है।

यह था वह २८१४ गांवों का पिछड़ा हुआ गोंडा जिला, जिसे दीनदयाल शोध संस्थान ने देश का एक आदर्श जिला बनाने के उद्देश्य से मई १९७८ में गोद लेने का संकल्प किया। आधिक मोर्चे पर डी० आर० आई० ने यह निश्चय किया कि पांच वर्षों की अवधि के पश्चात् गोंडा जिले का कोई भी परिवार २,५०० रु. वार्षिक आय से कम का नहीं रहेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नानाजी ने कार्यकर्ताओं को एक नारा दिया, "हर खेत को पानी, हर हाथ को काम।"

लेकिन इस नारे को वास्तविकता में कैसे बदला जाए?

सिंचाई और कृषि

यह स्पष्ट था कि जनसंख्या का ८० प्र० श० भाग कृषि पर निर्भर होने के कारण उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार का एक ही उपाय हो सकता था कि कृषि-उत्पादन में वृद्धि की स्थिति उत्पन्न की जाए, पर इस स्थिति का उत्पन्न होना सिचाई, अच्छे बीज, उर्वरकों और औजारों आदि की सहज उपलभ्यता व पूर्ति पर निर्भर करता है। पर्याप्त सिचाई सुविधाओं के बिना उत्पादन-वृद्धि और औद्योगिकीकरण के लिए उचित वातावरण उत्पन्न

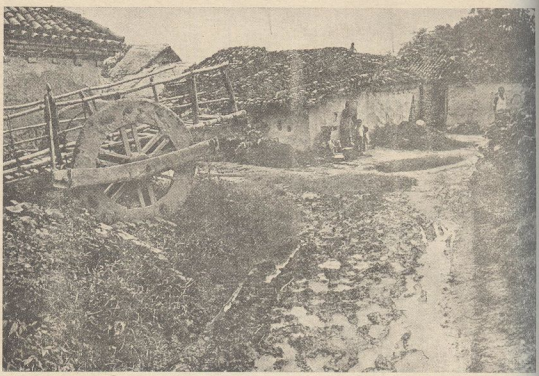

गांव के बीच कुआं : मौत और गन्दगी का घर

करना असम्भव है।

इस क्षेत्र में किए गए भू-जल सर्वेक्षण से पता चला कि गोंडा जिले के २५ ब्लाकों में से २० ब्लाकों में भू-जल-स्रोत उपलब्ध हैं। इस भू-जल को यदि पूर्ण रूप से काम में लाया जाए तो यह खेतों की सिचाई का एक प्रमुख साधन बन सकता है। अतः दीनदयाल शोध संस्थान (डी० आर० आई०) ने अक्टूबर १९८० तक छोटे और कम भूमि वाले किसानों के खेतों के लिए सिचाई सुविधाएं प्रदान करने के निमित्त २०,००० नलकूप लगाने की एक व्यापक योजना तैयार की।

यह अनुमान लगाया गया कि लोहे के नल के साथ बेयरिंग कराने में लगभग १,००० से १५०० रु० तक की लागत आती है। डीजल पम्प सेट पर ७ हजार से ८ हजार तक की लागत आएगी। विद्युत् नलकूपों की लागत भी यद्यपि इससे ज्यादा नहीं है, किन्तु ऐसे नलकूप केवल वहीं लगाये जा सकते हैं जहां विद्युत् उपलब्ध हो। अब बेचारा गरीब किसान इतनी विशाल धनराशि कहां से जुटाए? नानाजी ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि 'ग्रामोदय प्रकल्प में दान का कोई स्थान नहीं है। हम किसी को भिखारी नहीं समझते हैं। हम उन्हें स्वाभिमानी और आत्मनिर्भर देखने के लिए कार्यरत हैं। दीनदयाल शोध संस्थान का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण रहा कि उसके द्वारा प्राप्त होने वाली सेवाओं और सुविधाओं से लाभान्वित होने वालों को इन सेवाओं व सुविधाओं की लागत खुद चुकानी चाहिए ताकि उनमें आत्मसम्मान और जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न हो। अतः व्यवस्था यह की गई कि छोटे और सीमान्त किसानों को, जो व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से इन नलकूपों के स्वामी बनने वाले थे, केन्द्रीय कृषि मंत्रालय से २५ से ५० प्र० श० तक सहायता राशि प्राप्त कराई जाए। साथ ही दीनदयाल शोध संस्थान बकाया राशि को भूमि विकास बैंकों और अन्य व्यावसायिक बैंकों से ऋण रूप में



पुराना कुआं : नया चेहरा

दिलाने में सहायता करे, किन्तु इस शर्त के साथ कि इस ऋण को ऋण-प्राप्ति के एक वर्ष बाद छः मासिक किश्तों में वापिस लौटा दिया जाएगा।

२६ मार्च १९७८ को बोरिंग कार्य का आरंभ करके दीनदयाल शोध संस्थान ने इस दिशा में प्रथम पग उठा लिया। उस दिन केन्द्र, राज्य एवं जिला प्रशासन के महत्वपूर्ण अधिकारियों के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर के उच्च बैंक अधिकारियों की उपस्थिति में नानाजी देशमुख ने तीन बोरिंग का उद्घाटन किया। प्रत्येक विकास खण्ड में दो के हिसाब से पचास पूर्णकालिक शिक्षित और प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं को कर्मक्षेत्र में उतार दिया गया। ताकि वे नलकूप लगाने की योजना को अपनाने के लिए ग्रामवासियों को तैयार कर सकें एवं इस दिशा में उनकी सहायता कर सकें। इन कार्यकर्ताओं को 'ग्राम संयोजक' के नाम से जाना जाता है। परन्तु धीरे-धीरे यह पता चला कि छोटे किसान (जिसके पास २.५ या उससे कम भूमि है) या सीमान्त किसान (जिसके पास १.५ एकड़ से भी कम भूमि है) के लिए लोहे के पाइप की बोरिंग करवाने या डीजल पम्प सैट लगाने के लिये लिये गए ऋण को वापिस लौटाना सम्भव नहीं है।

अब उनकी समस्या को हल कैसे किया जाए ?

असामान्य सफलता के नये तरीके

डी० आर० आई० ने यह पता लगाया कि एक डीजल पम्प सैट लगभग २० एकड़ भूमि की सिंचाई कर सकता है। अतः डी० आर० आई० ने सोचा कि आसपास के कई खेतों को समूह मानकर उनमें से किसी एक खेत में यदि एक बोरिंग करा दी जाए

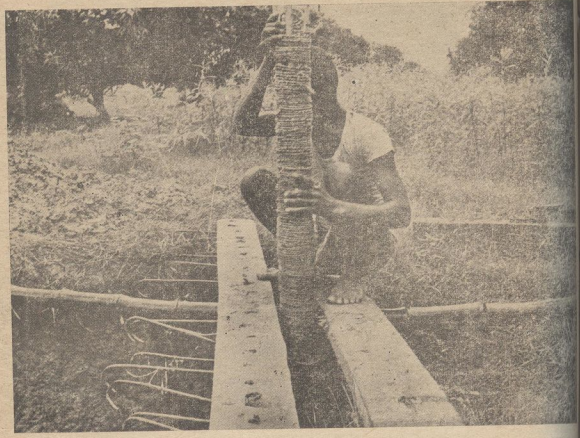

नलकूप बांस का

तो इस बोरिंग से यह डीजल पम्प सेट लगा कर इन सब खेतों की सिंचाई की जा सकती है। इस सुविधा के बदले बोरिंग का मालिक किसान अन्य किसानों से नाम मात्र का किराया ले ले। यह भी पता चला कि पूरी बोरिंग में लोहे की पाइप डालने की बजाय अगर बांस की बोरिंग की जाय तो उस पर एक तिहाई अर्थात् केवल ५०० रु० की लागत आएगी। यह भी पाया गया कि इस तरह की बोरिंग के लिये सर्वाधिक उपयुक्त किस्म का बांस गोंडा जिले में ही बहुतायत से उपलब्ध हैं। इसी लिये डी० आर० आई० ने एक ओर तो छोटे और सीमान्त किसानों को बांस की बोरिंग के लिये प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर कुछ बेरोजगार नवयुवकों और अन्य व्यक्तियों को डीजल पम्प सैट खरीदने के लिए प्रेरित किया, ताकि ये डीजल पम्पसेट जरूरत-मन्द किसानों को किराये पर दिये जा सकें। इस उद्देश्य से बेरोजगार नवयुवकों को व्यावसायिक बैंकों से व्यक्तिगत या सामूहिक तौर पर ऋण-सुविधा दिलाने की व्यवस्था की गई।

ये सभी उपाय खूब परिणामकारी सिद्ध हुए। बोरिंगों और डीजल पम्पसेटों के लगाने में असाधारण और आशातीत प्रगति हुई। ३१ मार्च १९७० को अर्थात् इस उद्घाटन के केवल दस महीने पश्चात् ७०४८ बोरिंग, ४००३ डीजल पम्पसेट और १६५ विद्युत् नलकूप पूरे जिले में लग चुके थे। मई, १९८० में यह संख्या बढ़कर २३,६५३ बोरिंग, १२,५५३ डीजल पम्पसेट और ३७२ विद्युत् नलकूपों तक पहुंच गई। ३१ जुलाई, १९८० के नवीनतम आंकड़े इस प्रकार हैं :—पूर्ण बोरिंग २५,५१६, डीजल पम्पसैट १४,३९३, विद्युत् नलकूप ४८१। लगभग ७००० डीजल पम्पसैट छोटे और सीमान्त किसानों के लिए किराए पर उपलब्ध हैं। इस अनुपम सिंचाई परियोजना का परिणाम यह हुआ है कि २,२४,००२



गत या सामूहिक तौर पर ऋण-
की व्यवस्था की गई।

पाय खूब परिणामकारी सिद्ध हुए।
ीजल पम्पसेटों के लगाने में असा-
आशातीत प्रगति हुई। ३१ मार्च
ात् इस उद्घाटन के केवल दस महीने
बोरिंग, ४००३ डीजल पम्पसेट और
लकूप पूरे जिले में लग चुके थे। मई,
ह संख्या बढ़कर २३,६५३ बोरिंग,
ल पम्पसेट और ३७२ विद्युत् नलकूपों
। ३१ जुलाई, १९८० के नवीनतम
र हैं :—पूर्ण बोरिंग २५,५१६, डीजल
३३, विद्युत् नलकूप ४८१। लगभग
म्पसैट छोटे और सीमान्त किसानों
पर उपलब्ध हैं। इस अनुपम सिंचाई
परिणाम यह हुआ है कि २,२४,००२

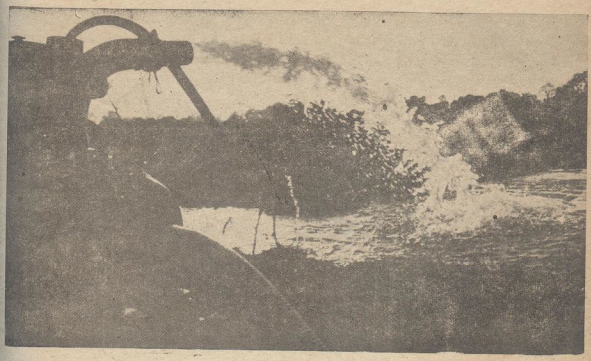

हर खेत को पानी

एकड़ नई कृषि योग्य भूमि को सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो गई है। गोंडा जिला के २८१४ ग्रामों में से ८३९ ग्राम सिंचाई सुविधा की चरम सीमा तक पहुंच गये हैं अर्थात् वहां एक भी खेत सिंचाई-सुविधा से वंचित नही रह गया है। १,९९,६८४ एकड़ भूमि-क्षेत्र दोहरी या तिहरी फसलों वाला बन गया है। इस कार्यक्रम से ९१,२३० परिवारों को लाभ हुआ है।

किन्तु निश्चित तिथि से भी बहुत पहले लक्ष्य-प्राप्ति का यह जादुई चमत्कार उस देय में कैसे हो पाया, जहां भ्रष्टाचार, सुस्ती और सर्वव्यापी लाल-फीताशाही के कारण लक्ष्य-प्राप्ति कभी नहीं हो पाती। निस्संदेह इस सफलता का मुख्य श्रेय स्थानीय लोगों की अपनी पहल और इस प्रकल्प में सहयोगी बनने की इच्छा को दिया जाना कहिए, किन्तु उन में यह प्रेरणा जगा पाना कोई आसान काम नहीं था। इसके लिये एक ओर तो डी.आर.आई.के योजना कक्ष ने प्रत्येक समस्या का व्यावहारिक हल खोजने की दिशा में अपनी कल्पना-शक्ति को दौड़ाया, दूसरी ओर ग्रामोदय प्रकल्प के अन्तर्गत गोंडा बलरामपुर रोड पर २५ एकड़ के माडल फार्म का निर्माण करके उसमें इन सब उपक्रमों के व्यावहारिक प्रदर्शन का आयोजन किया गया। लेकिन साथ ही समाधानों को गांव-गांव और घर-घर तक पहुंचाने के लिये ५० ग्राम-संयोजकों और बड़ी संख्या में स्थानीय नवयुवकों के निरन्तर प्रयासों व मधुर आग्रहों की भी उतनी ही आवश्यकता थी। इसके बाद भी यदि कुछ मनोवैज्ञानिक प्रतिरोध बाकी रह गया था तो स्वयं प्रकृति ने सूखे के दुःखदायी दिनों में गोंडा जिले की परीक्षा लेकर वहां के किसानों के सामने यह सिद्ध कर दिया कि ये लघु सिंचाई प्रयास ही संकट के दिनों में उनके त्राता बन सके और इस प्रतिरोध को जड़ से ढहा दिया।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जाना चाहिये कि सफलता का अन्तिम छोर प्राप्त कर लिया गया

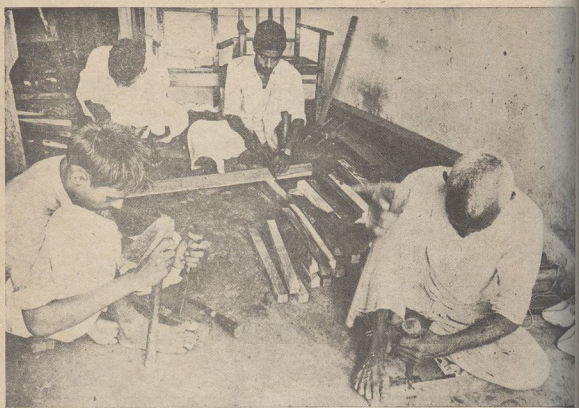

बढ़ई लोग काम में तल्लीन

है। इस सम्पूर्ण लघु सिंचाई प्रकल्प की सफलता डीजल और बिजली की आसान एवं निरन्तर सुलभता पर निर्भर करती है, किन्तु इन दोनों वस्तुओं की प्राप्ति में जिस प्रकार उत्तरोत्तर कमी होती जा रही है उसे देखते हुए कौन इनके मिलते रहने की गारंटी दे सकता है। अतः इस समस्या का समाधान ढूंढ निकालना अत्यावश्यक है और आजकल डी. आर. आई. का दिमाग इसी हल की खोज में उलझा हुआ है।

निस्संदेह कृषि-विकास के लिये सिंचाई की सुविधा आधारभूत उपादान है, किन्तु उसके लिये बीज, औजार और बैल इत्यादि अन्य उपकरणों की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है।

यद्यपि डी. आर. आई. इस समस्या से भलीभांति परिचित है और उसने विभिन्न ब्लॉकों में क्रय-विक्रय-सेवाओं और सप्लाई केन्द्रों को स्थापित करने की एक योजना भी तैयार की हुई है ताकि लाभान्वितों को उनकी आवश्यकता की चीजें ठीक वक्त पर और निकटतम स्थान से प्राप्त हो सकें, तथापि इस दिशा में अभी तक बहुत अधिक प्रगति नहीं हुई है। एक ही खेत में कई फसलें उगाने का हमने प्रचार तो काफी कर दिया है किन्तु इन फसलों के क्रम को इस प्रकार से विनियमित करना बाकी है जिससे धरती की उर्वरा-शक्ति को क्षति न पहुंचे। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये, हमें फसलों के क्रम का सम्बन्ध पशु-पालन से जोड़ना होगा। लेकिन दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है।

औद्योगीकरण

ग्रामोदय प्रकल्प का पूरा ध्यान जहां उस बात पर केंद्रित रहा है कि दो वर्षों की सीमित अवधि में 'हर खेत को पानी' मिले; वहां इसने ग्रामोद्योगीकरण का एक चहुंमुखी कार्यक्रम भी शुरू किया है ताकि वह अपना दूसरा उद्देश्य भी शीघ्र पूरा कर



सके। परियोजना प्र
'हर हाथ को काम'।
(१) स्थानीय
कारों तथा इन शिल्पों
लब्ध होने वाले निवे
डी० आर० आई० ने
बोर्ड की सहायता से
अर्थात् करनलगंज,
ईरियाथोक, महमूदन
ग्रामीण कारीगरों का
(२) डी०आर०आई०
क्षेत्रों में रहने व
(कारीगरों) की बहु
लिए इस जिले में स
उद्देश्यीय ग्रामीण वि
किए हैं। इन क्षेत्रों में



आवश्यकता की चीजें ठीक
तम स्थान से प्राप्त हो सकें,
भी तक बहुत अधिक प्रगति
में कई फसलें उगाने का
र दिया है किन्तु इन फसलों
से विनियमित करना बाकी
रा-शक्ति को क्षति न पहुंचे।
के लिये, हमें फसलों के क्रम
से जोड़ना होगा। लेकिन
ा नहीं हो पाया है।

पूरा ध्यान जहां उस बात
दो वर्षों की सीमित अवधि
ले; वहां इसने ग्रामोयोगी-
कार्यक्रम भी शुरू किया
उद्देश्य भी शीघ्र पूरा कर



हर हाथ को काम

सके। परियोजना प्रकल्प का यह दूसरा उद्देश्य है—'हर हाथ को काम'।

(१) स्थानीय परंपरागत शिल्पों एवम् शिल्पकारों तथा इन शिल्पों के लिये स्थानीय रूप से उपलब्ध होने वाले निवेशों का पता लगाने के उद्देश्य से डी० आर० आई० ने अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड की सहायता से गोंडा जिले के सात ब्लॉकों अर्थात् करनलगंज, श्रीदत्तगंज, अतरौला, तुलसीपुर, ईरियाथोक, महमूदनगर और बेलसर में रहने वाले ग्रामीण कारीगरों का ब्यौरेवार सर्वेक्षण किया।

(२) डी०आर०आई० ने गोंडा जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले परंपरागत शिल्पकारों (कारीगरों) की बहुविध समस्याओं को हल करने के लिए इस जिले में सात अलग-अलग स्थानों पर बहुउद्देश्यीय ग्रामीण विपणन और सेवा केंद्र स्थापित किए हैं। इन क्षेत्रों में रहने वाले शिल्पकार अपने व्यवसायों के लिए कच्चा माल उचित दाम पर इन केंद्रों से प्राप्त कर सकते हैं। और अपना अनबिका फालतू माल इन्हीं केंद्रों की मार्फत बेच सकते हैं। इन केंद्रों से जिन ग्रामोद्योगों की सेवा हो रही है, उनके नाम इस प्रकार हैं :—बढ़ईगिरी, लोहारी, जूते बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना, तेल पेरना, बांस और बेंत का सामान बनाना, दाल दलना, चटाई बनाना इत्यादि। हाल-ही में अलग-अलग जगहों पर दस 'बान', उत्पादन केंद्र स्थापित किए गये हैं। इन केंद्रों का प्रबंध स्थानीय शिल्पकार स्वयं करते हैं। वे अपना कार्य सफलतापूर्वक कर रहे हैं और उससे उन्हें लाभ भी हो रहा है। इन केंद्रों के आयोजकों, अर्थात् ग्रामीण शिल्पकारों को विश्वास है कि निकट भविष्य में कोई शिल्पकार बिना काम के नहीं रहेगा और वह कम से कम २०० रु० प्रति माह अवश्य कमा सकेगा।



जयप्रभा गांव में कालीन बुनाई

(३) डी०आर०आई० गोंडा में कर्मठ, सामाजिक कार्यकर्ता श्री बैजनाथ की देख-रेख में एक बहु-धन्धी प्रशिक्षण केंद्र चला रही है। इस केंद्र में २४० ग्रामीण युवक-युवतियों के समूह को एक-साथ नौ अलग-अलग व्यवसायों में ३-४ मास का प्रशिक्षण देने की समुचित व्यवस्था है। युवक-युवतियों का ऐसा एक दल जो सरकार की "ट्राईसेम स्कीम" के अन्तर्गत प्रशिक्षण प्राप्त करके अब अपने-अपने रोजगार में लगा हुआ है। जिन व्यवसायों में प्रशिक्षण दिया जा रहा है, उनके नाम ये हैं :—दर्जी का काम, बुनाई का काम, कालीन और गलीचे तैयार करने का काम, बांस और बेंत के माल तैयार करने का काम, चटाई बनाना, रेडियो और ट्रांजिस्टरों की मरम्मत करना, साबुन बनाना, बान बंटना इत्यादि।

केंद्रीय सरकार की सहायता और सहयोग से अक्तूबर, १९७८ में कालीन और गलीचे बुनने का प्रशिक्षण देने के लिए एक केंद्र चालू किया गया था। अब तक लगभग पचास युवक-युवतियों को यह प्रशिक्षण दिया जा चुका है। इन प्रशिक्षार्थियों की कारीगरी को देखकर राष्ट्रपति जी भी बहुत प्रभावित हुए थे।

(४) अनेक निर्धन शिल्पी परिवारों को स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से रिक्शा, इक्के, डनलप गाड़ियां, सिलाई मशीनें, चावल का छिलका उतारने वाली

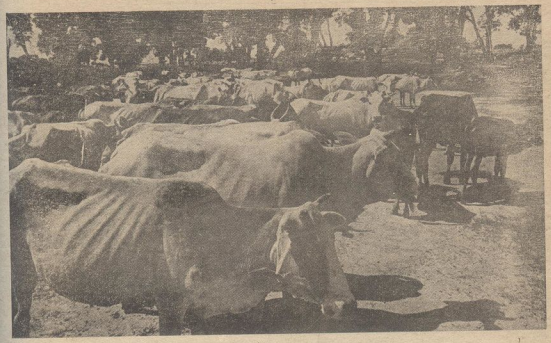

पशुधन या हड्डियों के ढेर ?

मशीनें और तेल निकालने के यंत्रचालित कोल्हू उधार या दान रूप में दिए गए हैं।

पशु पालन

डी०आर०आई० मत्स्य पालन, मुर्गी पालन और पशु पालन की ओर भी पर्याप्त ध्यान दे रही है।

पशुधन, जो बढ़िया किस्म के भोजन और साथ में आमदनी का भी एक बहुत बड़ा साधन है, छोटे किसानों की आर्थिक दशा सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जिले में करीब पांच लाख गायें और भैंसें हैं लेकिन, इस समय उनका योगदान बहुत थोड़ा है क्योंकि उनका स्तर बहुत घटिया है। उन्हें समुचित खुराक नहीं मिलती और पशु चिकित्सा सेवाएं भी अपर्याप्त हैं। यहां एक गाय प्रतिदिन औसतन ०-७५ लीटर दूध देती है और एक भैंस का प्रतिदिन औसत दूध १-५० लीटर होता है। नानाजी की २५ नवम्बर १९७८ की घोषणा के अनुसार, 'दीनदयाल शोध संस्थान ने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि वह इस जिले को एक लाख से भी अधिक बढ़िया नस्ल की गायें और भैंसें उपलब्ध करायेगी जिनमें से प्रत्येक गाय और भैंस प्रतिदिन १० से १५ लीटर तक दूध दिया करेंगी। इस समय, इस जिले में ५,००० तालाब या जोहड़ हैं। हम उन सभी को आधुनिक तकनीकों की सहायता से बड़े पैमाने पर मत्स्य पालन केन्द्रों में बदल देंगे। प्रकल्प का लक्ष्य है कि संकर-प्रजनन के जरिये पशुओं की किस्म में सुधार लाया जाए, पर्याप्त संख्या में पशु-चिकित्सा केन्द्र खोले जायें, उन्नत बीजों का वितरण करके चारे की किस्म सुधारी जाये और डेयरी-उत्पादकों के लिए विपणन-व्यवस्था कायम की जाए। जयप्रभा ग्राम में दीनदयाल शोध संस्थान के फार्म में साहीवाल से एक सांड लाया गया है ताकि यहां की गायों का संकर-प्रजनन करके उनकी नस्ल में सुधार लाया जाय और उनकी दुग्ध उत्पादन क्षमता बढ़ायी जाए। संकर-प्रजनन की सुविधा किसानों को मुफ्त दी जाती है।

ग्रामोदय प्रकल्प की योजनाओं में पशु-पालन

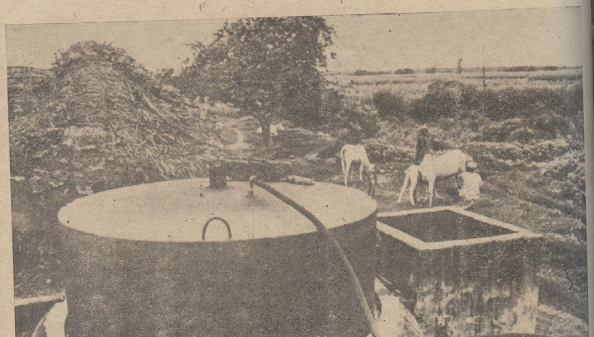

गांव में गोबर गैस

की महत्ता को स्पष्ट करने के लिए राष्ट्रपति जी ने २५ नवम्बर १९७८ को गांव के कुछ चुने हुए ग्रामीणों को ऊंची किस्म की गायें, भैंसें, बकरियां, भेड़ें, मुर्गियां और मछलियां प्रदान की थीं।

एकआदर्श मत्स्य-पालन केंद्र स्थापित करने के लिए, दीनदयाल शोध संस्थान ने मार्च १९७८ में लगभग ५-८ एकड़ जमीन अधिगृहीत की। यह भूमि जयप्रभा ग्राम में ग्रामोदय केंद्र के पीछे स्थित है। उक्त विशाल केंद्र में मत्स्य पालन के अलावा मुर्गी-पालन केंद्र, बतख-पालन केंद्र और सूअरखाना भी है।

(I) उपरोक्त चारों व्यवसायों का आदर्श नमूना यहां देखने को मिल जाता है और

(II) यह स्थल स्थानीय ग्रामीणों के मनोरंजन केंद्र का कार्य भी करता है, जहां आकर वे अपना मन बहला सकते हैं।

डेयरी फार्म

डेयरी योजना के अन्तर्गत काम की शुरुआत करने के लिए तीन विकास खण्डों में गाय और भैंस मालिकों की एक सौ से ज्यादा सहकारी समितियां बनाई गयी हैं। फैजाबाद डेयरी ने आश्वासन दिया है कि वह सहकारी समितियों के मार्फत उक्त तीनों ब्लाकों का सारा दूध खरीद लिया करेगी। कर्मठ कार्यकर्ता श्री रामप्रसाद द्विवेदी डेयरी योजना के सभी पहलुओं का गंभीरतापूर्वक अध्ययन कर रहे हैं। उन्हें विश्वास है कि यह जिला आगामी तीन वर्षों के अन्दर वर्तमान हरित क्रान्ति के बाद एक नवीन श्वेत क्रान्ति का सूत्रपात कर लेगा।

आर्थिक विकास की इन प्रमुख बहुउद्देशीय योजनाओं के अतिरिक्त दीनदयाल शोध संस्थान ने काम के बदले अनाज कार्यक्रम के अन्तर्गत पहुंचमार्गों और बांधों का निर्माण करने का काम भी अपने हाथ में लेने का प्रयास किया है। दीनदयाल शोध-संस्थान सेवा-निवृत्त वृद्धजनों को उनकी पेन्शन तय कराने और पेन्शन की सुविधाजनक भुगतान करने की दृष्टि से सहायता देती रही है। संस्थान ने समाज के बहुत कमजोर परिवार को अन्त्योदय योजना के अन्तर्गत जीवनयापन के साधन दिलाने का भी प्रयास किया है।

सामाजिक और नैतिक विकास

अगर दीनदयाल शोध संस्थान ने अपने अब तक के प्रयासों में आर्थिक विकास को ही उच्च प्राथमिकता दी है तो इसका मतलब यह हर्गिज नहीं है कि दीनदयाल शोध संस्थान ने आर्थिक विकास को ही अन्तिम सोपान मान लिया है। नानाजी बार बार इस बात को दोहराते हैं कि ग्रामोदय प्रकल्प का मतलब सिर्फ आर्थिक विकास ही नहीं है। बल्कि इसका अन्तिम लक्ष्य तो जनप्रेरणा एवं जनसहयोग के आधार पर सम्पूर्ण विकास के माध्यम से समाज में सम्पूर्ण परिवर्तन लाना है। केवल तभी लोकनायक स्वर्गीय जयप्रकाश के सपनों की वह सम्पूर्ण क्रांति चरितार्थ होगी जिसके गर्भ से आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं से मुक्त समाज का जन्म हो सकेगा। निसन्देह आर्थिक विकास प्रगति की पहली सीढ़ी है मगर आखिरी नहीं। आर्थिक विकास के साथ हमें यह भी देखना होगा कि समाज में सभी को न्याय मिले, शिक्षा का प्रसार हो, स्वास्थ्य के स्तर में सुधार आए और सबसे बड़ी बात जो हमें देखनी है, वह यह है कि स्थानीय लोगों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत हो।

इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दीनदयाल शोध संस्थान ने एक प्रेरणा केंद्र (मोटीवेशन सेन्टर) स्थापित किया है जिसका उद्घाटन २५ नवम्बर, १९७८ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस ने किया था। इस प्रेरणा-केंद्र के माध्यम से दीनदयाल शोध संस्थान १६ और ४० वर्ष की आयु के बीच के स्थानीय युवकों को संगठित करने का प्रयास कर रही है। युवकों को एक मंच पर इकट्ठा करने के इस कार्यक्रम का नाम तरुणोदय रखा गया है। तरुणोदय योजना के अंतर्गत, प्रत्येक न्याय पंचायत के स्तर तक युवकों के सम्मेलन और क्लब आयोजित किये जाते हैं। इन कार्यक्रमों ने स्थानीय युवकों के मन में एक नई जागृति पैदा की है और उसके परिणामस्वरूप, युवक जन अब अधिक से अधिक संख्या में दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा संचालित सर्वांगीण विकास योजनाओं में बढ़-चढ़ कर भाग लेने लगे हैं। वास्तव में देखा जाए तो ये ही युवक इस विशाल ढांचे की रीढ़ की हड्डी हैं।

मानवीय और वित्तीय स्रोत

नानाजी के नेतृत्व में कार्यरत समर्पित अनुभवी एवं कर्मठ कार्यकर्ताओं का एक छोटा सा मंडल इस प्रकल्प के सफल क्रियान्वयन का आधार है। इस मंडल के कुल सदस्य ये हैं—डा० जे० के० जैन०, सचिव के रूप में और डा० आर० यल० पटनी, प्रकल्प अधिकारी के रूप में। दोनों नई दिल्ली में रहते हैं। श्री शारदा प्रसाद प्रकल्प निदेशक के रूप में जयप्रभा ग्राम में रहते हैं। श्री बैजनाथ गोण्डा स्थित बहुधन्धीय प्रशिक्षण केंद्र के इन्चार्ज हैं और श्री रामप्रसाद द्विवेदी बलरामपुर के डेयरी स्कीम के इन्चार्ज हैं।

उपरोक्त शिखर नेतृत्व के अलावा, नेतृत्व की दूसरी पंक्ति में सभी २५ ब्लाकों के ५० ग्रामोदय संयोजक शामिल हैं। लेकिन, संगठन की बुनियादी यूनिटें दो हैं। (१) तरुणोदय मंडल, जिसमें १६ से ३० वर्ष तक की आयु के लोग शामिल हो सकते हैं, और (२) ग्रामोदय मंडल, जिसमें ३१ वर्ष और इससे ऊपर के लोग शामिल किये जाते हैं। ये मंडल प्रत्येक २६६ न्यायपंचायतों में कार्यशील हैं। इन सभी मंडलों के संयोजकों को मिलाकर ग्रामोदय प्रकल्प की परिषद (जनरल काउन्सिल) का गठन किया गया है।

इन सभी विकास योजनाओं को सफलतापूर्वक

क्रियान्वित करने के लिए और उसके लिए एक विशाल संगठन का बुनियादी ढ़ाँचा खड़ा करने के लिए काफी अधिक परिमाण में वित्तीय संसाधनों की जरूरत थी। लेकिन दीनदयाल शोध संस्थान के पास अपनी कोई निजी पूंजी नहीं थी जिसके बल पर वह इतना बड़ा काम पूरा कर पाती। नानाजी ने अपने २५ नवम्बर १९७८ के भाषण में सारी स्थिति स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने कहा था कि हमारे ग्रामोदय केंद्र की आर्थिक स्थिति बिल्कुल वैसी ही है जैसी हमारे गोण्डा जिले के गरीब किसान भाइयों की है। इसका अपना कोई बैंक बैलेन्स नहीं है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार विभिन्न सरकारें गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों के उत्थान के लिए करोड़ों रुपये खर्च कर रही हैं। लेकिन, इन कमजोर वर्गों के लिए नियत की गई रकमें ऊपर ही ऊपर हवा हो जाती हैं। ये रकमें उन लोगों तक पहुंच ही नहीं पातीं जिनके कल्याण के लिए वे खर्च की गई थीं।

डी० आर० आई० का सबसे बड़ा काम यह था कि वह सरकार की कल्याण योजनाओं और उनके लिये लक्षित जन समूहों के बीच एक ईमानदार सेतु की भूमिका निभाएं। 'ट्राइसेम स्कीम' के अधीन या हस्तशिल्प बोर्डों के द्वारा जो-जो अनुदान दिये गए उन सभी का ठीक ढंग में उपयोग हो।

डी० आर० आई० ने आरंभ में ही यह घोषणा कर दी थी कि वह किसी प्रकार की विदेशी सहायता सीधे स्वीकार नहीं करेगी और इसलिये अपने फैसले पर अडिग रहते हुए उसने सरकार द्वारा नियन्त्रित 'पाडी' संगठन के माध्यम से ही ऐसी कोई सहायता स्वीकार की।

केवल बुनियादी ढांचा खड़ा करने के लिये, डी०आर०आई० ३५ सी०सी०(ए)प्रमाणपत्र के तहत निजी व्यक्तियों और कंपनियों से दान और सरकार से अनुदान स्वीकार करती है। नानाजी की इस अपील का कि "हर व्यक्ति एक रुपया दे" काफी अच्छा परिणाम हुआ और देश-भर के लोगों से काफी बड़ी रकम इकट्ठी हो गई जो इस बात का सबूत है कि लोगों को हमारे इस प्रकल्प से कितनी बड़ी आशाएं हैं।

डी० आर० आई० एक ऐसी आत्मनिर्भर अर्थ-व्यवस्था को खड़ा करने का प्रयास कर रहा है जिसमें प्रत्येक प्रकल्प या तो स्वावलम्बी बने अथवा उस प्रकल्प से लाभान्वित होने वाले लोग ही उसका पोषण करें।

इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, डी० आर० आई० ने सहकारी क्षेत्र और स्व-रोजगार क्षेत्र का निर्माण करने पर बहुत जोर दिया है जिसमें योजना का लाभ उठाने वाले लोगों को अपने संसाधनों को स्वयं जुटाना पड़ता है और इस प्रकार उन्हें खुद अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया गया है, डी० आर० आई० इस बारे में बहुत सजग है कि लोगों में आत्म-सम्मान और आत्म-निर्भरता की भावना उत्पन्न हो न कि भिक्षा-वृत्ति। इस दृष्टिकोण की अपनी सीमाएं और कठिनाइयां हैं। डी० आर० आई०की रुचि तात्कालिक परिणामों में नहीं, अपितु ऐसी सुदृढ़ नींव स्थापित करने में है जिस पर एक आदर्श जिले का सामाजिक व आर्थिक ढांचा खड़ा किया जा सके और फिर उस ढांचे को कायम रखा जा सके।

□

स्मरण रखो, हमारा राष्ट्र गांवों में बसता है। लेकिन शोक है, किसी ने उनके लिए कभी कुछ नहीं किया। क्या तुम उन्हें ऊपर उठा सकते हो? क्या तुम उनकी आध्यात्मिक अन्तर्चेतना को क्षति पहुंचाये बिना उन्हें उनकी खोयी हुई अस्मिता वापस दे सकते हो?

स्वामी विवेकानन्द

ए.सी०सी०(ए)प्रमाणपत्र के तहत
र कंपनियों से दान और सरकार
र करती है। नानाजी की इस
र व्यक्ति एक रुपया दे" काफी
ा और देश-भर के लोगों से काफी
हो गई जो इस बात का सबूत है
ारे इस प्रकल्प से कितनी बड़ी

ाई० एक ऐसी आत्मनिर्भर अर्थ-
करने का प्रयास कर रहा है जिसमें
तो स्वावलम्बी बने अथवा उस
त होने वाले लोग ही उसका पोषण

ध्यान में रखते हुए, डी० आर०
क्षेत्र और स्व-रोजगार क्षेत्र का
हुत जोर दिया है जिसमें योजना
ले लोगों को अपने संसाधनों को
है और इस प्रकार उन्हें खुद अपने
ना पड़ता है। जैसा कि पहले भी
, डी० आर० आई० इस बारे में
ोगों में आत्म-सम्मान और आत्म-
उत्पन्न हो न कि भिक्षा-वृत्ति।
अपनी सीमाएं और कठिनाइयां
ई०की रुचि तात्कालिक परिणामों
सुदृढ़ नींव स्थापित करने में है
जिले का सामाजिक व आर्थिक
जा सके और फिर उस ढांचे को
।

□

किसी ने उनके लिए कभी कुछ
ात्मिक अन्तर्चेतना को क्षति

स्वामी विवेकानन्द

रचना-पथ पर युवा-चरण

चुनौतियां व अवसर

आह्वान



—श्री गुरुजी

अपने कुछ कार्यकर्ता अपने समाज की सभी बुराइयों के लिये केवल दूसरों को दोष देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। कुछ राजनीतिक कपटाचार को अपराधी ठहराते हैं तो कुछ लोग ईसाई, मुस्लिम या अन्यान्य मतावलंबियों की आक्रमणकारी गतिविधियों को कोस कर संतोष कर लेते हैं। हमारे कार्यकर्ताओं को इस प्रकार की पलायनवादी भावनाओं का सहारा छोड़ देना चाहिये और पूर्ण उत्साह से अपने समाज और धर्म के पुनरुत्थान में जुट जाना चाहिये एवं अनेक प्रकार की दुःस्थिति में पड़े हुए अपने बंधुओं की दशा सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये।

अपने वन्य क्षेत्रों में जाकर गिरि कंदराओं में रहने वाले अपने बंधुओं के पास पहुंचकर, उनको उनकी आजीविका कमाने में सुधार लाने की दृष्टि से सब प्रकार से प्रशिक्षित करने, उनको अपना जीवन अधिक सुखी बनाने के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध करा देने और उसके साथ-साथ उनके अन्तःकरण में भगवान की शुद्ध भक्ति के आधार पर अपने धर्म का अभिमान जागृत कर एकात्मता का बोध भरने के लिये अपार परिश्रम करने की आवश्यकता है। हमें उन सब योजनाओं को क्रियान्वित करने में सहायता करनी है जिनसे वे अपनी सभी प्राथमिक आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति कर सकें। हमें स्कूल, छात्रावास, प्रशिक्षण-केंद्र खोलकर उन्हें इन योजनाओं का पूरा लाभ उठाने के लिए सक्षम बनाना होगा।

हम लोग देखें कि अपने चारों ओर अनेक विधर्मी प्रचारक विदेशों से आकर कितने परिश्रम और धैर्य से काम करते हैं। इसमें उनका स्वार्थ भले ही होगा और स्वार्थ से प्रेरणा लेकर भले ही वे काम करते भी होंगें, परन्तु हम यह तो देखें कि वे हँसते-हँसते कितने कष्ट सहन करते हैं। सुदूर देशों से वे आते हैं, दुर्गम अरण्य में छोटा सा मकान बनाकर वनवासियों के समान रहते हैं, वहां के लोगों से घुल मिल जाते हैं, उनकी भाषा सीखते हैं, वहां के रहन-सहन, रीति-रिवाज सीखते हैं, उनके साथ मधुरता और सहानुभूति का व्यवहार करते हैं, फिर उसके आधार पर अपने मतावलंबियों की संख्या और शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। उनके जीवन में कितना परिश्रम है, इसका हम भी तो जरा विचार करें। क्या हम उनके साधनापूर्ण जीवन के कुछ पृष्ठ नहीं अपना सकते और अपने ही बांधवों के लिये स्वतः के पास जो-जो ईश्वर का दिया है, उनका विनियोग नहीं कर सकते ?

इस सेवा में, मानव-मानव में भेद करना उचित नहीं है। हमें तो, हिन्दू हो या ईसाई, मुस्लिम हो या अन्य कोई धर्मावलंबी, सब की सेवा करनी है। संकट, दीनता और अभाव कोई भेद नहीं करते, वे सभी को आपद्ग्रस्त करते हैं। मानव के कष्टों का विमोचन करने के प्रयत्न में दातृत्व या दयालुता का अभिमान करने की भी आवश्यकता नहीं। यह सेवा तो सर्वान्तर्यामी जनता-जनार्दन की आराधना है। यही हमारे धर्म की सत्य भावना के प्रकटीकरण, "त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव, त्वमेव सर्व मम देव-देव" की घोषणा के अनुकूल है। □



से आकर कितने परिश्रम
ते हैं। इसमें उनका स्वार्थ
र्थ से प्रेरणा लेकर भले ही
परन्तु हम यह तो देखें कि
ष्ट सहन करते हैं। सुदूर
अरण्य में छोटा सा मकान
समान रहते हैं, वहां के
हैं, उनकी भाषा सीखते हैं,
ति-रिवाज सीखते हैं, उनके
भूति का व्यवहार करते हैं,
र अपने मतावलंबियों की
का प्रयत्न करते हैं। उनके
श्रम है, इसका हम भी तो
हम उनके साधनापूर्ण जीवन
सकते और अपने ही बांधवों
जो-जो ईश्वर का दिया है,
र सकते ?

मानव में भेद करना उचित
ही या ईसाई, मुस्लिम हो
, सब की सेवा करनी है।
व कोई भेद नहीं करते, वे
ते हैं। मानव के कष्टों का
में दातृत्व या दयालुता का
ावश्यकता नहीं। यह सेवा
जनार्दन की आराधना है।
भावना के प्रकटीकरण,
त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा
देव-देव" की घोषणा के

□

गांधी जी की वसीयत युवा पीढ़ी के नाम

ग्रामीण सभ्यता हमें विरासत में मिली है। इतना बड़ा देश, इतनी बड़ी जनसंख्या, परिस्थिति और आबोहवा को देखते हुए मुझे लगता है कि ग्राम सभ्यता ही इसकी नियति है। इस सभ्यता की कमियां किसी से छिपी नहीं हैं, किन्तु उनमें से एक भी ऐसी नहीं है, जिसे दूर न किया जा सके। इस सभ्यता को जड़मूल से उखाड़ना और उसकी जगह शहरी सभ्यता का आरोपण करना मुझे असम्भव सा दिखाई देता है, जब तक कि हम किसी खतरनाक तरीके से अपनी जनसंख्या को तीस करोड़ से घटा कर तीन लाख या तीन करोड़ पर न पहुंचा दें। इसलिये आज मेरी समझ में यही उपाय सूझता है कि हम इस ग्राम्य सभ्यता को स्थायी रूप से बनाये रखें और उसकी जानी-मानी कमियों को दूर करने की चेष्टा करें। यह तभी हो सकता है जब देश के तरुण लोग ग्रामीण जीवन को अपनाने का फैसला करें और यदि वे यह फैसला करते हैं तो उन्हें जीवन का पुनर्गठन करना होगा और अपनी छुट्टियों का प्रत्येक दिन अपने कालेज या हाई स्कूल के आसपास के गांवों में बिताना होगा। ऐसे लोग, जिनकी पढ़ाई पूरी हो चुकी है अथवा जिन्होंने पढ़ाई छोड़ दी है, उन्हें गांवों में बसने की दिशा में ही सोचना होगा।

यंग इन्डिया (७-११-१९२९) पृष्ठ३९४

पर्याप्त अनुभव प्राप्त किये बिना कार्यकर्ताओं को पुराने औजारों, पुराने तरीकों और पुरानी शैली को बदलने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। अगर वे पुरानी चली आ रही पृष्ठभूमि को इसी तरह कायम रखते हुए सुधार लाने का प्रयास करेंगे तो ज्यादा सुरक्षित रहेंगे। तब उन्हें पता चलेगा कि यही सच्ची अर्थव्यवस्था है।

हरिजन, २९-३-१९३५

नवयुवकों से मैं कहता हूं कि तुम लोग गांवों में जाओ और वहां जाकर अपने आप को वहीं खपा दो। उनके मालिकों या दाताओं की तरह नहीं बल्कि नम्र सेवक की तरह। तुम्हारे रोजमर्रा के व्यवहार और जीवनचर्या से ही वे सीखें कि उन्हें क्या करना है और जीवन के तरीके को कैसे बदलना है। केवल बैठे-बैठे सोचने से ही कुछ होने वाला नहीं है जैसे कि भाप अपने आप में किसी काम की नहीं होती पर उचित निमंत्रण रखने पर यह विशाल शक्ति का रूप धारण कर लेती है। मैं तुमसे कहता हूं कि परमात्मा के संदेशवाहकों के रूप में भारत मां की घायल आत्मा के लिये मरहम लेकर आगे बढ़ो।

यंग इन्डिया २१-१२ १९२९ पृष्ठ. ४३३

बड़ी उमर के विद्यार्थियों और इसलिये कालेज के सारे विद्यार्थियों को अध्ययन-काल में ही ग्राम सेवा शुरू कर देनी चाहिए। ऐसे कुछ समय तक गांवों में काम करने वाले विद्यार्थियों के लिए एक योजना नीचे दी जाती है।

विद्यार्थियों को अपनी गर्मी की पूरी छुट्टियां ग्राम सेवा में बितानी चाहिये। इसके लिए बने-बनाये रास्ते पर चलने के बजाय वे अपनी संस्थाओं के पास के गांवों में घूमते हुए जायें, गांव वालों की हालत का अध्ययन करें और उन्हें अपने मित्र बनायें। यह आदत उन्हें गांव वालों के सम्पर्क में लायेगी। जब विद्यार्थी उनके बीच रहने के लिए जायेंगे, तब गांव वाले पहले के मौके-मौके पर स्थापित हुए सम्पर्क के कारण मित्रों की तरह उनका स्वागत करेंगे, न कि अजनबी मानकर उन्हें शक की निगाह से देखेंगे। गर्मी की लम्बी छुट्टियों में विद्यार्थी गांवों में जाकर रहें और प्रौढ़ों के वर्ग चलायें, गांववालों को सफाई और स्वच्छता के नियम सिखायें और मामूली बीमारों की सेवा-शुश्रूषा करें। वे गांव में चरखा भी दाखिल करें और ग्रामवासियों को अपने एक एक मिनट का सदुपयोग करना सिखायें। ऐसा करने के लिए विद्यार्थियों और शिक्षकों को छुट्टियों के उपयोग की दृष्टि में संशोधन करना होगा। अक्सर विचारहीन शिक्षक छुट्टियों में करने के लिए काम विद्यार्थियों पर लाद देते हैं। मेरी राय में

यह हर हालत में बुरी आदत है। छुट्टियों का समय ऐसा है, जब विद्यार्थियों के दिमाग स्कूल-कॉलिज के प्रतिदिन के काम के बोझ से मुक्त होने चाहिये, और उन्हें स्वावलम्बी बनने और मौलिक विकास करने का मौका दिया जाना चाहिए। मैंने जिस ग्राम सेवा के काम का जिक्र किया है, वह उत्तम प्रकार का मनोरंजन है और उसमें बिना किसी बोझ के विद्यार्थी गंभीर न लगने वाला शिक्षण भी प्राप्त करते हैं। जाहिर है कि यह पढ़ाई खत्म करने के बाद केवल ग्राम सेवा के लिए अपने आपको समर्पण कर देने की उत्तम तैयारी है।

यंग इन्डिया, २६-१२-१९२९ पृष्ठ संख्या ९८-९९

हमें अपने आपको उन गांव वालों की जगह रखकर देखना चाहिए तपते सूरज के नीचे अपनी झुकी कमर पर कड़ी धूप सहकर खेत जोतते हैं, जरा विचार करें कि उस तालाब से पानी पीना कैसा लगेगा जिसमें गांव वाले नहाते हैं, अपने कपड़े और बर्तन धोते हैं तथा पशु भी उसी में पानी पीते और डुबकियां लगाते हैं। तभी हम उन लोगों के सच्चे प्रतिनिधि बन पाएंगे और वे भी जैसा कि यह लिखते समय मेरा विश्वास है, हमारी हर पुकार पर ध्यान देंगे।

यंग इन्डिया, ११-९-१९२४ पृष्ठ ३००

अनेक ग्रामसेवक इस बात से बड़े भयभीत रहते हैं कि गांवों में अपने गुजर-बसर के लिए वे क्या करेंगे। उन्हें इस बात का बड़ा भय है कि अगर किसी संस्था या व्यक्ति से उन्हें खर्चा न मिला, तो गांव में कोई काम करके तो वे अपना गुजारा शायद ही चला सकें। फिर अगर वे कहीं विवाहित हुए और कुटुम्ब का भी भार उन पर हुआ, तब तो उन्हें और भी ज्यादा चिन्ता होती है। लेकिन मेरी राय में उनकी यह धारणा ठीक नहीं है। इसमें शक नहीं है कि अगर कोई आदमी शहरी मनोवृत्ति के साथ गांव में जाय और शहर की ही तरह वहां भी अपना रहन-सहन रखना चाहे, तब तो उसके लिए वहां अपने गुजारे लायक कमाई करना असम्भव ही है। उस हालत में तो वह तभी उतनी कमाई कर सकता है, जबकि शहर वालों की तरह वह ग्रामवासियों का शोषण करे। लेकिन अगर कोई किसी एक गांव में जा बसे और वहां गांववालों की तरह ही रहने की कोशिश करे, तो अपने परिश्रम द्वारा अपना गुजर करने में उसे दिक्कत नहीं होगी। उसे इस बात का विश्वास होना चाहिये कि जब वे ग्रामवासी भी किसी न किसी तरह अपने गुजारे के लायक कमा ही लेते हैं, जो बारहों महीने बाप-दादों के वक्त से चले आये ढर्रे पर, अपनी बुद्धि का उपयोग किये बगैर, आंख मूंदकर चले जाते हैं, तो वह भी कम से कम उतना तो कमा ही लेगा जितना कि औसतन् कोई ग्रामवासी कमा लेता है। और ऐसा करते हुए वह किसी ग्रामवासी की रोजी भी नहीं मारेगा, क्योंकि गांव में वह उत्पादक बनकर जायेगा, न कि दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने वाला (परोपजीवी) बनकर।

हरिजन सेवक २३-११-१९३५ पृष्ठ ७६-७७

भारतीय युवा और ग्राम-पुनर्रचना

★ पी० सी० महापात्र

यथार्थ में भारत उन पांच लाख गावों में बसा हुआ है जहां देश की ८२% जनसंख्या का निवास है। स्वभावतः देश का अधिसंख्य युवा भी देहातों का ही निवासी है—आंकड़ों में यह बात कहें तो गावों में देश की ७२-६% युवा जनसंख्या रहती है। स्पष्ट है कि इस युवाशक्ति का देश के ग्रामीण क्षितिज से प्रभावशाली उदय हो रहा है और शहर में छात्र-युवाओं की ही भांति उन्हें भी समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम में महत्वपूर्ण तथा व्यापक भूमिका निवाहनी है।

मूलतः हमारे सामने दो प्रमुख समस्याएँ हैं जिनसे निबटना एक बड़ी चुनौती है। ये हैं : गरीबी और निरक्षरता। देश की जनसंख्या का ४०% से ६०% भाग अभी तक गरीबी की रेखा से नीचे है। इसमें से (कुल २५ करोड़ के लगभग) २२ करोड़ १० लाख ग्रामीण क्षेत्र से हैं और प्रायः २० करोड़ शहरी क्षेत्र से। इसी तरह निरक्षरता का दैत्य भी कम विकराल नहीं है। कुल मिलाकर ३३.५५% या ३० करोड़ ६० लाख के लगभग जनता निरक्षर भट्टाचार्य है।

देहातों में महिलाओं, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की स्थिति तो और भी अधिक निराशाजनक है। इन वर्गों के लोगों में बेरोजगारी और अनुपयुक्त रोजगार (कम वेतन पर ज्यादा काम) की स्थिति निरन्तर बढ़ रही है। शहरीकरण के विस्तार और शहरों तथा कस्बों में गांव के लोगों का पलायन, शहरों में बेरोजगारी तथा अशिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि जैसी समस्याएँ तो मुंह बाए खड़ी है। जबकि देहातों में भी बेरोजगारी और अनुपयुक्त रोजगार समस्याएँ अनसुलझी पड़ी हैं। थोड़ी बहुत जो प्रगति खाद्य उत्पादन, नौकरियों के अवसरों और शैक्षिक विकास के क्षेत्रों में होती भी है, वह लगातार तेजी से बढ़ती जा रही जनसंख्या-वृद्धि के कारण फलहीन सिद्ध हो जाती है।

इस बात को निरन्तर महसूस किया जा रहा है कि ग्राम विकास एक समन्वित प्रक्रिया है जिसे बड़ी संख्या में परस्परावलम्बित पक्षों के संयोग से ही गतिशील किया जा सकता है। यह देखते हुए कि जनसंख्या का तीन चौथाई भाग ग्रामीण क्षेत्र में रहता है और ७०-८०% जनसंख्या खेती और खेती से सम्बन्धित व्यवसायों में रत है, यह अपेक्षा करना कि रोजगार दे पाने की सर्वाधिक क्षमता कृषि क्षेत्र पर ही निर्भर होगी, बहुत स्वाभाविक ही है।

कृषि के क्षेत्र में हुई हरित क्रांति ने यह सिद्ध कर दिया है कि कृषि देश का एक आधुनिक और भरोसेमन्द कार्य क्षेत्र है। बीजों की अधिक और जल्दी पैदावार देने वाली किस्मों, रसायन-प्रयोग, खाद व कीटनाशकों के प्रयोग, प्रभावशाली सिंचाई व्यवस्था आदि ने कृषि के भविष्य को द्विगुणित चमका दिया है।

किसानों की स्थिति को और ज्यादा सुधारने के उद्देश्य से लघु किसान विकास एजेंसियां, समन्वित ग्रामीण विकास एजेंसियां तथा समन्वित वनवासी विकास प्रकल्प आदि कार्यान्वित किए गए हैं। उपयुक्त भूमि सुधार, जिनमें खेत जोतने वाले को स्वामित्व प्रदान करना व सिकमी कर्जदारी को खत्म करने के लिये उधार माफी के कानून लागू करना व काश्तकार को सहकारी बैंकों व संस्थाओं से ऋण और विभिन्न प्रकल्पों के लिए आवश्यक अनुदान देना, जैसे कार्य किए गए हैं। अब ज्ञान की सीमाएं निरन्तर विस्तृत हो रही हैं। विज्ञान व तकनॉलॉजी लम्बी उड़ाने भर रहे हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि बहुसंख्य ग्रामीण जनसंख्या इन नवीन घटनाक्रमों और नए विचारों को अपने कार्यक्षेत्र में लाजमाने की दृष्टि से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं।

ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार के अवसर मौसम पर निर्भर करते हैं और इसलिये या तो ग्रामीण को अनुपयुक्त रोजगार मिलता है या ऐसा छोटा-मोटा काम मिलता है जिससे एक तरह से उसकी बेरोजगार की हालत बनी रहती है। यह हिसाब लगाया गया है कि

* सह कार्यक्रम-परामर्शदाता (राष्ट्रीय सेवा योजना) शिक्षा मंत्रालय (भारत सरकार)

गांव में खेत मजदूरों को औसतन वर्ष में १२५ दिन रोजगार मिलता है। उपरोक्त एजेंसियों द्वारा ऐसे प्रयत्न किए जा रहे हैं जिससे खेत-मजदूरों की ठोस आर्थिक मदद की जा सके।

लेकिन परिवर्तन की हवा इन ग्रामीणों तक इस लिए नहीं पहुंच पाती क्योंकि ये आधुनिक विकास कार्यों से अनभिज्ञ होते हैं। फिर अशिक्षित होने के कारण वे यथास्थितिवादी होते हैं और आसानी से नये ढंग से काम शुरू करने पर सहमत नहीं होते। इसलिये यह कहा गया है कि शिक्षा का प्रसार सुविस्तृत आर्थिक विकास की पहली शर्त है।

भारतीय जनता में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता भी बहुत कम है। देहातों में तो यह स्थिति और भी विषम है जहाँ बीमारी को पाप, दैवी आपदा या कर्म फल माना जाता है और अधिक बच्चे पैदा होना ईश्वर का आशीर्वाद समझा जाता है। अतः ग्रामीण जनता को स्वास्थ्य, बीमारियों के कारण तथा उनके उपचार आदि के संबंध में शिक्षित करना आवश्यक है।

आर्थिक विकास, सामाजिक विकास का एक पक्ष है और सामाजिक विकास के लिए हमें अंधविश्वास एवं पूर्वाग्रह मिटाने होंगे तथा पारम्परिक मूल्यों की व्याख्याएं प्रस्तुत करनी होंगी। आर्थिक विकास के लिए हमें लोगों को उत्पादन के नए तरीके अपनाने के लिए उत्साहित करना होगा। इस प्रकार सर्वांगीण विकास के लिए साक्षरता ही एकमेव साधन है।

स्वयंसेवक सेना

इस लक्ष्य को प्राप्त करने तथा ग्रामीण विकास के लिए उक्त व्यवधानों से निबटने के लिए हमें स्वयंसेवकों की एक विशाल शक्ति चाहिए। संसाधनों को जुटाने तथा समन्वित विकास के लिए नई तकनॉलॉजी ग्रामीण क्षेत्र में पहुंचाने के लिए इस देश का युवा वर्ग ही सर्वाधिक सक्षम माध्यम हो सकता है। जब तक ये मूलभूत उत्तरदायित्व देश के युवा द्वारा मान्य, स्वीकृत और कार्यान्वित नहीं होते मुख्य समस्याओं का निकट भविष्य में हल ढूंढ लेने की आशा नहीं की जा सकती।

इस प्रकार युवाओं के विकास कार्यक्रमों के साथ जुड़ जाने पर वे योजनाओं, उपयोजनाओं तथा विभिन्न परिकल्पनाओं के अनेक पक्षों को समझ सकेंगे। उनका ग्रामीणों के साथ भी सम्पर्क होगा, जो उन्हें जानकारी के प्रभावशाली स्रोत समझेंगे और इस तरह युवा एक उत्प्रेरक की भूमिका निभाएंगे। इस सन्दर्भ में युवाओं के तीन पक्षीय उत्तरदायित्व होंगे (१) समस्याएं पहचानना (२) वहीं पर उनके हल की योजना उपलब्ध करना और (३) इन योजनाओं की ओर सम्बद्ध अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट कर उनके समाधान को तर्कसम्मत ढंग से अन्तिम सिरे (कार्य की पूर्ति) तक पहुंचाना।

अभी तक राज्यों के अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों का न तो उपयुक्त सर्वेक्षण हुआ है न लेखापुस्तकें सम्हाली गई हैं और न ही भूमि सम्बन्धी रिकार्ड ही पूरे हुए हैं। इन कारणों से बैंक व अन्य प्रमुख संस्थाओं को ग्रामीण जनता को ऋण देने में दिक्कत महसूस होती है। इसलिये न सिर्फ अधिकारियों अपितु ग्रामीणों की भी सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण, भूमि सर्वेक्षण व्यवस्था तथा रिकार्ड तैयार करने तथा लेखा पुस्तकों की सम्हाल में सहायता के लिए युवाओं की सहायता ली जा सकती है। युवाओं का यह सहयोग ऋण प्रदान के साथ ही विभिन्न विकास कार्यक्रमों के लिए एक आवश्यक कार्यसंरचना के रूप में भी सहायक सिद्ध होगा। यह स्मरण रखना होगा कि युवा ही युवा को प्रेरणा दे सकता है और इसी वर्ग में हर तरह की विकृति यथा जातिवाद, प्रांतवाद, सम्प्रदायवाद, दहेज प्रथा और अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ने की ताकत होती है।

जनसंख्या में वृद्धि भी एक विकट समस्या है। प्रति वर्ष आस्ट्रेलिया के बराबर की जनसंख्या व प्रति पांच वर्ष बाद सोवियत रूस की जनसंख्या हमारे यहां पैदा होती है। युवा वर्ग जनसंख्या नियंत्रण के इस चुनौतीपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लेकर एक जन अभियान के माध्यम से जनसंख्या-वृद्धि की दर संतुलित कर सकता है। इसके अलावा अकाल के खिलाफ युवा, गन्दगी व बीमारी के खिलाफ युवा, वृक्षारोपण व वनीकरण के लिए युवा, आपदाओं से रक्षा के लिए युवा जैसे आन्दोलन आयोजित किए जा सकते हैं जिससे उनकी शक्ति का समुचित प्रयोग किया जा सके।

राष्ट्रीय सेवा योजना की भूमिका

कॉलिजों और विश्वविद्यालयों को यदि राष्ट्र-चेतना के केन्द्रीय बिन्दु के रूप में काम करना है—तो उन्हें अलग-थलग पड़े रहने की वृत्ति को त्याग-कर समाज से जुड़ना ही होगा। समाज की चिंतन-धारा और उद्यम पर अपनी छाप छोड़ने का प्रयास विश्वविद्यालयों को करना चाहिए और विकासशील समाज के मूल्यों को इसके अनुरूप ढालकर उन्हें राष्ट्र-जीवन और आदर्शों के ढाँचे से जोड़ने का उद्देश्य सामने रखना होगा।

इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये देश के कुछ चुने हुए विश्वविद्यालयों में भारत सरकार ने सन् १९६९-७० में राष्ट्रीय सेवा योजना(रा० से० यो०)शुरू की थी १९६९ से लेकर १९८० के समय के दौरान रा० से० यो० देश भर के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में अपने पांव जमा चुकी है। १३१ मेडिकल कॉलिजों आई. आई. टी. और सोशल वर्क स्कूलों के अति-रिक्त आज रा. से. यो. की शाखाएं देश भर में ११७ विश्वविद्यालयों में काम कर रही हैं। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक फैले ३,०८० कॉलिजों में ४,७५,००० विद्यार्थी रा०से०यो० के सदस्यों के रूप में पंजीकृत हैं। इस वर्ष चार राज्यों में रा०से०यो० उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में जमा दो स्तर पर भी चालू की गई है। ५,००० से अधिक प्राध्यापक इस संगठन में कार्यक्रम-अधिकारियों या कार्यक्रम-संयोजकों के रूप में कार्यरत हैं। राष्ट्रीय सेवा योजना के प्रारूप के अनुसार इसके प्रत्येक सदस्य से प्रतिवर्ष १२० घंटे समाज सेवा कार्य में लगाने की अपेक्षा रहती है। इसके अतिरिक्त विशेष शिविर कार्यक्रमों में भाग लेकर भी इस कार्य में योगदान देना होता है। इन विशेष शिविर कार्यक्रमों के अंत-र्गत प्रत्येक रा० से० यो० की इकाई से चौबीस घंटे के नियमित शिविर आयोजित करने या ग्रीष्मा-वकाश व शरदावकाश की लंबी छुट्टियों के दौरान कम से कम दस दिन की अवधि के शिविर लगाने की अपेक्षा रहती है। केंद्र सरकार राष्ट्रीय सेवा योजना के अंतर्गत नियमित तथा विशेष शिविर अनुदानों के रूप में लगभग पांच करोड़ रुपये हर वर्ष खर्च करती है।

इतने विशाल आधारभूत ढाँचे और भारी मात्रा में संसाधन उपलब्ध होने के कारण रा० से० यो० में राष्ट्रीय पुनर्रचना का एक शक्तिशाली माध्यम बनने की अपार क्षमताएं निहित हैं, बशर्ते कि उस शक्ति का सही ढंग से उपयोग किया जाए।

वास्तव में रा० से० यो० का घोषित उद्देश्य तो राष्ट्रीय जागृति और सामाजिक जिम्मेदारी की भावना को प्रोत्साहित करना, अनुशासन और श्रम के प्रति सम्मान की भावना मन में बैठाना और विद्यार्थियों को उनके संपूर्ण-व्यक्तित्व के विकास में सहायता प्रदान करना है। आज सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाने लगा है कि इस प्रकार के विकास के लिये रा०से०यो०के कार्यक्रमों को "प्रकल्प अभिमुख" या 'कर्म-अभिमुख' बनाना पड़ेगा।

इस बात पर भी बल दिया जा रहा है कि प्रत्येक रा० से० यो० की इकाई को एक ग्राम या पिछड़े क्षेत्र को दीर्घकालीन आधार पर अपना लेना चाहिये और कॉलिज विद्यार्थियों व प्राध्यापकों के सहयोग से इस क्षेत्र के सर्वांगीण विकास के लिये नियमित व सतत प्रयास किये जाने चाहिए।

वास्तव में "ग्रामोत्थान हेतु युवा" नामक नए विचार के अंतर्गत विशेष शिविर कार्यक्रमों के माध्यम से प्रत्येक कॉलिज से एक ग्राम या ग्राम-समूह को अपनाकर गहन सामाजिक-आर्थिक उत्थान का काम हाथ में लेने को कहा गया है। परंतु "ग्राम अपनाने के विचार" को भली भांति समझा नहीं गया और इसे लागू करना काफी कठिन और बाधा-पूर्ण सिद्ध हुआ है।

आखिर गांव को अपनाने का वास्तविक अर्थ क्या है? इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि रा० से० यो० की इकाई अपनाये गए गांव के भावी भाग्य निर्धारण की जिम्मेदारी अपने सिर पर ले ले। न ही इसका अर्थ यह है कि केंद्रीय या राज्य सरकार इन गांवों में विकास कार्यों में उपयोग के लिए विशेष धन की व्यवस्था करेगी। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि रा० से० यो० की इकाई गांव के

विकास के लिये कोई विशेष प्रारूप सरकार के सामने रखकर उसपर विशेष ध्यान देकर उसे लागू करने का आग्रह करेगी। ग्राम अपनाने का सीधा अर्थ तो यह है कि रा०से०यो० के सदस्य उस गांव के निवासियों से सम्पर्क स्थापित करें और उनके साथ कंधे से कंधा लगाकर एक बेहतर सामाजिक-आर्थिक जीवन के लिये कार्य करें। गांव वालों के साथ जुड़ने मात्र से ही विद्यार्थियों और ग्रामवासियों के मन में चेतना की नई लहर प्रस्फुटित हो सकती है। रा०से०यो०के सदस्य लोगों को उनकी आवश्यकताओं को पहचानने, प्राथमिकताएं तय करने और उनकी समस्याओं को अभिव्यक्त करने के काम में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। योजनाओं के ज्ञान व जानकारी में सिद्धहस्त होने और प्रशासनिक ढांचे से परिचित होने के कारण वे उपयुक्त विभागों का ध्यान इस ओर आकर्षित कर सकते हैं। सरकारी समस्याओं और विशेषज्ञों के सहयोग से राष्ट्रीय सेवा योजना ग्रामवासियों को अपनी समस्याएं अपने आप हल करने में सहायता कर सकती है। रा०से०यो० स्थानीय स्तर पर मानवीय, भौतिक तथा वित्तीय स्रोतों को कार्य-प्रवृत्त करने व उनके माध्यम से गांव की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है।

गांव को अपनाने का एक अर्थ यह भी है कि रा० से० यो० का गांव से एक स्थायी संबंध स्थापित होगा, जो वहां की जनता और उस क्षेत्र के सर्वांगीण विकास के लिये सार्थक सिद्ध होगा।

इस प्रकार रा०से०यो० ने शैक्षिक संस्थाओं को परिवर्तन और विकास का वाहक बनाने की दिशा में नए रास्ते खोल दिए हैं और उनके सामने अनेक अभूतपूर्व अवसर प्रस्तुत किये हैं। □

WITH BEST COMPLIMENTS FROM

□

East India Paper Company

5A, Court Chambers, 35,.New Marine Lines
BOMBAY-400 020.

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद

ग्रामोत्थान हेतु छात्र-अभियान

१९७७ की गांधी जयन्ती (दो अक्टूबर) भारत के विद्यार्थी आंदोलन के इतिहास में एक मील के पत्थर के रूप में याद की जाएगी। इस दिन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने, जिसे देश के सबसे बड़े और शक्तिशाली छात्र-संगठन के रूप में स्वीकार किया जाता है, छात्र-शक्ति के प्रवाह को रचनात्मक दिशा में मोड़ने का निश्चय किया और औपचारिक रूप से एक अनूठा प्रयोग 'ग्रामोत्थान हेतु छात्र अभियान' आरंभ किया। जून १९७८ में बंगलौर में हुए राष्ट्रीय अधिवेशन में विद्यार्थी परिषद् ने छात्र-संघों की प्रतियोगितात्मक राजनीति से अलग होने की घोषणा की और इसके साथ साथ अपनी शक्ति को प्रमुख रूप से रचनात्मक कार्यों में ही केंद्रित करना तय किया।

एक के बाद एक ये फैसले बहुत लोगों के लिये आश्चर्यजनक थे। विद्यार्थी परिषद् आंदोलनात्मक और चुनावी राजनीति में अपना जौहर पहले ही दिखा चुकी थी। जे० पी० के सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन में परिषद् के कार्यकर्त्ता पहली पंक्ति में डटे रहे और आपात् काल के दौरान तानाशाही के विरुद्ध उन्होंने कड़ा संघर्ष किया। आपात् काल की समाप्ति के तुरंत बाद अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने देश भर में कॉलेजों व विश्वविद्यालयों में हुए छात्र-संघों के चुनावों में ७५%से अधिक स्थानों पर विजय प्राप्त की। इसका संगठनात्मक ढांचा विशाल पैमाने पर देश भर में १००० शिक्षा केंद्रों तक फैला है जिनमें उच्च शिक्षा की लगभग ३,००० संस्थाएं और भारी संख्या में विद्यार्थी और अध्यापक शामिल हैं। अतः अपनी लोकप्रियता और शक्ति के चरम शिखर पर पहुंची हुई विद्यार्थी परिषद् द्वारा उस समय चुनावी राजनीति से अलग होकर रचनात्मक कार्यों के प्रति समर्पण की बात बहुत से लोगों के गले से नीचे ही नहीं उतरी। लेकिन जिन लोगों ने ९ जुलाई १९४९ को परिषद् का जन्म और अब तक इसके विकास का क्रम देखा है उन्हें यह निर्णय परिषद् की आंतरिक मनोभावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति लगा।

वास्तव में १९४९ में विद्यार्थी परिषद् का जन्म छात्र शक्ति को स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय पुनर्रचना के काम में शामिल करने के महान कार्य के लिये ही हुआ था और इसने जो पहला कार्यक्रम हाथ में लिया, वह था—"भारतीयकरण उद्योग"। परंतु बाद में परिषद् देश के सार्वजनिक जीवन पर सवार आंदोलनात्मक और चुनावी राजनीति के बवंडर की चपेट में आ गई। कई वर्षों तक विद्यार्थी परिषद् का नेतृत्व रचनात्मक कार्य की आंतरिक इच्छा और आंदोलनात्मक व चुनावी आकर्षणों के दो विपरीत केंद्रों के बीच झूलता रहा। ऐसा लगता है कि अंततः परिषद् के अंतःकरण में छिपी भावनाओं ने अब परिवेश के आकर्षणों को परास्त कर दिया है। 'ग्रामोत्थान हेतु छात्र-अभियान' नाम के प्रकल्प के अंतर्गत योजना बनाई गई कि तीन से पांच वर्षों के पहले दौर में लगभग सभी राज्यों के सहयोग और सहभाग का समावेश करते हुए २५० केंद्रों पर काम शुरू किया जाए। लगभग दस हजार विद्यार्थियों व अध्यापकों को इस प्रकल्प में सम्मिलित करने के निश्चय को पूरा करने के लिये तैयारियां काफी पहले ही चालू कर दी गई थीं। सन् १९७१ में अहमदाबाद में एक कार्यशाला का आयोजन किया गया ताकि छात्र-शक्ति की सामाजिक कार्यों में रचनात्मक भूमिका के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जा सके। इसके बाद से ही परिषद् के कार्यकर्त्ता कुछ आदिवासी क्षेत्रों और पिछड़ी बस्तियों को केंद्र बनाकर काम में जुटे। 'ग्रामोत्थान हेतु छात्र-अभियान' नाम से यह प्रकल्प औपचारिक रूप से २ अक्टूबर १९७७से आरंभ किया गया। इसके उपरांत इस दिशा में छात्र-शक्ति को अभिमुख करने के लिये क्षेत्रीय और राज्य स्तरों पर कई शिविरों का आयोजन किया गया। बिहार, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, महाराष्ट्र व कर्नाटक में ऐसे शिविरों के आयोजन

के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में कई क्षेत्रों को अपना कर वहां गहन कार्य हाथ में लिया गया।

सन् १९७७ में ८, ९ व १० सितंबर को दिल्ली में एक तीन दिवसीय शिविर का आयोजन किया गया जिसका उद्देश्य प्रकल्प के लिये दिशा-निर्देश और मूल ढांचा तैयार करना था। इस शिविर में अनेक अनुभवी व गणमान्य व्यक्तियों ने विचार रखे जिनमें श्री नानाजी देशमुख, जिन्होंने बाद में दलगत राजनीति का परित्याग कर ग्राम पुनर्रचना का ही काम हाथ में लिया, प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री श्री जे० पी० नायक, जाने-माने अर्थशास्त्री श्री जे० डी० सेठी, गांधीवादी श्री कृष्णा स्वामी और विचारक श्री बापूराव मोघे के नाम उल्लेखनीय हैं। यह निश्चय किया गया कि शुरू में विद्यार्थियों को इस प्रकार से प्रोत्साहित किया जाना चाहिये कि गांवों की समस्याओं से दूर भागने के बजाय वे इन चुनौतियों से जूझने के लिये तैयार हों।

बिहार में तीन अलग-अलग स्थानों पर इस चिंतनधारा को आगे बढ़ाने के लिये शिविर लगाए गए। इन कार्यशालाओं में २२ जिलों से आए लगभग सौ कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया। ४, ५ और ६ नवंबर को परिषद् का राष्ट्रीय अधिवेशन वाराणसी में हुआ। देश के कोने कोने से एकत्रित हजारों कार्यकर्त्ताओं को पुनर्रचना के काम से जुड़ने की प्रेरणा देने के लिये सर्वसेवा संघ के अध्यक्ष श्री सिद्धराज ढड्ढा को आमंत्रित किया गया।

लोक नायक से प्रेरणा और आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये २ मई, १९७८ को परिषद् के कार्यकर्त्ता जयप्रकाशजी से मिले और उन्हें प्रकल्प के उद्देश्यों से अवगत कराया। योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष प्रोफेसर डी० टी० लकड़ावाला ने भी परिषद् के इन प्रयासों की प्रशंसा की और पूरे सहयोग का आश्वासन दिया।

'ग्रामोत्थान हेतु छात्र-अभियान' प्रकल्प की राष्ट्रीय कार्यशाला ४, ५, ६ और ७ जून, १९७८ को जयपुर में आयोजित की गई। तमिलनाडु को छोड़कर अन्य सभी राज्यों से आए १४५ प्रतिनिधियों ने उसमें भाग लिया। केंद्रीय वित्त राज्यमंत्री श्री सतीशचन्द्र अग्रवाल, सर्वोदय नेताओं श्री गोकुल भाई भट्ट और श्री जवाहर लाल जैन, वनवासी कल्याण आश्रम के अध्यक्ष श्री रामभाऊ गोडबोले और शिक्षा मंत्रालय में राष्ट्रीय सेवा योजना के सलाहकार प्रो० एल० आर० शाह ने कार्यकर्त्ताओं को संबोधित किया। कार्यशाला में पिछले अनुभवों के आधार पर प्रकल्प को चलाने के लिये व्यावहारिक स्वरूप और कार्यशैली का ढांचा तैयार किया गया। इसी वर्ष (१९७८) में देश भर में २५ सितंबर से २ अक्टूबर तक 'ग्रामोत्थान हेतु छात्र सप्ताह' मनाने का निर्णय किया गया। यह सप्ताह देश भर में ६०० से अधिक स्थानों पर आयोजित किया गया। दिल्ली में इस सप्ताह का उद्घाटन प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डा० डी० एस० कोठारी ने किया। बंगलौर में श्री नानाजी देशमुख मुख्य अतिथि थे। पंडित दीनदयाल उपाध्याय के जन्म स्थान नांगला चंद्रभान ग्राम में, जो कि मथुरा जिले में है, एक विशेष प्रकल्प शुरू किया गया। अकेले बिहार में २५ विभिन्न जिलों से १,२०० विद्यार्थी २५० गांवों में गए। २३ तीन दिवसीय श्रमदान शिविरों का आयोजन किया गया जिनमें ३०० विद्यार्थियों ने भाग लिया। उत्तर प्रदेश का क्षेत्रीय प्रशिक्षण शिविर ७ और ८ अक्टूबर को बनारस हिंदु विश्वविद्यालय के परिसर में हुआ जिसमें २५ अलग-अलग स्थानों के प्रतिनिधियों के रूप में ७५ कार्यकर्त्ता उपस्थित थे। पिछले साल यह प्रकल्प लगभग सभी राज्यों में तेजी से आगे बढ़ा। कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश का काम विशेष तौर पर उल्लेखनीय है। इस प्रकल्प के अंतर्गत विद्यार्थी परिषद् द्वारा अपनाए गए पिछड़े क्षेत्रों की संख्या कर्नाटक में १३, महाराष्ट्र में १८, आंध्र में ९ और मध्यप्रदेश में ९ है। इन केंद्रों पर काम करने वाले कार्यकर्त्ता क्षेत्रों की सभी सामान्य समस्याओं पर तो ध्यान देते ही हैं परंतु खास तौर पर 'बाल संस्कार केंद्र' और स्वास्थ्य व शिक्षा पर बल दिया जाता है। केरल, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में बहुत से स्थानों पर विद्यार्थी परिषद् के कार्यकर्त्ता प्रौढ़ शिक्षा केंद्र भी चला रहे हैं।

मद्रास में परिषद् के कार्यकर्त्ता नगर के नजदीक

'एरि एथिल वायिक' गांव में हरिजन बालकों को शिक्षा प्रदान करने के लिये नियमित रूप से जाते हैं। वहां फरवरी १९७९ में स्थानीय तालाब के विकास कार्य में परिषद् कार्यकर्त्ताओं ने हाथ बंटाया।

बिहार में ग्रामोत्थान सप्ताह के अंतर्गत चम्पारन जिले में थारू वनवासियों की समस्याओं के अध्ययन हेतु ५० ग्रामों में सर्वेक्षण हुआ। १५ अन्य ग्रामों में भी सर्वेक्षण तथा अन्य कार्यक्रम हाथ में लिये गए। दरभंगा में स्थायी रूप से एक मुफ्त चिकित्सा केंद्र चल रहा है।

विदर्भ में यवतमाल जिले के धानोरा गांव में नाले पर पुल बांधने का काम हाथ में लिया गया तथा चन्द्रपुर में बरोरा गांव में डेढ़ फर्लांग लंबी सड़क बनाने के लिये परिषद् के कार्यकर्त्ताओं ने श्रमदान किया।

गुजरात में माटन शाखा द्वारा मोढेरा में नेत्र-चिकित्सा व दंत-चिकित्सा का शिविर आयोजित किया गया। इसमें ५ डॉक्टरों ने ७५ कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से आंखों के १३५ ऑपरेशन किये तथा ७०० रोगियों का निदान हुआ। अमरेली की इकाई ने भी हर तरह से अच्छा काम किया। रोहतक मेडिकल कॉलिज में विद्यार्थी परिषद् ने 'एनसिप्टिय्युटिस' नाम की भयंकर बीमारी के इलाज के संदर्भ में एक परिचर्चा का आयोजन किया।

उड़ीसा में साक्षी गोपाल और ढेकानाल नामक स्थानों पर श्रमदान शिविरों का आयोजन हुआ। महाराष्ट्र में बंबई व थाणे जिला के कार्यकर्त्ताओं ने भलवाड़ा और तलासरी में श्रमानुभव शिविर आयोजित किये।

हरियाणा में ग्रामोत्थान की दृष्टि से एक प्रान्तीय शिविर सिरसा में आयोजित किया गया। इसमें दीन-दयाल शोध संस्थान के अध्यक्ष श्री नानाजी देशमुख भी सम्मिलित हुए। दिल्ली में जहांगीरपुरी नाम की पुनर्वास बस्ती में परिषद् की ओर से एक केंद्र चलाया जाता है। महाराष्ट्र में ग्रामोत्थान सप्ताह २५ स्थानों पर मनाया गया। पुणे तथा कोल्हापुर में ग्राम संपर्क का कार्यक्रम लिया गया। लातूर के प्रकल्प 'विवेकानंद संस्कार संस्था' द्वारा अपना स्वयं का छात्रावास स्थापित किया गया है जिसमें २५ वनवासी छात्र निवास करते हैं। कर्नाटक में प्रांतीय ग्रामोत्थान प्रकल्प शिविर २५, २६ व २७ जून को हुबली में आयोजित किया गया जिसमें ३२ कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया। हुबली में अगहार टिम्भा सागर नामक गांव में विद्यार्थी परिषद् एवं राष्ट्रीय सेवा योजना की ६ कॉलिज इकाइयों के १०० विद्यार्थियों ने साथ मिलकर श्रमदान किया। बंगलौर इकाई द्वारा अपनाए गए गांव कैम्पापूरा में विख्यात नेत्र-शल्यकार डा० एम० सी० मोदी की सहायता से नेत्र शिविर लगाया गया जिसमें ६० लोगों को चश्मे प्रदान किये गए।

इस वर्ष सन् १९८० में २३ व २४ फरवरी को भोपाल में 'ग्राम-अभिमुखी शिक्षा' पर द्विदिवसीय सेमिनार का आयोजन हुआ। कई विख्यात शिक्षा-शास्त्रियों ने इस समस्या पर विचार-विमर्श किया।

संक्षेप में 'ग्रामोत्थान हेतु छात्र-अभियान' प्रकल्प के अंतर्गत भारी संख्या में छात्रों ने ग्रामवासियों की समस्याओं को उनके निकट जाकर देखा और समझा। नियमित दौरों, श्रमदान शिविरों और अन्य गतिविधियों के माध्यम से उन्हें इस दिशा में काम करने के रास्ते की जानकारी मिली। इस प्रकार युवा-शक्ति ने ग्रामीण समस्याओं के समाधान के मार्ग पर पहला कदम रखा।

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के महामंत्री श्री महेश शर्मा के शब्दों में, 'विद्यार्थी परिषद् ग्राम पुनर्रचना का कोई मॉडल खड़ा कर देने का दम नहीं भरती। देश भर में फैले इस प्रकल्प का मूल उद्देश्य तो विद्यार्थी व अध्यापक समाज में ग्रामवासियों की समस्याओं के प्रति समझ पैदा करना एवं उनके प्रति उनकी आत्मा को जागरूक बनाना है। उन्हें समाज के कमजोर वर्गों, विशेष रूप से ग्रामीणों, आदिवासियों तथा पिछड़ी व हरिजन बस्तियों में रहने वालों के लिये सहानुभूतिपूर्वक कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करना है।'' □

छात्र-युवा संघर्षवाहिनी के अनुभव

विकास के लिए संघर्ष : बोधगया का संदर्भ

□मंथन

आज की व्यवस्था में शोषण और गैरबराबरी का बोलबाला है। शोषणमुक्त बराबरीवाला समाज बनाने के लिए इस व्यवस्था को जड़ से बदलना जरूरी है। ग्रामीण विकास की सबसे सही दिशा व्यवस्था-परिवर्तन की ओर जाने वाली दिशा है। विकास की शुरूआत रचना से हो या संघर्ष से—यह विवादास्पद रहा है। हमारा यह मानना है कि सही विकास संघर्ष से ही संभव है। अभी की व्यवस्था में रहने वाली प्रगतिशील रचनात्मक संस्थायें इस विकास में मददगार हो सकती हैं। विकास की हमारी अवधारणा के अनुसार जिस आदमी या समूह को विकास की जरूरत है, संघर्ष का मूल और निर्णायक तत्व वही होगा। दलितों के पास सोचने की, विकास करने की ताकत है। आज की व्यवस्था उसे विकास का मौका नहीं देती है। दबा समुदाय इस जकड़न को संगठित होकर संघर्ष के जरिये तोड़ेगा, बाकी लोग मददगार हो सकते हैं।

इसी सोच के साथ गया जिले के चार प्रखंड—बोधगया, शेरघाटी, बाराचट्टी व मोहनपुर के चालीस गांवों और मधुबनी जिले के मधेपुर प्रखंड के गांवों में हमारा घना काम चल रहा है। गया के गांवों में गैर-कानूनी रूप से दस हजार एकड़ जमीन रखने वाले बोधगया मठ के खिलाफ लड़ाई है और मधुबनी के गांवों में सीलिंग से फाजिल जमीन बातों से बटाई-दारी लड़ाई चल रही है। मठ के खिलाफ भूमि-संघर्ष की मूल ताकत हरिजन मजदूर हैं।

गया के गांवों में शुरूआत मठ की जमीन वाले गांवों का सर्वेक्षण से की गई। सरकार जमीन बंटना चाहती है, इसलिए ये सरकारी लोग पूछताछ कर रहे हैं—सर्वेक्षण के क्रम में गांव के लोग यही सोचते थे। हमारे इस परिचय देने के बावजूद कि हम संघर्षवाहिनी के सदस्य हैं, बोधगया मठ की जमीन को भूमिहीनों में बंटवाने के लिए हम आपके साथ मिलकर लड़ाई शुरू करना चाहते हैं, भ्रम बना रहता था। इस भ्रम का कारण था—गांवों में जन-संगठन का नहीं बनना और आंदोलन का न चलना। परिवार की संख्या, घर-मालिक का नाम, खेत आदि के बारे में लिखवाने को सारे लोग तत्पर रहते, इस आशा के साथ कि हमें कुछ-न-कुछ फायदा होगा। हमें फिर स्पष्ट करना पड़ता था कि हम संघर्ष की मदद के लिए यह जानकारी लिख रहे हैं।

सर्वेक्षण के बाद संपर्क बनाने और गहराने का दौर चला। संपर्क बनाने और संघर्ष के लिए दिमाग बनाने की प्रक्रिया थी—गांव के कुछ आदमियों के माध्यम से मजदूरों की बैठक करना और जानकारी का लेन-देन। इस दौर का अनुभव है कि हर गांव में मजदूरों ने कुछ लोगों को अपने समूह का मेठ (मुख्य व्यक्ति) मान रखा है। बैठक, जानकारी के लेन-देन, रहने-खाने का प्रबंध मेठ ही करता था। कुछ गांवों में मेठ के अलावे दूसरे व्यक्ति भी ये सारे काम करने की पहल करना चाहते थे पर मौका पाते ही मेठ उससे पहल छीन लेता। औरत को बैठक में बुलाने पर मर्द कहते—उन्हें बुलाने की क्या जरूरत है, वे क्या कहेंगी? जो कहना है, आप कहिए, हम उनको बता देंगे। एकाधिकार के इस खतरे को दूर करने के लिए हमें मेठ के अलावे दूसरे लोगों और औरतों की बैठक में भागीदारी पर खास ध्यान देना पड़ता था। हम लोगों के दिमाग में यह लाने की कोशिश करते कि औरत और बच्चों को भी इस भूमि-संघर्ष में शामिल रहना है। नेतृत्व के केन्द्रीकरण के खतरे और औरत के प्रति सही दृष्टिकोण के बारे में भी हम बताते थे।

संपर्क के बाद संगठन बनाने का काम चला। नेतृत्व पर निर्भरता से बचने और अधिक से अधिक लोगों को जिम्मेवार बनाने के लिए हर गांव में संगठन का ढांचा खड़ा करने की जरूरत

महसूस हुई। गांव के लोगों ने अपने तरीके से संगठन खड़ा किया—पांच सदस्य, एक प्रमुख, दस सिपाही और एक खजांची। औरतों का संगठन दबाव के बावजूद एक-दो जगह पर ही बना। हर सप्ताह मजदूरों की बैठक होगी, हर महीने एक तय राशि हर कोई कोष में जमा करेगा—यह भी तय हुआ। पर हर संगठन खड़ा होने के बाद भी अपनी पहल से जरूरत के समय ही बैठक होती थी, साप्ताहिक नहीं। संपर्क और संगठन के साथ शिक्षण भी चला है। शिक्षण के लिए काम की बैठक के अलावा शिविर और सम्मेलन का माध्यम हमने अपनाया है। वक्ता अपने विषय पर बोले, उसके बाद लोगों से सवाल करने के लिए कहा जाय—शुरू में शिविरों में यही तरीका रहा। इस तरीके में लोगों की पूरी भागीदारी नहीं हो पाती थी, चंद लोग थोड़ा-मोड़ा बोलते थे, सवाल गिने-चुने लोग ही करते थे। इस तरीके को बदला गया। नये तरीके में हम सवाल करते थे, एक आदमी से उसका जवाब मांगा जाता, फिर दूसरे आदमी से दूसरे सवाल का जवाब मांगा जाता। सवाल किसी एक समस्या या विषय से संबंधित होता था। उनका क्रम आगे की ओर जानेवाला होता था। फिर नये विषय पर यही तरीका अपनाया जाता। इस तरीके के कारण शिक्षण में लोगों की भागीदारी भी बढ़ी है और खुद सोचने की ताकत भी। यह हम लोगों का अनुभव है कि भूमि-संघर्ष सामूहिक खेती, औरत के प्रति दृष्टिकोण आदि विषयों पर बहस से सही सोच बना पाना संभव है पर भगवान, भूत-प्रेत, झाड़-फूंक पर से अंधविश्वास हटा पाना केवल बहस से संभव नहीं। व्यावहारिक स्तर पर चुनौती लेकर एक हद तक अंधविश्वास हटाने में सफलता मिली है।

जिन गांवों में सवर्ण नहीं है, वहां के मजदूरों में लड़ाकूपन रहा है। लाडू गांव में बोध गया मठ की २०० एकड़ जमीन थी। लम्बी लड़ाई लड़कर हरिजन मजदूरों ने मठ को गांव से भगा दिया। चेतना के अभाव में यह लड़ाकूपन गांव की गैर-बराबरी नहीं मिटा सका। छोटे किसान मठ से जमीन खरीदकर धनी किसान बन गए हैं। लड़ाकूपन के बारे में हमारा दूसरा अनुभव यह है कि चेतना-निर्माण के एक क्रमिक शिक्षण के बाद गरीब बगैर किसी की मदद के अपनी लड़ाई शुरू कर आगे तक ले जा सकता है। गोसाई पेसरा गांव में मजदूरों ने अपनी पहल से लड़ाई शुरू की थी। अभी भी वह इस भूमि-आंदोलन का सबसे मजबूत गांव है। सामूहिक बहस के आधार पर संघर्ष का मुद्दा और तरीका तय करने के कारण संघर्ष में बहुत ज्यादा भागीदारी बनी है, मजदूरों में अपना नेतृत्व खुद पहले करने की ताकत बनी है। संघर्ष के समय शराब पीने, औरत औरत को पीटने जैसे गलत व्यवहार और गलत संस्कार को मजदूर तेजी से अपनी पहल से छोड़ते गए हैं। भूमि-आंदोलन'७८ में शुरू हुआ। ७९ में मजदूरों ने २६ गांवों में छह हजार एकड़ पर मठ का हल नहीं चलने दिया, दो हजार एकड़ की फसल की सामूहिक कटनी की, ८० में जून में २५-२६ गांवों में जमीन पर सामूहिक कब्जा कर सामूहिक खेती करनी लोगों ने शुरू की है। यह संघर्ष के माध्यम से बनी विकास की तेजी और मजबूती है। यह सारा काम लोगों ने अपने सामूहिक पहल से की है। दूसरी ओर इस क्षेत्र की रचनात्मक गैर-सरकारी विकास संस्थाओं ने गांवों में मजदूरों में खुद की पहल की जगह पर—निर्भरता जगायी है। इन संस्थाओं के द्वारा चलाये गए विकास कार्य की पहल दिन-ब-दिन कम हाथों में केन्द्रित होती गई है। इन संस्थाओं के कारण एक हद तक फायदा होने के बाद जटिल जड़ता की स्थिति विकास की राह के सामने आ गई है।

गांव के आंदोलन पर जाति और वर्ग की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। सवर्ण और पिछड़े दोनों जातीय और वर्गीय स्वार्थ के कारण चाहते रहे हैं कि यह भूमि संघर्ष न चले। सवर्ण मजदूरों को धमकाकर आंदोलन खत्म करने की कोशिश करते रहे हैं और पिछड़े भ्रम फैलाकर। धनी हरिजन अपने नेतृत्व में व्यक्तिगत स्वार्थ की अनुकूलता में आंदोलन को ले जाने की कोशिश करता है। आंदोलन की ताकत बढ़ने पर पिछड़ी जाति के गरीब किसान परोक्ष समर्थन में आये हैं, पिछड़ी जाति के बिचले

किसान उदासीन हुए हैं, अमीर पिछड़े और सवर्ण अभी विरोध में हैं। इस अनुभव के आधार पर हमारा निष्कर्ष है कि गाँव के विकास के आंदोलन की मूल ताकत सबसे दबी जाति और सबसे गरीब समूह होगा, बाकी दबी जमातें धीरे-धीरे साथ आयेंगी।

'जोरू और जमीन जोर के' (औरत और जमीन ताकत से कब्जे में रहती है) यह औरत के प्रति गाँव के लोगों का आम नजरिया है। सवर्ण और मजबूत पिछड़े औरत-कार्यकर्ता को गलत चरित्र वाली मानते हैं। मेहनतकश पिछड़े भी ऐसा ही मानते हैं पर सापेक्षतया कम गलत, इनका यह नजरिया बातचीत और संपर्क के बाद बदलता है। हरिजन मजदूर महिला-कार्यकर्ता को ज्यादा स्वाभाविकता से स्वीकार करते हैं। औरत-कार्यकर्ताओं के क्षेत्र में आने के कारण महिलायें संघर्ष के हर मोर्चे पर अगली पाँत में आई हैं। शुरू में औरतों को गिरफ्तारी से बचाव के ढाल के रूप में मर्दों द्वारा आगे लाया जाता था, पर अब औरतें स्वतंत्र हैसियत से भी संघर्ष में हैं। औरतों से आज के समाज में औरत की स्थिति पर बहस चलायी गई है, अत मर्द की गलतियों का विरोध होता है, विरोध के कारण मर्द-मजदूरों ने अपने को बदला भी है। गाँव के मजदूर औरत और मर्द दोनों तरह के कार्यकर्ता को समान महत्व देते हैं।

आज की गलत सामाजिक संस्कृति को नकारने और नई और सही संस्कृति बनाने की पहल हरिजन मजदूर कर सकता है। यहाँ के हरिजन शादी-ब्याह में ताकत से ज्यादा खर्च करते हैं, खर्च से बचने के लिए बाल-विवाह चलता है, ब्राह्मण शादी में आते हैं। इन गलतियों को मिटाने के लिए जयमाल पर विवाह की कड़ी आंदोलन में जुड़ी है, जिसमें मुख्य प्रयास हरिजनों का ही रहा है।

□

"इस समय तुम्हारा कर्तव्य यही है कि देश के एक भाग से दूसरे भाग, एक गांव से दूसरे गाँव को जाओ और लोगों को यह समझा दो कि अकर्मण्य बने बैठे रहने से कुछ नहीं होगा। उन्हें उनकी वास्तविक स्थिति से परिचित करा दो और कह दो, 'भाइयो! उठो, जागो, जागो; और कितनी देर तक सोये रहोगे?'' जाओ और उन्हें बता दो कि वे कैसे अपनी स्थिति सुधार सकते हैं। सरल तथा रोचक ढंग से शास्त्रों का तत्व उनके सामने रख कर उन्हें उसका बोध कर दो और सीधे-सादे शब्दों में उन्हें जीवन की आवश्यकताओं, व्यापार, वाणिज्य, खेती आदि के बारे में जरूरी चीजें सिखा दो।"

स्वामी विवेकानन्द

जब मैं ग्राम-सेवा के पथ पर आया

□ धीरेन्द्र मजूमदार

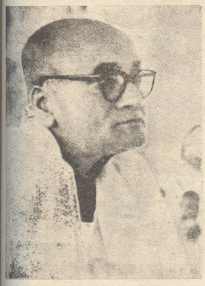

स्वाधीनता आन्दोलन के पुत्र व रचनात्मक कार्यकर्ताओं के शिरोमणि धीरेन दा गांधी जी के आह्वान पर १९२० में विश्वविद्यालयी जीवन को लात मार कर स्वाधीनता आन्दोलन में कूद पड़े थे। गांधी जी के ही आदेश पर वे ग्राम-विकास के रचनात्मक कर्म में जुटे तो जीवन के अन्तिम क्षण (२१ नवम्बर, १९७८) तक जुटे ही रह गये। कैसे उन्होंने अपने शहरी एवं विश्वविद्यालयी संस्कारों पर विजय पायी और कैसे ग्राम्य जीवन के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित किया, इस पर प्रकाश डालने वाले कुछ संस्मरण उनके अपने शब्दों में यहां प्रस्तुत हैं। ये संस्मरण कभी पत्र रूप में लिखे गये थे और तीन खण्डों में प्रकाशित उनकी पुस्तक "समग्र ग्राम सेवा की ओर" में से लिये गये हैं।

सेंट्रल जेल आगरा
१७-६-४१

देहात के लोगों के साथ उठने बैठने से उनके प्रति मेरी मानसिक अश्रद्धा दूर होती गयी। रहन-सहन और पोशाक आदि के विषय में तो मैंने बनारस से ही काफी लापरवाही शुरू कर दी थी। लेकिन दिमाग में अपने को आम जनता से ऊँचा ही समझता था और इसी भावना के कारण अभी तक देहाती लोगों के साथ मिलना-जुलना उतना स्वाभाविक नहीं हो पाया था।

मेरी तरह एक नौजवान, जिसने निश्चय कर लिया था कि जीवन में देश और गांव का ही काम करेंगे और जो दो-तीन वर्ष से अपने को इसी के अनुरूप बनाने की कोशिश भी कर रहा था और जिसके लिए आश्रम का वातावरण और उसकी शिक्षा भी इस कोशिश के अनुकूल ही थी, जब गांव के उच्च श्रेणी के साथ मिलने में भी कठिनता महसूस करता था, तो शहर के शिक्षित समाज के लिए एकाएक गाँव में जाकर गांव के लोगों को अपनाना कितना कठिन है, यह भली-भांति समझ सकती हो। यही कारण है कि मैं गांव के काम करने वालों के लिए अपनी श्रेणी विशेषता का दूर करना सबसे अधिक आवश्यक समझता हूं। कारण, ऐसे लोग देहात में जाकर उन बातों को हटवाने की कोशिश करने लगते हैं, जो उन्हें अपनी श्रेणी और अपने समाज के अनुकूल न होने से बुरी लगती हैं या जिनके कारण उन्हें कष्ट अनुभव होता है। बरसात में उन्हें गांव के भीतर कीचड़ में घूमना कष्टदायक लगता है, अतएव वे देहात की गलियों में ईंट बिछवा देना ग्राम-सुधार कार्य का एक आवश्यक अंग मानते हैं। आर्थिक सुविधाओं में जन्म लेने और शिक्षा पाने के कारण उन्हें क्या पता कि देहात के जन समूह के पास इतनी ईंटें जुटाने का धन और साधन है या नहीं? अगर वे कहीं बाहर से ईंट मांगकर लायेंगे, तो उनके पास सोचने की इतनी शक्ति नहीं है कि

उन ईंटों को साफ और दुरूस्त रखने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। देहात के घरों में बैठने से उनका दम घुटता है, इसीलिए वे उनमें खिड़की की व्यवस्था कराने की कोशिश करते हैं। वे देहात में जाते ही वहां के प्रचलित शादी, विवाह तथा अन्य अनुष्ठानों के विरुद्ध प्रचार एवं विवाद करने लगते हैं, जिसे गाँववाले सहन नहीं कर पाते। गांव के भीतर जाकर हमें गाँवों के उस बिन्दु पर उंगली रखनी है, जिस बिन्दु पर गांववालों को सबसे अधिक कष्ट है। हमें सबसे पहले इसी का समाधान खोज निकालना है।

मैंने कई वर्ष देहात में रहकर अनुभव किया है कि देहाती जनता के भीतर स्वाभिमान की भावना इतनी अधिक भरी हुई है कि वे बाहरी लोगों से हर प्रकार की बातें तो करेंगे, किन्तु जिन बातों का उन्हें कष्ट होगा, उन्हें हर प्रकार से गुप्त रखने का प्रयत्न करेंगे। वे यह सहन नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति उनके कष्टों को जानकर उन्हें किसी प्रकार से छोटा समझ ले। मैंने यह भी देखा है कि गाँवों में नीच कही जाने वाली जातियों के लोग अगर गांव में किसी भद्र पुरुष को देखते हैं, तो उनसे अपनी गरीबी के साधारण दुःखों का बयान करते हैं और छोटे-मोटे कष्टों को सुनाकर कुछ आर्थिक सुविधा भी प्राप्त कर लेते हैं। पर जिन बातों का उन्हें खास कष्ट है और जिनकी समस्या उनके सामने रात-दिन रहती है, उनका वे जिक्र तक नहीं करते। गांव की दशा पूर्ण रूप से न जानने वालों के लिए ग्राम-सेवा का काम कठिन हो जाता है, इसलिए ग्राम-सेवक को सबसे पहले ग्रामवासियों को तुच्छ समझने की भावना का मूलोच्छेदन कर उनके साथ ऐसे सहज और स्वाभाविक ढंग से मिलना होगा कि वे उन्हें अपने ही कुटुम्ब का एक व्यक्ति समझने लगें। यदि हम ऐसा नहीं करते, तो उनकी समस्याओं को समझ ही नहीं सकते, सेवा और सुधार तो बहुत दूर की बात है।

अतएव मुझ जैसे भद्र की भावना से पूर्ण और ग्रामीण समाज की सम्पूर्ण समस्याओं से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए उनके साथ काफी घनिष्ठता का व्यवहार हो जाने पर भी उनसे एक हो जाने की भावना लाना सम्भव न हो सका। मैं देहात में जाता था, देहातवालों को घर-द्वार साफ रखने की बात बताता था, और चरखा चलाने की बात खास तौर से किया करता था, किन्तु वे अधिकतर यही उत्तर देते थे कि हमारे घर की स्त्रियों को चरखा चलाने के लिए अवकाश ही नहीं मिल सकता।

ब्राह्मण और क्षत्रिय घरों की परदा-पद्धति के कारण स्त्रियों से हम सीधे किसी प्रकार की बात नहीं कर सकते थे, किन्तु कुर्मी आदि किसानों में स्त्रियों से बातचीत हो जाती थी। मैंने अनुभव किया कि ग्रामीण अर्थशास्त्र से सम्बद्ध बातों को गाँव की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और शीघ्र समझ जाती हैं। उस वक्त मेरे मन में आया कि हम यदि देहात की स्त्रियों में काम करें, तो गांधी जी के प्रोग्राम को बहुत शीघ्र पूरा कर सकते हैं। उन दिनों मैं इस बात का अनुमान न कर सका कि स्त्रियाँ क्या हमारी बातें पुरुषों की अपेक्षा जल्दी समझ लेती हैं। देहाती क्षेत्र में लम्बी अवधि तक काम करते-करते यह बात मेरी समझ में आने लगी कि पुरुष-जाति के लोग कभी-न-कभी किसी-न-किसी काम से शहर में आया जाया करते हैं और इस प्रकार शहरी और पश्चिमी सभ्यता के लोगों से उनका संसर्ग हुआ करता है, वे शहरी तथा पश्चिमी सभ्यता की निकृष्ट बातों को अधूरे और विकृत रूप में ग्रहण करते हैं। नतीजा यह होता है कि उनके हृदय में भारतीयता के स्थान पर एक निम्न प्रकार की शहरी सभ्यता टूटा-फूटा स्वरूप धारण कर लेती है। इधर हमारा प्रचार गांधीजी के सिद्धान्त के अनुसार ही हुआ करता है, जो ग्रामीण सभ्यता के बिलकुल अनुकूल होता है। इसी से गाँव की स्त्रियाँ उसे ठीक-ठीक समझ लेती हैं, क्योंकि वे नगर-निवासियों के अधिक संसर्ग में नहीं आतीं। सदियों की गरीबी की मार पड़ने पर भी उनके अंदर जो कुछ सभ्यता बाकी रह गयी है, वह प्राचीन भारत की ग्रामीण सभ्यता का अवशेष मात्र ही है और गाँधी जी उसी चीज का विकास करना चाहते हैं। इसलिए गांव की स्त्रियों की आत्मा का स्वर गाँधीजी के सिद्धान्त के साथ ठीक-ठीक मेल खा जाता है। यही कारण है कि वे हमारी बातें को जल्दी ग्रहण कर लेती हैं।

भेद भाव और मातृ-हृदय

सेंट्रल जेल, आगरा
२१-६-४१

सन् १९२३ के नवम्बर का महीना था, जाड़े का मौसम। इसी समय मैं टाण्डा पहुंचा। वहां आकर शुरू-शुरू में मुझे अपने रहने और खाने-पीने का प्रबन्ध करने में कठिनाई प्रतीत हुई। अकबरपुर से मैं कभी-कभी टाण्डा का बाजार किया करता था और शुरू-शुरू में चरखे का सूत बहुत मोटा होता था, तो यहां उसकी दरी भी बनवाता था। उस दिन जब मैं वहां पहुंचा, तो दरी बुनने वाला एक लड़का मेरे साथ रहकर दिनभर मेरे कमरे की सफाई करता रहा। शाम को सफाई पूरी हो जाने पर मैंने स्नान किया और लड़के से पूछा कि यहां खाने-पीने की कौन-कौन-सी चीजें मिलती हैं। कोई होटल है कि नहीं? उसने बताया कि पूरी-मिठाई के अलावा खाने-पीने की और कोई चीज नहीं मिल सकती। मैंने उससे पूछा कि "क्या तुम अपने घर से रोटी बनवाकर दे सकते हो? पर मैं किसी का जूठा नहीं खाता, इसलिए खाना सफाई से बनवाकर दोगे, तभी मैं खा सकूंगा।" वह मेरी बातें सुनकर आश्चर्य में डूब-सा गया और कहने लगा कि "आप हिन्दू होकर मेरे घर की रोटी कैसे खायेंगे?" मैंने कहा कि "हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग हैं क्या? दोनों ही तो मनुष्य हैं। यदि दोनों का खाना-पीना एक में हो जाय, तो मनुष्यता में कोई अन्तर नहीं आयेगा। आज दोनों के खान-पान एक-दूसरे से इसलिए अलग-अलग हैं कि दोनों ने अपने-अपने रस्म-रिवाज अलग-अलग कर रखे हैं और एक-दूसरे से घृणा करते हैं। हां, दोनों में थोड़ा सा अन्तर यह है कि तुम लोग जूठन से परहेज नहीं करते, लोटा-गिलास साफ करके नहीं रखते, किन्तु हम लोग इसका पूरा ध्यान रखते हैं। इसीलिए हमारा तुम्हारा खाना-पीना एक में नहीं होता, अन्यथा तुम्हारे छूने मात्र से कौन सी हानि हो सकती है?" मेरी ये बातें सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। फिर वह अपने घर चला गया और मैं टहलने निकल गया।

मैं घूमकर लौटा ही था कि वह लड़का मुझे बुलाने का आमंत्रण लेकर आ पहुंचा। उसका घर क्या था? टूटा-फूटा, छोटा सा घास-फूस का झोंपड़ी, जो मिट्टी की तीन-चार नीची दीवारों पर रखा हुआ था। उसी मुहल्ले में और दरीवालों के भी घर थे, लेकिन उनके घर कुछ अच्छे थे। उसके परिवार में एक छोटी बहन थी और मां थी। मैंने उससे कहा कि मैं खाना पकाने का स्थान देखना चाहता हूं। वह मुझे भीतर ले गया। घर में चारों ओर गन्दगी फैली हुई थी, कपड़े और बिस्तरे सभी गन्दे थे, लेकिन खाना पकाने का स्थान लिपा-पुता और स्वच्छ था। बरतन भी साफ दिखाई दिये। मुझे देखते ही उसकी मां, जो रोटी बना रही थी, हंसकर कहने लगी—"का भइया, तू सब समझते हौ कि हमरे सब बिल्कुल वाहियात गन्दगी कै खाना खाइत है? भइया, हमरे सब भी मनई होई, हमहू नीक बेकार समझित है।"

उस स्थान पर एक मचिया पड़ी थी। मैं उसी पर बैठकर उसकी मां से बातें करने लगा। वह लड़का भी वहीं चौखट पर बैठ गया। मैंने यह देख लिया था कि रसोई घर अभी-अभी थोड़े ही पहले लीपा गया था और बरतन भी अभी ही साफ किये हुए से हैं। यह सब स्वच्छता मेरे और उस लड़के के वार्तालाप तथा मेरे यहां आने के कारण ही सम्भव हो सकी है। साथ ही नजीर की मां का सफाई देना भी इसके लिए एक बहुत बड़े प्रमाण की बात थी। मैंने बैठे-ही-बैठे कहा—"क्यों भाई, मुझसे झूठ बोलने से क्या लाभ? मैंने अच्छी प्रकार समझ लिया कि यह सब तुमने अपने बेटे के कहने पर ही किया है।" पहले तो वह इन्कार करती रही, किन्तु बाद में उसने स्वीकार किया कि मेरे ही कारण उसने और उसकी लड़की ने लगभग एक घंटे तक परिश्रम करके सफाई की है। उसने यह भी कहा कि मुझे तो अब तक विश्वास ही नहीं हुआ था कि आप सचमुच मेरे यहां खाना खायेंगे। तत्पश्चात् उसने रोटियां बनायीं और बड़े प्रेम से मुझे खिलाना शुरू किया। इस भोजन में मुझे एक अपूर्व मातृभाव का आभास मिल रहा था। भारतीय स्त्रियों के हृदय में मातृभाव ने इस प्रकार घर कर लिया है कि उन्हें दूसरों के बच्चे भी अपने ही बच्चे जैसे प्रतीत होते हैं।

एक समय था, जब मैं स्वयं छोटे लोगों को अश्रद्धा की दृष्टि से देखता था, किन्तु आज उन्हीं छोटों के प्रति, जिन्हें चमक-दमक की सभ्यता प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला और जो सफेदपोश बने रहने के साधन से हीन हैं, अश्रद्धापूर्ण बातें सुनकर दिल को तकलीफ होने लगी। वह परिवर्तन मुझमें तभी सम्भव हुआ, जब मैंने गरीब और निम्न श्रेणी के लोगों को जानने की कोशिश की। वस्तुतः आज श्रेणी-श्रेणी में, जाति-जाति, धर्म-धर्म में जो झगड़ा चल रहा है, उसका एक प्रधान कारण यही है कि हम सब आज एक-दूसरे को जानने या समझने की कोशिश ही नहीं करते। □

कौन ऊंचा, कौन नीचा ?

सेंट्रल जेल आगरा
१०-७-४१

एक दिन देहात में घूमते हुए टाण्डा से १६ मील दूर हंसवर के पास एक गांव में पहुंचा। शाम हो चुकी थी, इसलिए मैंने सोचा कि इसी गांव में रात-भर के लिए टिक जाऊं। उस दिन से पहले मैं टाण्डा से इतनी दूर के गांव में कभी नहीं आया था। उसी गांव के एक आदमी से पूछा कि इस गांव में कौन लोग रहते हैं। जवाब मिला—"पचीस घर भल-मनई और बाकी सब चमार-सियार।" भलमनई का अर्थ था ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि उच्च श्रेणी के लोग। इसी एक वाक्य से तुम समझ सकती हो कि देहात के ये बड़े लोग छोटी जातियों को किस नजर से देखते हैं। खैर। मैंने कोशिश की, इन भलमनइयों में से किसी के घर टिक जाऊं, किन्तु मुझे टिकाने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ। मार्च का महीना था, इसलिए मैं निश्चिन्त होकर गांव के बाहर ही एक पक्के कुएं की जगत पर लेट गया। कहीं निकट में बाजार न होने के कारण उस रात खाना भी न खा सका। सन्ध्या रात्रि में परिणत हो चुकी थी, चांदनी निकल आयी थी, मुझे वह स्थान बहुत सुन्दर प्रतीत हुआ।

मैं करीब-करीब सो गया था, इतने में ही थोड़ी दूर पर आम के बाग से एक स्त्री ने पुकारा—"कुएं पर के है हो ?" मैं उस गांव से कुछ खीझ सा गया था, कुछ कर्कश स्वर से उत्तर दिया—"मनई होई मनई।" इतने में वह स्त्री नजदीक आ गयी और "कहां घर है ?" इत्यादि पूछने लगी। मैंने उसको सारा किस्सा कह सुनाया। सब हाल सुनकर वह बहुत दुःखी हुई और उस गांव के ठाकुरों को कोसने लगी और कहने लगी—"हमरे घर चल, सीधा-लकड़ी के इन्तजाम के देत हई, बनाव खा।" मैं सोलह-सत्रह मील चलकर देहात में प्रचार करते हुए वहां पहुंचा था। भूख बहुत जोर से लगी थी। मैं उस बहन के साथ उसके घर चला गया। वहां जाकर देखा कि उसका घर वास्तव में कोई घर नहीं था। केवल एक छोटी सी झोंपड़ी थी, जिसकी माप ६×१२ फुट थी। तीन हाथ ऊंची और एक फुट चौड़ी मिट्टी की दीवार किसी तरह सरपत और खर से ढंक दी गयी थी, किन्तु उसके भीतर चांद का प्रकाश छत से छन कर सम्पूर्ण घर में फैला हुआ था। छोटा-सा दरवाजा पटुए के डंठल और पलास के पत्तों के टट्टर से ढंका हुआ था। उसके आसपास कोई घर नहीं था। दरवाजे के सामने की जमीन काफी दूर तक लिपी हुई थी। उस पर एक बूढ़ा बैठकर तम्बाकू पी रहा था। थोड़ी दूर पर एक छोटी-सी लड़की एक छोटे से बच्चे के सिर पर घास और मिट्टी डाल रही थी और हंस रही थी। शायद वही उसके खेल की सामग्री थी।

मेरे पहुंचते ही उस बहन ने धान के पयाल का एक "बीड़ा" लाकर दिया और पूछने लगी—"लोटा-सोटा कुछ बाय ?" मेरे पास एक झोला था, किन्तु उसमें लोटा नहीं था। "लोटा नहीं है" यह सुनकर वह बहुत परेशान हुई और कुम्हार के घर से कुछ बरतन और हंडिया लाने के लिए रवाना हो गयी। मैं उसके इस व्यवहार से समझ गया कि वह किसी नीच जाति की है। और इसीलिए इतनी परेशान हो रही है। मैंने उसे पुकारकर कह दिया कि मुझे तुम्हारे बर्तन में खाना खाने में कोई भी झिझक नहीं है यह सुनकर उसे अपार प्रसन्नता हुई और वह दौड़-दौड़कर मेरे खाने-पीने का प्रबन्ध करने लगी। मैंने उससे यह भी कह दिया था कि मुझे तुम्हारे हाथ का पका हुआ भोजन करने में भी कोई एतराज नहीं है। उसकी तत्परता, प्रेम और सद्भावना

को देखकर मुझे प्रतीत होने
अपनी बहन के घर आ गया हूं

अब तक उस बुड्ढे ने कु
निश्चिन्त होकर इस तरह
मानों उसके दरवाजे पर कोई
इस प्रकार निश्चिन्तता मैंने
के लोगों में प्रायः देखी। उसके
आये या जाये, उसके प्रति वे
देते। हजारों वर्षों से समा
रहने के कारण उन्हें दुनिया
चस्पी ही नहीं रह गयी। ज
जलायी, तब उसने तम्बाकू
—"कौ रे, का बात है ?"
पड़ी और कहने लगी—"
नाहीं।" जब उस बुड्ढे पर
वह मेरे निमित्त खाना बन
सिर हिलाकर कहने लगा
होने दूंगा। "भला ठाकुर
बना दिहो तो कुल उच्छ
भूखा जानकर और मुझसे
स्त्री में जो प्रेम और उदा
हो उठी थी, उसने उसे
नहीं दिया कि मेरे एतर
एतराज करना चाहिए।

मैंने उस बुड्ढे को
की, किन्तु वह किसी त
अन्त में मैंने कहा कि य
कोई चिन्ता नहीं है, मैं
और सवेरे चला जाऊंग
होकर हमारी और उस
मेरी अन्तिम बात सुनक
बाबा, हमारे मोहारे प
हम तो बनाय के जरूर
बुड्ढे ने अत्यन्त अप्रसन्न
ओर फेर लिया और चि
की वह देवी खाना बन
"बीड़ा" उठाकर उसी
उससे उसकी अवस्था के

को देखकर मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं सचमुच अपनी बहन के घर आ गया हूं।

अब तक उस बुड्ढे ने कुछ नहीं कहा था और निश्चिन्त होकर इस तरह तम्बाकू पी रहा था, मानों उसके दरवाजे पर कोई नयी बात हुई ही नहीं इस प्रकार निश्चिन्तता मैंने देहात की मजदूर श्रेणी के लोगों में प्रायः देखी। उसके सामने से चाहे—कोई आये या जाये, उसके प्रति वे कोई विशेष ध्यान नहीं देते। हजारों वर्षों से समाज में दलित अवस्था में रहने के कारण उन्हें दुनिया के बारे में कोई दिलचस्पी ही नहीं रह गयी। जब उस बहन ने आग जलायी, तब उसने तम्बाकू पीते हुए पुकार कर पूछा —"कौ रे, का बात है ?" इस पर वह स्त्री हंस पड़ी और कहने लगी—"बूढ हवै गया, कुछ सूझत नाहीं।" जब उस बुड्ढे पर यह प्रकट हो गया कि वह मेरे निमित्त खाना बनाने जा रही है, तो वह सिर हिलाकर कहने लगा कि मैं ऐसी बात नहीं होने दूंगा। "भला ठाकुर लोगन के खबवा तुही सब बना दिहो तो कुल उच्छिन्न न होई जाई ?" मुझे भूखा जानकर और मुझसे बात करने के बाद उस स्त्री में जो प्रेम और उदारता की भावना जाग्रत हो उठी थी, उसने उसे यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि मेरे एतराज न करने पर भी उसे एतराज करना चाहिए।

मैंने उस बुड्ढे को समझाने की बहुत कोशिश की, किन्तु वह किसी तरह तैयार नहीं होता था। अन्त में मैंने कहा कि यदि नहीं खिलाओगे, तो भी कोई चिन्ता नहीं है, मैं रातभर यहीं सोया रहूंगा और सवेरे चला जाऊंगा। वह बहन अब तक खड़ी होकर हमारी और उस बुड्ढे की बातें सुन रही थी। मेरी अन्तिम बात सुनकर बोल उठी कि "रहे दो बाबा, हमारे मोहारे पर केहू भूखा नाहीं परा रहे, हम तो बनाय के जरूर खियाइब।" इस पर उस बुड्ढे ने अत्यन्त अप्रसन्न होकर अपना मुंह दूसरी ओर फेर लिया और फिर तम्बाकू पीने लगा। जंगल की वह देवी खाना बनाने लगी और मैं घास का "बीड़ा" उठाकर उसी तरफ जाकर बैठ गया और उससे उसकी अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगा।

उसकी जाति पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे लोग वनमानुष कहते हैं।

वनमानुष भी कोई जाति है, यह मुझे अब तक मालूम नहीं था। वे लोग गृहस्थों को डाक का पत्तल बनाकर दिया करते हैं और उसके बदले में जो कुछ अनाज मिल जाता है, उसी पर जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। उसके पास न घर था, न जमीन थी, एक छोटी-सी झोंपड़ी थी। जिस पर थोड़ा-सा सरपत और खर रखा हुआ था, जिससे बारिश की रोक नहीं हो सकती थी। किन्तु वर्षाकाल में क्या होगा, इसके लिए अभी से चिन्ता करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। वे ईसामसीह के इस उपदेश का कि "कल की चिंता न करो" पूरा-पूरा अमल करने-वाले प्रतीत होते थे। उस स्त्री की अवस्था देखने में लगभग २०-२२ वर्ष की मालूम होती थी। वह काफी स्वस्थ थी। बुड्ढा उसका बाप था और एक लड़का और एक लड़की उसकी सन्तान थे। उसका पति एक वर्ष पूर्व मर चुका था। इस जाति में दूसरा पति कर लेने का विधान होते हुए भी वह दूसरे के घर नहीं जाना चाहती थी। मेरे पूछने पर उसने उत्तर दिया—"भगवान् ने तकदीर बिगाड़ दी, तो भला हमारे जोड़ने से किस तरह जुड़ सकती है ?" फिर मैंने इस विषय पर उससे कोई भी बात नहीं की।

अगर तुम उस बहन को देखो, तो आश्चर्य में डूब जाओगी। अकथनीय अपार दरिद्रता से पिसते हुए और समाज के अत्याचार से दलित रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता, सर्वथा हंसमुख रहने की इतनी क्षमता, इतनी बुद्धि और इतना शिष्टाचार कहां से आया ? खाना खाने के पश्चात् मैं एक कमली बिछाकर लेट गया और सोचने लगा कि गांव के "भलमनई" अधिक ऊंचे हैं या "वनमानुष" ? साथ ही भारतीय स्त्री के हृदय की थाह लगाने की कोशिश करने लगा, तो मालूम हुआ कि वह अगम और अथाह है।

इस स्नेह और इनका प्रेम किसी जात-पांत का विचार नहीं रखता। संसार की कोई भी वस्तु नारी धर्म के रास्ते का रोड़ा नहीं हो सकती। यह है गन्दे;

फटे चीथड़े से लिपटी हुई हमारे भारत की ग्राम-वासिनी।

दूसरे दिन सवेरे उठकर उस बहन के प्रति महान् कृतज्ञता प्रकट करके और उसके बच्चों को प्यार करके मैं ठाण्डा वापस चला आया। चलते समय मैं उन्हें कुछ पैसा देना चाहता था, किन्तु उसने ऐसा जोरदार विरोध किया कि फिर कुछ कहने का मेरा साहस नहीं हुआ। आते समय केवल इतना ही कह सका कि "बहिनी, आज का दिन हम नाहीं भूलब।" उसने सिर नीचा करके जवाब दिया—"अइसन भाग हमार कब होइ सकत है।" पन्द्रह साल बाद १९३८ में जब मैं हंसवर गया था, तो मैंने उस बहन का पता लगाने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु शोक है कि उस बहन का कुछ भी पता न लग सका। उस दिन की घटना मुझे जीवन-पर्यन्त नहीं भूलेगी। □

गांधी जी की वसीयत

(गांधी जी ने अपनी हत्या के कुछ समय पूर्व लोक सेवक-संघ के विधान का मसौदा तैयार किया था। वे चाहते थे कि कांग्रेस देश की आजादी के बाद लोकसेवक-संघ का रूप ले ले। उसके सदस्य बनना चाहने वालों के लिए उन्होंने अन्य शर्तों के साथ नीचे की शर्तें रखी थीं।-सं)

१. हरएक सेवक अपने हाथों कते हुए सूत की या चरखा-संघ द्वारा प्रमाणित खादी हमेशा पहनने-वाला और नशीली चीजों से दूर रहनेवाला होना चाहिए। अगर वह हिन्दू है, तो उसे अपने में से और अपने परिवार में से हर किस्म की छुआछूत दूर करनी चाहिए और जातियों के बीच एकता के, सब धर्मों के प्रति समभाव के और जाति, धर्म या स्त्री-पुरुष के किसी भेदभाव के बिना सबके लिए समान अवसर और दर्जे के आदर्श में विश्वास रखने वाला होना चाहिये।

२. अपने कार्य क्षेत्र में उसे हर एक गांव वाले के निजी संसर्ग में रहना चाहिये।

३. गांववालों में से वह कार्यकर्ताओं को चुनेगा और उन्हें तालीम देगा। इन सबका वह रजिस्टर रखेगा।

४. वह अपने रोजाना के काम का रेकार्ड रखेगा।

५. वह गांवों को इस तरह संगठित करेगा कि वे अपनी खेती और गृह-उद्योगों द्वारा स्वयंपूर्ण और स्वावलम्बी बन जायें।

६. गांव वालों को वह सफाई और तन्दुरुस्ती की तालीम देगा और उनकी बीमारी व रोगों को रोकने के लिए सारे उपाय काम में लायेगा।

७. हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की नीति के मुताबिक नई तालीम के आधार पर वह गांव वालों की पैदा होने से लेकर मरने तक की सारी शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

हरिजनसेवक, २२-२-४८

दीनदयाल शोध संस्थान
रचना और प्रकल्प

ग्रामोदय प्रकल्प गोण्डा जिला (उ० प्र०)

१. ग्रामोदय प्रशिक्षण एवं शोध केन्द्र, जयप्रभा ग्राम
२. भूमिगत जल-संसाधन विकास एवं बहु-फसल प्रोत्साहन कार्यक्रम
३. ग्रामीण विपणन सेवा केन्द्र (सात ब्लाकों में)
४. बहुधन्धी व्यावसायिक प्रशिक्षण-केन्द्र, गोण्डा
५. गोण्डा और जयप्रभा-ग्राम में ग्रामीण युवकों के लिए स्वतः रोजगार प्रशिक्षण (टाइसेम) योजना
६. आदर्श विद्यालय-विकास प्रकल्प
७. पेयजल के हेतु कुंओं का जीर्णोद्धार
८. डेयरी विकास प्रकल्प
९. मुर्गी-पालन फार्म विकास प्रकल्प
१०. मत्स्य-पालन व प्रशिक्षण केन्द्र, जयप्रभा ग्राम
११. ब्लॉक स्तर पर अध्ययन व आयोजना इकाई
१२. बागवानी और वृक्षारोपण प्रकल्प
१३. अंत्योदय कार्यक्रम
१४. "काम-के लिए-भोजन" कार्यक्रम

मेडिकल मिशन प्रकल्प

१. प्राकृतिक विपदाओं के समय चिकित्सा सहायता कार्यक्रम
२. नेत्र-चिकित्सा शिविर कार्यक्रमों का दिल्ली और निकट के क्षेत्र में आयोजन
३. गोण्डा जिले में ग्रामीण नेत्र-चिकित्सा कार्यक्रम
४. सुन्दरगढ़ जिला (उड़ीसा) में ग्रामीण नेत्र-चिकित्सा कार्यक्रम
५. औषधि बैंक
६. स्वैच्छया रक्त-दान कार्यक्रम
७. चिकित्सा व परिवार-स्वास्थ्य शोध प्रकल्प
८. स्वास्थ्य शिक्षा कार्यक्रम
९. भारत के ग्रामीण-क्षेत्रों में परिवार-नियोजन की शिक्षा का प्रसार व निरोध वितरण की सामुदायिक व्यवस्था।
१०. स्वास्थ्य और परिवार नियोजन के लिए जानकारी, संचार व शैक्षिक इकाई प्रकल्प
११. दिल्ली की झुग्गी झोंपड़ी बस्तियों के लिए चल-चिकित्सालय (मोबाइल-वैन) कार्यक्रम
१२. चिकित्सा-सेवा दल विकास प्रकल्प

शैक्षणिक-विभाग

१. मंथन अंग्रेजी त्रैमासिक
२. मंथन हिन्दी मासिक
३. पुस्तकों और रिपोर्टों का प्रकाशन
४. समाज-विज्ञान शोध प्रकल्प
५. विचार गोष्ठियों, भाषणों व कार्यशालाओं का आयोजन
६. दीनदयाल विचार-मंच
७. पुस्तकालय

अन्य प्रकल्प

१. सर्वांगीण बाल-विकास प्रकल्प, नागपुर और बंगलौर
२. सर्वांगीण महिला-विकास प्रकल्प, लखनऊ
३. बाल जगत प्रकल्प, बम्बई
४. धान से खाद्य-तेल निकालने का प्रकल्प
५. दीनदयालपुरम् प्रकल्प, आंध्र प्रदेश
६. आसाम, मणिपुर, नागालैण्ड और अरुणांचल प्रदेश के १२ ब्लाकों में ग्रामीण-कारीगरों और विपणन सेवाओं के विकास के लिए अध्ययन प्रकल्प।

दीनदयाल शोध संस्थान

७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, नई दिल्ली-११००५५

हमारे प्रकाशन

		Rs.
1.	पं० दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति दर्शन सं० कमलकिशोर गोयनका	12.00
2.	तत्त्वविज्ञान (भारतीय तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान : तुलनात्मक अध्ययन) डा० हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	12.00
3.	गांधी, लोहिया और दीनदयाल सं० डा० हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	12.00
4.	एकात्म-दर्शन : पं० दीनदयाल उपाध्याय, गुरुजी और ठेंगड़ी जी	20.00
5.	हटाओ एमरजेंसी डा० एन० एम० घटाटे (सं०)	1.50
6.	पं० दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन डा० हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल	1.50
1.	**Industrial India : A Blueprint for Tomorrow** G.M. Laud (Ed.)	50.00
2.	**Indo-Soviet Treaty : Reactions and Reflections** Dr N.M. Ghatate (Ed.)	15.00
3.	**Pandit Deendayal Upadhyaya : A Profile** Sudhakar Raje (Ed.)	12.00
4.	**Peoples' Participation** K.K. Das (Ex Chief Seceretary, U.P. Govt.)	2.00
5.	**Sri Aurobindo's Message for Today** Prize Winning Essays	3.50
6.	**Land Reforms : An Economist's Approach** Dr S. Swamy	2.00
7.	**Destination—Nation's Tribute to Pandit Deendayal Upadhyaya** Sudhakar Raje (Ed.)	20.00
8.	**Gandhi, Lohia & Deendayal** P. Parameswaran (Ed.)	10.00
9.	**The Integral Approach** Paperback Pandit Deendayal Upadhyaya, Guruji & Thengdi Deluxe	5.00 22.00
10.	**The Indian Spirit** M.P. Pandit	12.00

मंथन

ES LTD

IDI IN

cetate/Nylon

Polyester

us

मेश्वरन् (निदेशक,
दिल्ली-११००३२



मेरा हृदय भावनाओं से इतना भरा हुआ है कि मैं उन्हें व्यक्त करने में असमर्थ हूं। जब तक लाखों व्यक्ति भूखे और अज्ञानी हैं, तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को कृतघ्न समझता हूं जो उनके बल पर शिक्षित बना है, पर उनकी ओर ध्यान तक नहीं देता। दुखियों के दुख का अनुभव करो और उनकी सहायता के लिए आगे बढो। भगवान तुम्हें सफलता देंगे ही। मैं अपने हृदय में इस वेदना को और मस्तिष्क में इस भार को लेकर बारह वर्ष तक भटकता रहा हूं। वेदना भरा हृदय लेकर और संसार का आधा भाग पार कर सहायता प्राप्त करने के लिए मैं इस देश (अमरीका) में आया हूं। ईश्वर महान है। मैं जानता हूं, वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस भूखण्ड में शीत से या भूख से भले ही मर जाऊं, पर हे तरुणों! मैं तुम्हारे लिए एक वसीयत छोड़ जाता हूं।

मेरे भावी सुधारकों! मेरे भावी देशभक्तों! हृदय से अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो कि देवों और ऋषियों के करोड़ों वंशज पशु-तुल्य बन गये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि करोड़ों देशवासी आज भूखों मर रहे हैं और युगों से मरते आ रहे हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि देश पर अज्ञान के काले बादल छाये हुए हैं? क्या इस अनुभूति ने तुम्हें बेचैन कर दिया है? क्या यह वेदना तुम्हारे रक्त में मिलकर तुम्हारी धमनियों में समा गयी है? तुम्हारे हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ एकरूप हो चुकी है? क्या इसने तुम्हें पागल सा बना डाला है? क्या सर्वनाश की इस व्यथा ने तुम्हें पूरी तरह झकझोर डाला है? क्या तुम अपने नाम, अपने यश, अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपनी धन-सम्पत्ति, यहां तक कि अपने शरीर को भी भूला बैठे हो?

याद रखो, यह वेदना, यह अनुभूति ही देश-भक्ति की पहली सीढ़ी है—सबसे पहली।

स्वामी विवेकानन्द

स्थान प्रदत्त

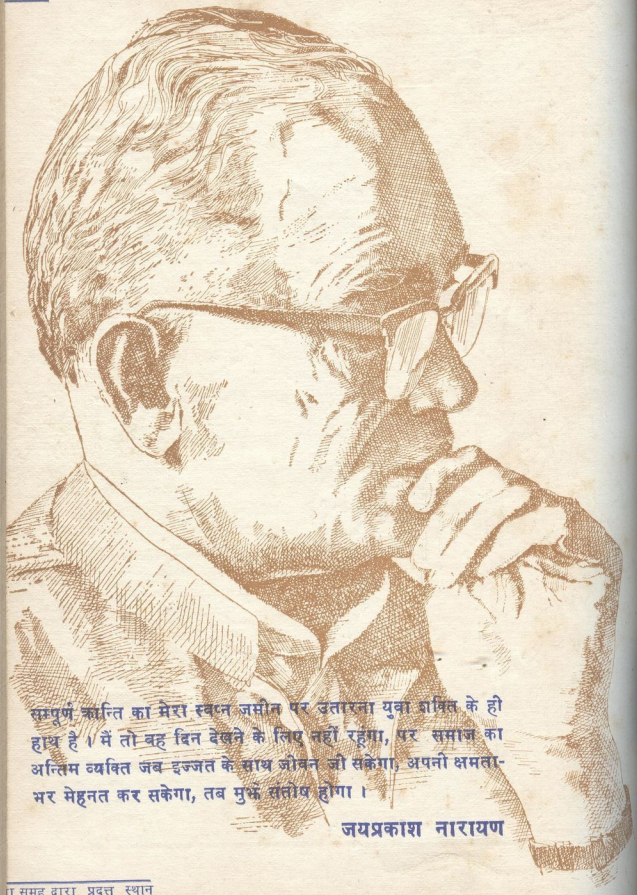

सम्पूर्ण क्रान्ति का मेरा स्वप्न जमीन पर उतारना युवा शक्ति के ही हाथ है। मैं तो वह दिन देखने के लिए नहीं रहूंगा, पर समाज का अन्तिम व्यक्ति जब इज्जत के साथ जीवन जी सकेगा, अपनी क्षमता-भर मेहनत कर सकेगा, तब मुझे संतोष होगा।

जयप्रकाश नारायण

ा समूह द्वारा प्रदत्त स्थान

ही नगरों के अस्तित्व को संभव
बीलों की श्रुत-संस्कृति में ज्ञान
री तरह घुलमिल जाता है। उनके
ही, केवल अनुभूतियां और संस्कार
हम पाषाण-फलकों पर लिखना
और लिपिकारों की श्रृंखला खड़ी
में "तथ्य" प्राप्त होते हैं कि कितने
ने मन्दिर-कलश आदि-आदि। तब
और शरीर से वियुक्त होकर
क्ति बनने लगता है।

भूदय में शक्ति का प्रदर्शन होता
न राजाओं की शक्ति के परिचायक
ास्तंभ सेनाओं की विजयों के स्मृति-
कबीली समाज को भंग करके
के उद्रेक को सम्भव बनाता है—
री दृष्टि में, अब बेलगाम होकर
क्त के लिए ऐसी संस्कृति और
जन्म दे रहा है, जिससे पृथ्वी के
खड़ा हो गया है।

क युगोत्तर संस्कृति को चाहे जिस
—चाहे इसका पोषण करने वाली
चाहे इसके सूचना-तन्त्रों के, चाहे
के— हमें यह स्पष्ट दिखायी देगा
म-विदु पर पहुंच चुकी है। युगान्त
जल्दी के कारण ही इसके ऊर्जा-
ा शहरी केन्द्रों में विशालता और
मान खतरनाक दृश्य खड़ा हो गया
तन्त्र पर ये केन्द्र निर्भर हैं, उसका
पूर्व ये अपना मार्ग बदल पायेंगे,
म्भावना दिखायी नहीं देती।

स्कृति

ोटी-छोटी सीमा चौकियों में—जैसे
स्काटलैंड अथवा कनाडा के प्रिंस
किसी नयी सुगबुगाहट के लक्षण प्रकट
गाहट में विद्यमान है एक अभिनव
-बिम्बों का एक नवीन आशापूर्ण
का पूर्वाभास। इसे "औद्योगिक

युगोत्तर" संस्कृति के स्थान पर 'परा-औद्योगिक संस्कृति' की ओर संक्रमण का शुभारम्भ कहा जा सकता है। यह संक्रमण है पूंजी प्रधान एवं अधिकाधिक ऊर्जा-भक्षी, विशालताप्रिय अर्थव्यवस्था की ओर से क्षेत्रानुसार विकेन्द्रित उत्पादन की श्रम-प्रधान व्यवस्था की ओर।

यदि साधन-स्रोत सीमित हैं, और यदि प्रत्येक धातु मूल्यवान है तो उनसे निर्मित वस्तुएं भी उत्कृष्ट होनी चाहियें। उत्पादित वस्तुओं को जल्दी से जल्दी प्रचलन से बाहर कर देने की वर्तमान मान्यता को त्याग कर हमें ऐसी अर्थ रचना को खड़ा करना होगा जिसमें विद्युत्चालित आरे का उत्पादन भी किसी कर्मशाला में यह सोचकर किया जायेगा कि वह सौ साल तक काम करता रहे। ऐसे औजारों का निर्माण करने के लिए हमें औद्योगिक श्रमिकों की सेना की नहीं, वरन् कल्पनाशील, एकाग्रचित्त कारीगरों से युक्त कर्मशाला की आवश्यकता है।

यह संक्रमण छोटे परिवार के स्थान पर पूरे समाज को आधारभूत उपभोक्ता इकाई बनाने की ओर है, खाद्यान्न-उत्पादन और उसके वितरण की सहकारी व्यवस्था की ओर है, एवं स्थानिक अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयोगी कलपुर्जों व प्रौद्योगिकी के समष्टीकरण की ओर है। तब हो सकता है कि हम जल्दी ही विद्युत्चालित दांत, बुश या चाकू से वंचित हो जायं किन्तु समृद्ध संस्कृति के उपकरण तब हमारे हाथ में होंगे।

वायु और सौर-ऊर्जा के क्षितिज

इस परा-औद्योगिक संस्कृति का ऊर्जा-भंडार जीवाश्म ईंधनों के बजाय वायु और सौर-ऊर्जा का प्रवाह होगा। इस प्रवाह में केन्द्र सर्वत्र है, पर परिधि कहीं नहीं है। जीवाश्म-ऊर्जा की संस्कृति तो वस्तुतः अतीत को खाकर जीवित है, डाइनोसौर की दुनिया को खाती है। किन्तु सौर-ऊर्जा की संस्कृति का आधार प्रकाश है। कोयले की खान और तेलकूपों के भूगर्भ-जगत को छोड़कर वायु-प्रवाह और सौर प्रकाश के खुले आकाश में आने से सामूहिक अवचेतन के शिल्प में भी मौलिक परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है।

इस गर्भस्थ भविष्य का और अधिक गहन व विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि कुछ "भविष्यवादियों" ने इससे भिन्न कल्पना प्रस्तुत की है। यह विद्वद्वर्ग, जिसके प्रतिनिधि-उदाहरण के रूप में हर्मन काहन का नाम लिया जा सकता है, विश्व के वर्तमान औद्योगिक-तन्त्र के अधिकाधिक विस्तार के अलावा किसी अन्य कल्पना को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि वे अपनी गणना में सौर ऊर्जा को कभी कोई स्थान देते हैं, तो वे तुरन्त अन्तरिक्ष में विशालकाय सौर-संग्राहकों अथवा न्यू मैक्सिको में विशाल सौर-फार्मों की स्थापना का या प्रोमीथियन प्रयास के द्वारा सूर्य की शक्तिशाविक का ताप संगलन में अपहरण कर लेने का सपना देखने लगते हैं।

भविष्य दर्शन नामक कोई विज्ञान-शाखा नहीं है। भविष्य-विवेचन का अर्थ इतना ही है कि जब अन्य सब लोग वर्तमान को अतीत के परिप्रेक्ष्य में देख रहे हों, तो वर्तमान में अन्तर्निहित संभावनाओं का विचार करना। वर्तमान को देखना और उसका यथावत् वर्णन करना भविष्यवाणी करना नहीं है, बल्कि दर्शन, सम्वेदन, चिन्तन और मनन करना मात्र हुआ। ये चारों क्रियायें अन्तःप्रज्ञा के भीतर एक साथ विद्यमान हैं। इस अन्तःप्रज्ञा के सहारे, मैं हरमन काहन के इस कथन से असहमत हूं कि वर्तमान बहुमुखी सम्भावनायें उस इक्कीसवीं शती की ओर इंगित कर रही हैं जिसमें बीस अरब पृथ्वी-वासियों में से प्रत्येक मजे से बीस हजार डालर प्रति वर्ष व्यय कर रहा होगा।

आधुनिक संस्कृति का रूपान्तरण

वर्तमान संस्कृति का रूपान्तरण करने की दिशा में चार आद्य शक्तियां आज क्रियाशील हैं। उनमें से प्रथम है राष्ट्रों का जागतीकरण। इसका साक्षात्कार सर्वप्रथम फ्रेंच दार्शनिक तेलहार्ड द चर्दिन ने १९४० के दशक में किया था। अणुबम सम्बन्धी अपने निबन्ध में चर्दिन ने लिखा था कि विभिन्न

पूना
१३ नवंबर १९४५

त कल तो कर नहीं सकते
कर सकेंगे। समय-समय
इधर-उधर जाने की रहे
र भाग जाऊं। ऐसी मेरी
ा हूं कि हम एक-दूसरे को
रा मार्ग ही अलग है तो
से यह समझा हूं कि हम
स तरह से समझा हूं वह

और नैतिक शक्ति कैसे

मौका होना चाहिए।

ा होनी चाहिए। इसलिए
तो यह स्थिति पैदा करने
ना चाहिए और ऐसे ही

में रहने के लिए पैदा हुआ
के यूनिट एक काल्पनिक
रे पर अवलंबन तो होना
न जाता है।

जो खत मैंने तुमको पहले
इसकी अंग्रेजी भी करवा
ता हूं। एक तो मैं अपना
मैं तुम्हारी बात पूरी-पूरी

बापू के आशीर्वाद

समाज-रचना की आधारशिलाः ग्राम-पंचायत



□ मा० स० गोलवलकर

पुराने समय से हमारी रचना ग्राम-पंचायतों पर निर्भर रही है। ये पंचायतें ही आगे बढ़कर राजा की अष्टप्रधान-समिति के रूप में योग्य सलाह देने का कार्य करती रही हैं। ये पंचायतें भी उद्योग-धन्धों पर ही आधारित थीं। पुराने जमाने में, आज जैसा बहुत उलझा हुआ जीवन नहीं रहता था। सादा जीवन था। उनमें चार प्रमुख उद्योग स्वीकार कर लिये गये थे। एक कार्य माना गया उनका, जो विचार करने, पढ़ने-पढ़ाने और धर्म-प्रचार वगैरह करने वाले थे। दूसरे राज्य की रक्षा करने का दायित्व पूर्ण करने वाले थे। तीसरे व्यापारी और चौथे में खेती-बाड़ी जैसे अन्य कार्य करने वाले लोग आ गये। पांचवां कार्य उनका माना गया जो वनों और पहाड़ों पर निर्भर तथा शिकार आदि पर जीवनयापन करते थे। इस प्रकार इन चार वर्णों के चार प्रतिनिधि और पांचवां जिसे हमारे यहां निषाद कहा गया है ऐसे पांचों को मिलाकर समाज का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे।

वैसे कहने को आज भी पंचायत राज्य की बातें की जाती हैं, परन्तु लक्ष्य ठीक न होने के कारण उसकी रचना में गड़बड़ी हो गई है। यहां तक कि अपने देश के बड़े पुराने नेता ने मुझे एक बार कहा था कि पंचायत राज्य बनाने की जो बातें चल रही हैं वे तो बड़ी "पंचाईत" पैदा करने वाली हैं। वे बोले कि देखो, पुरानी बातें छोड़ दो। आजकल गुटबाजी और उसके आधार पर झगड़ेबाजी चारों ओर चली है। गांवों में भी यह जोरों पर है। इस स्थिति में गांव में जो नामी गुन्डे हैं वे पंच बनकर चुने जावेंगे। सबको मारपीट कर, डरा-धमकाकर, वे पंचायत में आ धमकेंगे। इस प्रकार यह हमारे लिये बड़ी "पंचाईत" गांव-गांव में खड़ी हो जावेगी। उनके इस कथन में कितनी सच्चाई है यह अनुभव करने की बात है। फिर भी इस दोष को निकालकर प्रयोग करने की आवश्यकता है। जो अच्छे और सद्भावना-सम्पन्न व्यक्ति हैं, जिन्हें सबके प्रति प्रेम है, ऐसे व्यक्तियों को अपने-अपने काम-धन्धों के प्रतिनिधि बनकर एकत्रित होना और उनके अनुभवों के आधार पर प्राप्त निर्णयों से शासन चलाना योग्य होगा। गांव का नियंत्रण और रक्षा हो सकेगी। इस प्रयोग को सफल कर इसकी क्षेत्र-मर्यादा बढ़ाई जा सकती है। सम्पूर्ण देश की व्यवस्था के लिए इस प्रकार की नींव लाभदायी सिद्ध होगी। इस नींव को मजबूत बनाने के अनुरूप ही चुनाव-तंत्र स्वीकार किया जाय, संविधान भी इस आधार पर बने। पूरी तरह प्रयत्न हो तो सकता है कि राज्यव्यवस्था में कुछ अधिक सुसूत्रता, सभी लोगों की आवश्यकताओं को पहिचानकर आपस का अधिकाधिक सामंजस्य स्थापित करने का विचार प्रबल हो सकेगा। एक बात पक्की है कि ऐसा प्रयोग अवश्य करने लायक है। यद्यपि प्रयोग कोई भी हो, पूर्ण कदापि नहीं होता। इसलिये विचार ऐसा ही करना पड़ता है कि जो अधिकाधिक लाभदायी और कम से कम हानिकारक हो, वही किया जाय।

□



विचारधारा, प्रौद्योगिकी और विकेन्द्रीकरण

□ दीनदयाल उपाध्याय

पिछली कुछ शताब्दियों के आर्थिक चिंतन और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था का यह परिणाम हुआ है कि हाड़-मांस का वास्तविक मानव हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। हम उसके व्यक्तित्व का तनिक भी विचार नहीं करते। पूंजीवादी अर्थशास्त्र मनुष्य को एक अर्थ-लोलुप प्राणी मानकर चलता है। उसके सभी निर्णय, लाभ-हानि-गणनात्मक आर्थिक दृष्टिकोण से होते हैं। ऐसे अर्थशास्त्री की दृष्टि, उपभोक्ता के नाते भी मानव की आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं की ओर नहीं, उनकी जेब पर, अर्थात् क्रयशक्ति पर रहती है। भूखे निर्धन की अपेक्षा पेट भरे धनवान की ही वहां चिन्ता की जाती है। फलतः जहां संपन्न की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नानाविध वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, वहां साधनहीन के लिये जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं का भी अभाव बढ़ जाता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था पूंजीवाद के विरोध में आयी, किन्तु वह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं दे पायी। उसने पूंजी का स्वामित्व राज्य के हाथ में देकर संतोष कर लिया। ···पूंजीवाद और समाजवाद, इन दोनों ही व्यवस्थाओं में मानव के सही एवं पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी,अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मात्स्यन्याय-प्रवण प्राणी माना गया है, तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास मात्र, अकिंचन और अनास्थामय माना गया है। शक्तियों का केंद्रीकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलतः दोनों का परिणाम अमानवीयकरण में हो रहा है।

भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही संभव है। ये कुछ छोटी-मोटी बातें हैं जिनका विचार कर हमें अर्थ-रचना करनी होगी। आज की परिस्थिति में यदि किन्हीं दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी अर्थव्यवस्था की दिशा के परिवर्तन को बताना हो तो वे हैं—विकेन्द्रीकरण और स्वदेशी।

प्रौद्योगिकी तथा विकेन्द्रीकरण

पाश्चात्य वृहदाकार प्रौद्योगिकी और विकेंद्रीकरण एक साथ नहीं चल सकते। बहुत से लोग विकेन्द्रीकरण की अर्थ केवल (उत्पादन-साधनों का) प्रादेशिक वितरण करते हैं। वे विकेन्द्रीकरण के नाम पर बंबई और अहमदाबाद के कारखानों को ग्रामों में प्रस्थापित करके संतोष कर लेंगे।

समाजवादी राजनीतिक शक्ति का बंटवारा करके ही संतुष्ट हो जायेंगे और गांव-जिला-प्रान्त और केन्द्र के चौखंभे राज्य के ऊपर ही उनका समाजवाद मानो लहलहा उठेगा। किन्तु इस

कृषि-विकास, बिना मशीनीकरण के

□ दीनदयाल उपाध्याय

द्विविध कार्यक्रम

कृषि-विकास का कार्यक्रम दो प्रकार का हो सकता है (१) प्राविधिक (technical) तथा (२) संस्थागत (institutional)। पहिले कार्यक्रम का सम्बन्ध खेती की पद्धति से है। किन साधनों का तथा किस मात्रा में उपयोग किया जाय इसका विचार करना होगा। दूसरे में हमें भूधृति के नियमों में सुधार करना होगा, तथा कृषि के लिए आवश्यक साधनों को जुटाने तथा वितरण की व्यवस्था के लिए संस्थायें बनानी होंगी। हमें इस दृष्टि से एक समन्वित एवं सुनियोजित (in egrated) कार्यक्रम हाथ में लेना होगा। कृषि ही नहीं, उद्योग-धन्धों का भी इसके साथ विचार करना चाहिए।

खेती की पद्धति में सुधार

जहां तक खेती की पद्धति का सम्बन्ध है भारत के किसान ने परिस्थितियों के अनुरूप उपयुक्त पद्धति का विकास किया है। युगों से चली आई पद्धतियों को आज की उन प्रक्रियाओं के पक्ष में, जिन पर न तो पूरे-पूरे प्रयोग हुए हैं और न भारत की समसमान अवस्थाओं में उन प्रयोगों को किया गया है, एका-एक नहीं छोड़ देना चाहिए। भारत का किसान फसलों की अदल-बदल कर की गई बुवाई, हरी खाद का प्रयोग, मलमूत्र के खाद को पका कर उपयोग करना, भूक्षरण रोकने के लिए मेंड़ बांधना तथा वृक्ष लगाना आदि अनेक विधियों को भली भांति जानता है। उसने युगों से भूमि की उर्वरता को बनाये रखा है। हां पिछले दिनों में विभिन्न कारणों से वह अपने ज्ञान का पूरा उपयोग नहीं कर पाया।

अदेवमातृका कृषि

भारत की कृषि मुख्यतया इन्द्रदेव की कृपा पर निर्भर करती है। वर्षा का चार्ट ही भारत के किसान का काडियोग्राफ है। यद्यपि यहां वर्षा के महीने निश्चित हैं फिर भी कहां, कब और कितनी वर्षा होगी इसके सम्बन्ध में निश्चित बताना कठिन है और यदि ज्ञान भी हो जाय तो उसके अभाव की पूर्ति तथा आधिक्य का निराकरण करना कठिन है। अतः प्रारम्भ से ही हमारे भारतीय शासन का यह ध्येय रहा है कि वह सिचाई की योग्य व्यवस्था करे। कृषि को "अदेवमातृका" बनाने का शास्त्रों का आदेश है।

छोटी योजनायें

यद्यपि भारत ने अमेरिका की नकल करके सिचाई के लिए बड़े-बड़े बांध बनाने का कार्यक्रम हाथ में लिया है किन्तु सर्वतोमुखी दृष्टि से विचार किया जाय तो हमारे लिए छोटे-छोटे सिचाई के साधन ही अधिक उपयोगी हैं।

बड़े बांधों की योजनायें पूंजी-प्रधान हैं। भाखड़ा-नांगल, दामोदर घाटी परियोजना और हीराकुंड इन तीनों को लें तो उनके अनुमान बराबर बढ़ते जा रहे हैं। दूसरी ओर इनसे खाद्योत्पादन में भी छोटी योजनाओं की तुलना में कम लाभ हुआ है जैसा कि निम्न तालिका से विदित होगा—

बड़ी योजनाओं की सबसे बड़ी खराबी यह है कि वे थोड़े दिनों में भूमिगत जल की ऊंचाई बढ़ाकर खेतों और आबादी को नुकसान पहुंचा देती है। भूमि के क्षार भी तल पर आ जाते हैं जिससे भूमि बंजर, अनुपजाऊ हो जाती है। पीने का पानी भी अस्वास्थ्य कर हो जाता है। पानी के बहाव के प्राकृतिक मार्ग में बाधा डालकर तथा जमीन को सोखने की शक्ति को नष्ट करके वह थोड़ी सी वर्षा में भी आसपास के क्षेत्रों में बाढ़ की स्थिति पैदा कर देती है। पंजाब के भटिण्डा, फिरोजपुर, अमृतसर, गुरुदासपुर आदि तथा उत्तर-प्रदेश के मुजफ्फरनगर, मिर्जापुर और गाजीपुर जिलों में सेम (water logging) की समस्या विषम होती जा रही है। कुछ क्षेत्रों में पम्प लगाकर पानी को फिर से नहरों में डाला जा रहा है। नहरों की तलें कांक्रीट की बनायी जायं यह भी

de
sband

Supercook serves you 3 ways — as a tandoor, oven and toaster. It cooks elicious tandoori dishes like tandoori rotis, chicken, mutton tikkas... it bakes cakes, puddings, stuffed vegetables... and it toasts 4-5 bread slices at a time!
76
COOK
IDOOR
new way to cook tandoori dishes.
Delhi Tel: 516038, 516039